ललितविस्तर

सांस्कृतिक और दार्शनिक सर्वेक्षण

ललितविस्तर ❀ डॉ० श्रीमती शारदा गांधी

ललितविस्तर
दार्शनिक और सांस्कृतिक सर्वेक्षण

ललितविस्तर

दार्शनिक और सांस्कृतिक सर्वेक्षण

लेखिका
डा० श्रीमती शारदा गांधी
एम०ए० (संस्कृत), एम०ए० (पंजाबी), पी-एच०डी०



परिमल पब्लिकेशन्स
दिल्ली

प्रकाशक :
परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८, शक्तिनगर
दिल्ली-११०००७
दूरभाष : ७१२७२०६

प्रथम संस्करण : १९९२

मूल्य : ३००.००

मुद्रक :
अमर कम्पोजिंग एजेन्सी, कबीर नगर, शाहदरा, दिल्ली-११००९४

आमुख

फेडरल रिपब्लिक पश्चिम जर्मनी, गोटिंघन विश्वविद्यालय के बुद्धिस्ट स्टडीज और इंडालाजी सेमिनार विभाग में कार्य करने से पूर्व मैंने एक लेख ललितविस्तर पर लिखा था, जो पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला से प्रकाशित 'देशी ते विदेशी साहित' पत्रिका में छपा था। उस समय मेरा मन ललितविस्तर पर कार्य करने का था, तभी पश्चिमी जर्मनी गोटिंघन में मैंने १९७२-१९७३ में एक गवेषणात्मक शोधपत्र प्रस्तुत किया था और वहाँ के वरिष्ठ अध्यापक डा० प्रोफेसर हाइन्ज बैशर्ट एवं गुस्तव रौथ के प्रोत्साहन ने मेरा वह इरादा संकल्प के रूप में बदल दिया और मैंने ललितविस्तर पर कार्य करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। मैंने इस कृति का सर्वपक्षीय आलोचनात्मक अनुशीलन अनिवार्य समझा। "ललितविस्तर का दार्शनिक और सांस्कृतिक सर्वेक्षण" इस विषय पर अभी तक देशी या विदेशी भाषाओं में किसी भी विद्वान् ने कोई आलोचनात्मक संस्करण प्रस्तुत नहीं किया है। साहित्यिक मूल्याङ्कन का भी यहाँ प्रथम बार प्रयास किया गया है यद्यपि ललितविस्तर के छन्दों पर S. Lefmann (जर्मन विद्वान्) ने काफी समय पूर्व कुछ लिखा था। इस पुस्तक को सम्पूर्ण रूप से तैयार करने से पूर्व मैंने भी रस, अलंकार, संस्कृति, छन्द आदि पर कुछ लेख लिखे हैं।

यद्यपि किसी प्रकार का दावा नहीं किया जा सकता है तथ्यों का विश्लेषण करते समय मैंने वैज्ञानिक दृष्टि अपनाने का प्रयास किया है। प्राच्यविद्या तथा बौद्धविद्या का साहित्य विशाल है, अथाह है, मेरा ज्ञान सीमित है। इस पुस्तक में जो ग्राह्य है वह विद्वानों और गुरुजनों की कृपा का प्रसाद है और जो अग्राह्य है उसे लेखिका का दृष्टि-दोष समझा जाये।

आज विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली के अनुग्रह से यह कार्य पूरा हो सका है। सर्वप्रथम मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली के पदाधिकारियों के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ, जिनकी कृपा से यह कार्य पूर्ण हो सका है। साथ ही पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला (पंजाब) के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन करती हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक के पूर्ण होने में सहयोग प्रदान

किया है। इनके साथ ही कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र, दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली, लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ दिल्ली, बम्बई विश्वविद्यालय बम्बई, रायल एशियाटिक सोसाइटी बम्बई, जम्मू विश्वविद्यालय जम्मू-कश्मीर आदि के पुस्तकालयाध्यक्षों के प्रति नतमस्तक हूँ जिनके सहयोग से यह कार्य संपन्न हुआ है। जिन भी विद्वानों अथवा दार्शनिकों से इस कृति को तैयार करने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायता प्राप्त हुई है उनकी मैं हृदय से आभारी हूँ तथा उनका आशीर्वाद और प्रसाद वांछनीय है।

मेरठ निवासी, डा० श्रीनिवास शास्त्री, भूतपूर्व दयानन्द प्रोफेसर, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र, तथा डा० प्रोफेसर, व्रजमोहन चतुर्वेदी, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली और डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी के प्रति कृतज्ञता प्रकाशन भी मैं अपना कर्त्तव्य समझती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर मूल्यवान सुझाव देकर मेरा उपकार किया है। डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी की सहायता से विशेष रूप से पुस्तक का कार्य संपूर्ण हो सका है। मेरे पतिदेव डा० प्रोफेसर रामप्रकाश गांधी, रसायन-विभाग, इंडियन इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नालाजी, न्यू दिल्ली एवं अपनी प्रिय पुत्री शेफालिका को धन्यवाद देना अति-आवश्यक है, जिनकी सतत् प्रेरणा और सहिष्णुता से इस पुस्तक का लेखन-कार्य संपूर्ण हो सका है। मैं अपने भ्राताओं उनके बच्चों और परिवार के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरे आलेखों को पढ़कर मेरा उत्साह बढ़ाया।

जनवरी, १९९२

डा० श्रीमती शारदा गांधी
रीडर
संस्कृत विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

आवासधाम
२६०९, सेक्टर डी०-२ बसंतकुंज
नई दिल्ली

भूमिका

ललितविस्तर सिद्धार्थ गौतम बुद्ध के जीवन की विविध घटनाओं का संग्रह ही नहीं है अपितु इस ग्रन्थ में भारतीय संस्कृति और दर्शन के तत्त्वों पर गहन प्रकाश पड़ा है। यद्यपि दर्शन भी संस्कृति के ही अन्तर्गत आ जाता है तथापि 'गोवलीवर्दन्याय' से "ललितविस्तर दार्शनिक और सांस्कृतिक सर्वेक्षण" इस पुस्तक में इसका पृथग् गृहण किया गया है। संस्कृति के अन्तर्गत धर्म और दर्शन सभी का अन्तर्भाव हो जाता है।

दर्शन से यहाँ आत्मा, परमात्मा, प्रकृति और प्रकृति से मोक्ष-निर्वाण आदि इन सभी से अभिप्राय है। अतः पुनर्जन्म और कर्म के विषय में भी यहाँ विवेचन किया गया है। बुद्ध ने कर्म, कर्मफल आदि का विवेचन किया है और मोक्ष के विषय में भी उनसे प्रार्थना करते हुए देवतागण कहते हैं[1] 'हे अनुपम वीर ! क्लेशों के संताप से सब ओर से जलते हुए तथा बाहर निकलने की राह न पाते हुए, दृढ़ बन्धनों द्वारा बँधे लोगों को शीघ्र शान्त एवं उत्तम मोक्ष के मार्ग पर स्थापित करो। तुम धातुओं (रोग निवारक धातुओं के भैषज्य निर्माण) में कुशल वैद्य हो। चिरकाल से पीड़ित रोगों की छूत से छुतियाए प्राणियों को धर्मरूपी भैषज्यों के योगों से शीघ्र निर्वाण के सुख में स्थापित करो।'

इसी प्रकार बौद्ध दर्शन का अनात्मवाद प्रसिद्ध है किन्तु बुद्ध के शिष्यों में से कुछ ने 'आत्मवाद' का भी उपदेश दिया था, जैसा कि आत्मवादी दर्शनों में उनका 'भारवाहसूत्र' प्रसिद्ध है। उद्योतकर ने यह कहते हुए कि आत्मा नहीं है ऐसा मानने वाला बौद्ध अपने सिद्धान्त के विरुद्ध जाता है, भारवाह सम्बन्धी सूत्र को उद्धृत किया है उसका अभिप्राय है—'हे भिक्षुओ ! तुम्हें यह उपदेश

---

१. आदीप्त क्लेशतापैः अग्निः सरणैर्गाढबन्धनैर्बद्धां।
शीघ्रं प्रमोक्षमार्गे स्थापय शान्ते असमवीरा॥
त्वं वैद्य धातुकुशलश्चिरातुरां सत्त्व रोगसंस्पृष्टां।
भैषज्यधर्मयोगैर्निर्वाणसुखे स्थपय शीघ्रं॥

—ल०वि०, (शास्त्री) श्लोक ५३५-५३६

दूंगा कि भार क्या है और भारवाही कौन है ? रूपादि पाँच स्कन्ध ही भार हैं और पुद्गल (आत्मस्थानीय द्रव्य) ही भारवाही है, जो यह कहता है कि आत्मा नहीं है, वह मिथ्यादृष्टि वाला है ।[1] किन्तु ललितविस्तर में बुद्ध ने अनात्मवाद का भी उपदेश दिया है ।[2] इसी प्रकार अन्य भी दर्शन के तत्त्व स्थान-स्थान पर प्रकट हुए हैं, जिनका दर्शन विषयक अध्याय में विशद विवेचन किया गया है ।

सिद्धार्थ बुद्ध के समय की राज्यसत्ता और सामाजिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उद्भूत दार्शनिक क्रान्ति रामधारीसिंह दिनकर के शब्दों में स्मरणीय है ।[3] यही कारण है कि दिनकर ने आध्यात्मिकता को भारतीय संस्कृति का केन्द्रबिन्दु कहा है ।

---

१. बौद्धों के दो सम्प्रदाय (वात्सीपुत्रीय तथा सम्मितीय) ऐसे भी हैं जो पुद्गलवाद को स्वीकार करते हैं—'केचित् सौगतंमन्या अप्यातमानं प्रचक्षते ।' बोधिचर्यावतारपञ्जिका, पृ० ४५६ । 'भारं वो भिक्षवो देशयिष्यामि भारहारं च, भारः पञ्चस्कन्धा भारहारश्च पुद्गल इति' इति यश्चात्मा नास्तीति स मिथ्यादृष्टिको भवति ।' —न्या०वा०, पृ० ३३९
डा० श्रीनिवास शास्त्री, 'वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन का विवेचन' १९६८, पृ० २२७

२. जातीनिदान जराव्याधिदुखानि भोन्ति, उपपत्तिनैक विविधाभवपञ्जरेऽस्मिन् एवमेष सर्व इति प्रत्ययतो जगस्य, न च आतम पुद्गल न संक्रमकोऽस्तिकश्चि ॥ —ल०वि०, (शास्त्री) श्लोक १४५७

३. 'स्त्री-सेवन और विलासिता के प्रचलन का एक कारण मनोवैज्ञानिक भी माना जाना चाहिये । साकारोपासना की अति से पीड़ित समाज निराकार की ओर चलता है और निराकारोपासना से क्लान्त समाज साकार की खोज करता है । इसी प्रकार, भोग की अतिशयता से ऊबा हुआ समाज त्याग को समझना चाहता है और त्याग के अति-सेवन से पीड़ित मनुष्य भोग की ओर जाना चाहता है । वैदिक सभ्यता, अन्त में भोगवादी हो गई थी; अतएव उपनिषदों ने त्याग का सन्देश सुनाया । जैन और बौद्ध मत इस त्याग को खींचकर बहुत दूर तक ले गये । मध्यम-मार्ग पर आरूढ़ रहने में क्षण-क्षण जिस सतर्कता की आवश्यकता होती है, वह लोगों में नहीं रही । समाज, त्याग के शुष्क भावों से विरत होने लगा और समाज की इसी विरति से हारकर बौद्ध एवं जैन धर्मों ने हिन्दुत्व के साकारवादी अंशों को अपने भीतर पचाना आरम्भ किया । महायान बौद्ध धर्म की इस चिन्ता का परिणाम था कि जिस प्रवृत्ति ने हीनयान अथवा श्रावकयान

पर महायान को तरजीह दी, उसी ने उस मार्ग को भी प्रशस्त किया, जिस मार्ग पर चलते हुए बौद्ध धर्म के पेट से पहले मंत्रयान, फिर वज्रयान और अन्त में सहजयान प्रकट हुए।'

—संस्कृति के चार अध्याय, पृ० २३०-२३१

जैसा कि ग्रन्थकार ने स्वयं संकेत किया है, यह ग्रन्थ महायान बौद्ध सम्प्रदाय में महावस्तु की शैली पर लिखा गया एक ग्रन्थ है, जिसमें तथागत बोधिसत्त्व के बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए अवतरित भव की लीला का वर्णन किया है। इस सम्प्रदाय में तथागत बोधिसत्त्व को लीला पुरुष माना गया है। परम्परा के अनुसार सम्बोधि प्राप्त करने वाले चरमभविक बोधिसत्त्व की लीलाएँ सुनिश्चित हैं। उनके कुल, जन्म, शैशव की लीलाएँ, अलौकिक प्रतिभा, मार और उसके परिवार के साथ संघर्ष तथा मार पर विजय प्राप्त करके, सम्यक् संबोधि द्वारा निर्वाण अधिगत करके, धर्मचक्र-प्रवर्त्तन तक के क्रियाकलाप सुनिश्चित हैं ऐसा परम्परागत ग्रन्थों महावस्तु आदि में स्वीकार किया गया है। इसीलिए ग्रन्थकार स्थान-स्थान पर संकेत करता है कि भव में बोधिसत्त्व क्या व्यवहार करते हैं। स्वयं तथागत भी यहां यह सोचते हुए, विचार करते हुए वर्णित किये गये हैं कि 'भव में पूर्व बोधिसत्त्वों ने क्या और कैसा व्यवहार किया था, वे भी वैसा ही करें।' इस प्रकार उनका चरित पूर्वतः सुनिश्चित होने पर भी उसे सर्वसामान्य न कहकर अलोक-सामान्य-चरित ही कहा जा सकता है, क्योंकि उनका अनुकरण देवों और मनुष्यों द्वारा नहीं हो पाता, इसी अलोक-सामान्य-चरित का वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में हुआ है। इस प्रसंग में Bays Gwendolyn का मत स्मरणीय है वे बुद्ध को लोक-सामान्य, सामान्य मानव स्वीकार करते हैं, जिसने अपनी मानवीय साधना से, बुद्धत्व प्राप्त करके लोक को एक जीवन-आलोक प्रदान किया था। इस प्रसंग में उनके ग्रन्थ की प्रस्तावना की पंक्तियां द्रष्टव्य हैं।[1]

---

1. Yet this is only part of the story, for the Buddha is not a divine messenger or an incarnation; came to earth to offer guidance. Instead, the Enlightened one is himself a human being who has attained the perfection of his human qualities, through the teaching of Pratītyasamutpāda, which reveals the truths that govern the arising and passing away of all things, he demonstrates that nothing is ultimately beyond our understanding. By teaching that the realm of the Enlightenment is inseparable from our

Contd.

किन्तु ललितविस्तर की दृष्टि इससे सर्वथा भिन्न है और जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस ग्रन्थ के कुलशुद्धि-परिवर्त्त, जन्म-परिवर्त्त आदि अधिकांश परिवर्त्तों में भव में विद्यमान पूर्वबोधिसत्त्वों के चरित, परिस्थिति, व्यवहार आदि सभी की आवृत्ति अथवा आवृत्ति के लिए यहां प्रयास दिखाई पड़ता है, जो तथागत बोधिसत्त्व को भी भविक मानते हुए, उनकी लौकिकता को प्रमाणित करता है।[1]

मैं सिद्धार्थ बुद्ध के ललितविस्तर में वर्णित जीवनचरित को 'चरमभविक' या 'लौकिक' मानती हूं। मेरा पुनर्जन्म में विश्वास है। ऐसे महापुरुषों का जन्म पुनः-पुनः इस धरती पर होना चाहिए। इस चम्पूकाव्य की सबसे बड़ी उपलब्धि सर्वार्थसिद्ध बुद्ध का जन्म है। ऐसे महापुरुषों का जन्म 'सर्व-सर्वत्र-सर्वदा' इस धरती पर अपेक्षित है। बुद्ध ने 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' 'धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन' किया है। कथावस्तु के विवेचन के प्रसंग में मैंने स्पष्ट किया है कि अलौकिक तत्त्वों को महापुरुषों के जीवन-चरित के साथ जोड़ने की प्रवृत्ति प्रायः कवियों में पाई जाती है। इस प्रसंग में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का कथन उल्लेखनीय है[2]—'एक-एक राजा के चरित्र को देखिए तो लेखकों की कल्पना और भी बढ़ी हुई मालूम होती है। एक भी राजा ऐसा नहीं है जिसके चरित्र में अतिरंजना और अनैतिहासिकता न आ गई हो। सगर, भगीरथ, पुरुरवा, दिलीप, दशरथ, राम, भरत सबके चरित्र अतिमानुषी हैं···'

सामान्यतः किसी प्राचीन ग्रन्थ के विशिष्ट अध्ययन के क्रम में दार्शनिक अध्ययन, सांस्कृतिक अध्ययन और साहित्यिक मूल्यांङ्कन आदि शैलियां प्रचलित हैं। बौद्ध दर्शन और संस्कृति विषयक प्रस्तुत ग्रन्थ एक मौलिक प्रयास कहा जा सकता है। कतिपय तथ्यों पर नवीन प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया

---

own being, he sets us on the path that leads in the end to our also becoming Buddhas, through his continuing presence, he holds open the door of liberation for all sentient beings, fulfilling with unending joy the vow that guides, his conduct throughout all time and space. The Voice of the Buddha, the Beauty of Compassion, Vol. I Introduction, pp. xxii.

१. ल० वि०, (शास्त्री) श्लोक १०, १३
वही, (वैद्य) पृ० १६-१७
वही, (शास्त्री) श्लोक ३१७

२. इतिहास-दर्शन, पृ० २१

है। इस ग्रन्थ में बिखरी हुई बौद्ध-दर्शन, संस्कृति और साहित्यिक समीक्षा सम्बन्धी सामग्री को संकलित और वर्गीकृत करके व्यवस्थित एवं सुश्लिष्ट रूप-रेखा प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आधुनिक विवेचकों के ग्रन्थों को भी देखा है।

अनेकों बाधाओं के होने पर भी आधुनिक बौद्ध-दर्शन सम्बन्धी विवेचनों के अध्ययन से प्रस्तुत ग्रन्थ का अध्ययन बोधगम्य हो गया और लेखन-कार्य सुगम हो गया। उदाहरणार्थ सत्करी मुखर्जी, एस० एन० दासगुप्ता, राधाकृष्णन, बलदेव उपाध्याय, राहुल सांस्कृत्यायन, आचार्य नरेन्द्रदेव, टी० आर० वी० मूर्ति, डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, डा० श्रीनिवास शास्त्री, डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी आदि। सांस्कृतिक अध्ययन के क्षेत्र में डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, डा० रामधारीसिंह दिनकर, भगवद्शरण उपाध्याय, बी० एन० लूनिया, जयशंकर मिश्र, कैलाशचन्द्र जैन आदि के आदर्श को सामने रखकर विश्लेषण किया है और निष्कर्ष दिये हैं। साहित्यिक समीक्षा के परिप्रेक्ष्य में वाल्मीकि, कालिदास, मम्मट, आनन्दवर्धन, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ, डा० प्रोफेसर रेवाप्रसाद द्विवेदी, डा० प्रोफेसर ब्रजमोहन चतुर्वेदी, डा० श्रीनिवास शास्त्री इत्यादि के ग्रन्थों से सहायता ली है।

ललितविस्तर के विविध संस्करणों और अनुवादों में पी० एल० वैद्य और शान्तिभिक्षु शास्त्री के संस्करणों से सन्दर्भ और उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। मैंने राजेन्द्रलाल मित्रा, एस० लेफमान, बेस गोविलडन के संस्करणों पर भी दृष्टि डाली है।

"ललितविस्तर दार्शनिक और सांस्कृतिक सर्वेक्षण" नामक ग्रन्थ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है जिसका प्रतिपाद्य विषय चार अध्यायों में विभक्त है।

सर्वप्रथम प्रथम अध्याय में 'ललितविस्तर' का बौद्ध साहित्य में स्थान पर विचार करते हुए, अन्य प्रामाणिक बौद्ध-संस्कृत-ग्रन्थों के साथ, उनके सम्बन्ध की अतिसंक्षिप्त चर्चा करने के अनन्तर, उसके प्राचीन संस्करणों और अनुवादों तथा मूलग्रन्थ के वर्ण्य-विषय एवं उसकी प्रामाणिकता पर संक्षेप में विचार किया गया है। इसी क्रम में मूलग्रन्थ की विषय-वस्तु को संक्षेपतः उपस्थापित करने का प्रयत्न किया है, जिससे पाठक को ग्रन्थ के स्वरूप की संक्षिप्त जानकारी हो सके।

जिस प्रकार वैदिक यज्ञ-याग आदि के ग्रन्थों में अर्थवाद का निबन्धन होता है, उसी प्रकार धार्मिक सम्प्रदायों में, जहां किसी देवविशेष की भक्ति आवश्यक मानी गयी है, उस देव विशेष के गुणों के वर्णन में, उसके प्रभावों का विवरण देने के लिए, उस देवता विशेष के चमत्कारों का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया जाता है। प्रस्तुत ग्रन्थ ललितविस्तर महायान परम्परा का एक मान्य ग्रन्थ है और महायान परम्परा में बुद्ध को एक आराध्य देव के रूप में स्वीकार किया गया है, अतः यह स्वाभाविक है कि इस ग्रन्थ में उनके चमत्कारों का विवरण भी स्थान-स्थान पर दिया जाए, और ऐसा हुआ भी है। किन्तु मैंने चमत्कारों का समग्र विवरण देना आवश्यक नहीं समझा, अतः उनकी ओर संकेत किया है, विस्तार से वर्णन नहीं।

निमित्त अर्थात् शकुनों की योजना महायान बौद्ध सम्प्रदाय एवं जैन परम्परा के ग्रन्थों में बहुतायत से हुई है। वैदिक धर्म के अन्तर्गत ज्योतिष के परवर्ती ग्रन्थों तथा समाज में किसी भी धर्म के कार्य में प्रवृत्त होने पर सफलता और असफलता को सूचित करने वाले निमित्तों की चर्चा पर्याप्त-मात्रा में मिलती है। इनका विवरण यद्यपि सांस्कृतिक अध्ययन के क्रम में किया जाना चाहिए, किन्तु मूलग्रन्थ में इनकी ओर संकेत प्रायः चमत्कारों के साथ हुआ है, अतः मैंने भी इनकी चर्चा चमत्कारों के साथ ही की है।

द्वितीय अध्याय में दार्शनिक तत्त्वों में मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति के लिए की जाने वाली साधना को यद्यपि धर्म के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाना चाहिए, किन्तु बौद्ध-दर्शन में सम्बोधि अर्थात् तत्त्वज्ञान को मोक्ष प्राप्ति अथवा निर्वाण-प्राप्ति का उपाय माना गया है तथा तत्त्वज्ञान और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास दर्शन के क्षेत्र का विषय है, अतः मोक्ष-प्राप्ति या निर्वाण के लिए सम्बोधि के अंग के रूप में अपेक्षित सभी विषयों का समावेश भी दार्शनिक अध्ययन के क्रम में ही होना चाहिए। अतएव श्रद्धा, प्रसाद, अधिमुक्ति, परि-पृच्छा, कुशल धर्म का अनुसंधान, अनुस्मृति, दान, दम, संयम, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान, सिद्धि और समाधि का वर्णन भी दार्शनिक अध्ययन के प्रकरण में करना मुझे अभीष्ट है। मोक्ष या निर्वाण के साधन के उपायों में ही ललित-विस्तर में आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि का तथा समाधि के अनेक प्रकारों का विवरण भी इसी अध्ययन के प्रसंग में किया है।

बौद्ध दर्शन में मुख्यतः महायान सम्प्रदाय के ग्रन्थों में दस पारमिताओं का विवरण प्राप्त होता है। ललितविस्तर में भी इन पारमिताओं की विस्तार पूर्वक

चर्चा हुई है परन्तु महायान परम्परा में केवल दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान एवं प्रज्ञा इन छः पारमिताओं की ही स्वीकृति है अतः मैंने भी इन पारमिताओं के वर्णन के साथ-साथ अष्टाङ्गिक मार्ग, शील, समाधि, प्रज्ञा आदि को प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है ।

पारमिताओं के समान ही बौद्ध-दर्शन में चालिस कर्मस्थान भी स्वीकार किये गये हैं, जिनमें दस कसिण, दस अशुभ, दस अनुस्मृति, चार ब्रह्मविहार, चार आरूप्य एक संज्ञा एवं एक व्यवस्थान है । ब्रह्मविहार का इनमें सर्वाधिक महत्त्व है और ललितविस्तर में इन ब्रह्मविहारों की कई बार चर्चा हुई है, अतः इनकी चर्चा भी प्रस्तुत ग्रन्थ में की गयी है । अभिधम्मपिटक में एक सौ आठ धर्मालोकमुखों की इस प्रकार क्रमबद्ध रूप में चर्चा नहीं है जिस प्रकार ललितविस्तर में है अतः प्रसंगतः इनका विवेचन भी संक्षेपतः इस अध्ययन में प्रस्तुत किया है ।

ललितविस्तर के नायक तथागत बोधिसत्त्व का सम्पूर्ण प्रयास सम्यक्-सम्बोधि-प्राप्ति के लिए रहा है, यहाँ इस सम्बोधि की स्थिति का विवरण भी विस्तारपूर्वक प्राप्त होता है और इसी क्रम में प्रतीत्यसमुत्पाद की चर्चा भी हुई है । प्रस्तुत ग्रन्थ में भी इन दोनों विषयों का विवरण इसी प्रसंग में उपस्थित करके, यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि इनका बोध होने के अनन्तर ही कोई निर्वाणार्थी समस्त दुःखों से निवृत्त होकर निर्वाण को प्राप्त कर पाता है ।

इसी क्रम में धार्मिक अनुष्ठान, व्रत, तपस्या और उसकी सहचारी साधनाओं पर भी चर्चा की गई है । ब्राह्मण एवं बौद्ध दोनों ही धर्मों में भिक्षा का विशेष महत्त्व है । उस समय भिक्षा के प्रति गृहस्थ जनों की क्या भावना थी, भिक्षु के प्रति उनका क्या व्यवहार था, इसका विवरण भी प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है ।

तृतीय अध्याय में सांस्कृतिक तत्त्वों पर प्रकाश डाला गया है । भारत के सभी दार्शनिक सम्प्रदाय केवल कोरे तर्कजाल पर प्रतिष्ठित वाग्विलास अथवा बुद्धि का व्यायाम नहीं रहे हैं । दार्शनिक चिन्तन के साथ ही उन चिन्तकों का अथवा उनके अनुयायियों का एक विशेष आचार रहा है ! जिसे धर्म के नाम से अभिहित किया जाता है । धर्म क्या है ? धर्म का स्वरूप क्या है ? धर्म-आचरण के पीछे भावना क्या है ? इन प्रश्नों पर विचार करना भी मैंने

आवश्यक समझा है और उस पर ललितविस्तर के अनुसार सांस्कृतिक अध्ययन में धर्म के स्वरूप उसके अंग तथा धर्ममुख आदि पर विचार किया है। इसी क्रम में कर्म, कर्माशय, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, धार्मिक स्थल, चैत्य और देवालय आदि का भी कुछ विवरणात्मक संकेत देने का प्रयास किया है।

कुछ शब्द ऐसे हैं जो बौद्ध और जैन दर्शनों में सामान्य रूप से प्रयुक्त हुए हैं जैसे सम्यक्, आस्रव, पुद्‌गल आदि। यहाँ इनके भावार्थ में कुछ परिवर्तन होना सम्भव है। इससे ऐसा भी परिणाम निकाला जा सकता है कि ललित-विस्तर की रचना से पूर्व ही जैन दर्शन में इन शब्दों का प्रयोग होता रहा था। इस प्रकार ये शब्द किसी ऐतिहासिक तथ्य का निर्देश कर सकते हैं किन्तु वस्तु-तथ्य क्या है ? यह कुछ नहीं कहा जा सकता।[1]

सांस्कृतिक अध्ययन के क्षेत्र में ललितविस्तर में राजसत्ता की चर्चा करते हुए, राजा के स्वरूप, कर्त्तव्य, राजा-प्रजा के सम्बन्ध, शासन व्यवस्था, उत्तम राजकुल की पहचान, राजकुल के स्त्री-पुरुषों के गुण-अवगुण, राजा के चिह्न, अनुव्यंजन, राज्यासन, उठने, बैठने, सोने आदि के समय उपयोग में आने वाले पदार्थों का विवरण, प्रसाधन-सामग्री, राजाओं की यात्रायें, उनमें प्रयुक्त होने वाले रथ, अश्व आदि के वर्णन, यात्रापथ, राजप्रासाद, राजकीय शिष्टाचार, राजकोष, राजचिह्न, राज्याभिषेक की विधि, मांगलिक कार्य, स्वस्तिवाचन, सम्मान प्रक्रिया आदि का वर्णन करके, राजा-महाराजा, भिक्षु और सर्वासाधारण के वस्त्र-आभूषण और वेशभूषा, व्यवसाय उद्योग-धन्धे, व्यापार-वाणिज्य, ग्रामीण-जीवन, कृषि, सिंचाई, यातायात के साधन, वन, पर्वत, षोडश जनपद, शाक्य, क्रोड (कोलिय), उरुविल्वा, गया, अणाल, रोहितपुर, काशी, वाराणसी, कपिलवस्तु, आदि की श्रीसमृद्धि और सुभिक्ष आदि का वर्णन किया गया है। शिक्षा-व्यवस्था, शिक्षा के विषय, लोक-कलाएँ, शिल्प, औपचारिक एवं अनौप-चारिक दोनों प्रकार की शिक्षायें, स्त्रियों की शिक्षा, परदा-प्रथा का निषेध आदि का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

साहित्यिक अध्ययन के लिए प्राचीन काल से अनेक मानदण्ड प्रचलित रहे हैं। जिनकी अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि और औचित्य सम्प्रदाय के रूप में विशेष रूप से प्रतिष्ठा है। बौद्धधर्म के प्रचार के उद्देश्य से अश्वघोष, नागा-नन्द नाटककार हर्षदेव तथा क्षेमेन्द्र आदि कवियों ने कथ्य उपदेश को महत्त्व देते

---

१. ऐसे शब्दों के प्रयोग से कुछ मनीषी कहते हैं कि जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन से पहले विद्यमान था।

हुए, समीक्षा के क्रम में कथावस्तु को भी महत्त्व दिया । आधुनिक कविता की समीक्षा के मानदण्डों में उपयोगितावाद और व्यवहारवाद को सर्वाधिक महत्त्व दिया जा रहा है । नवीं शती के पूर्व ही आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा मानकर, रसध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि के साथ वस्तुध्वनि को भी ध्वनि का एक प्रकार मानकर, इन सभी समीक्षा के मानदण्डों को एकत्र समाहित करने का प्रयास किया था । इन्हें ही आधार बनाकर मैंने ललितविस्तर की साहित्यिक समीक्षा की है । इस चम्पूकाव्य की कथा 'प्रख्यात' है कवि ने शान्तरस को अंगी रस माना है अतः इस काव्य में अलौकिक तत्त्वों के होने पर भी, ऐतिहासिक सत्यों की रक्षा करते हुए, रस और कथावस्तु में औचित्य स्थापित करने का प्रयास किया है । पात्र मानवीय और अमानवीय दो प्रकार के हैं उनमें कुछ ऐतिहासिक हैं और कुछ काल्पनिक तथा कुछ पौराणिक । सिद्धार्थ बुद्ध के प्रत्येक कार्य में दैवी शक्तियाँ सहायक हैं । यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि सिद्धार्थ बुद्ध के पुत्र राहुल का जन्म इतिहास प्रसिद्ध है और यह घटना बुद्ध के सम्बोधि-प्राप्ति, निर्वाण की उपलब्धि तथा धर्मचक्र-प्रवर्त्तन से पूर्व घटित हुई, उसकी चर्चा कवि ने नहीं की है । संभव है ललितविस्तर के दूसरे संस्करणों में राहुल की उत्पत्ति और उनके प्रसव का वर्णन हो । प्रकृति चित्रण, रसयोजना; अलंकार आदि का वर्णन आलोच्य ग्रन्थ की सम्यक् समीक्षा को आधार बनाकर किया गया है ।

काव्य की गद्य और पद्य इन दो विधाओं की विभाजक-रेखा छन्दोयोजना होती है । छन्दोयोजना से युक्त काव्य को आचार्यों ने मुक्तककाव्य, खण्डकाव्य, महाकाव्य, गीतिकाव्य, आदि नामों से अलग-अलग काव्य का प्रकार स्वीकार किया है । छन्दोयोजना से रहित काव्य को गद्यकाव्य कहा जाता है तथा कथा और आख्यायिका ये उसके दो प्रकार प्रचलित रहे हैं । प्राचीन आचार्यों ने उस रचना को चम्पूकाव्य नाम दिया है जिसमें गद्य और पद्य दोनों शैलियों का समुचित प्रयोग हो । इस प्रकार छन्दोयोजना प्राचीनकाल से काव्य-प्रकारों की निर्धारक-रेखा बनी रही है । विश्व के प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में भी छन्दों का सर्वत्र प्रयोग हुआ है । यजुर्वेद के कुछ मंत्रों को भले ही प्राचीन आचार्यों ने यजुष् अर्थात् गद्यमय कहा है किन्तु पिङ्गलनाग आचार्य ने उन मन्त्रों में भी किसी न किसी छन्द की कल्पना आनिवार्यतः स्वीकार की है । प्राचीनकाल से ही साहित्य(काव्य) के क्षेत्र में छन्दों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है । ललितविस्तर के कवि ने छन्दों के प्रचुर प्रयोग में वैविध्य और बाहुल्य का परिचय दिया है अतः साहित्यिक अध्ययन के क्षेत्र में मैंने ललितविस्तर में छन्दोयोजन पर सम्यक् विचार किया

है। जहाँ तक भाषा-शैली का प्रश्न है गद्यभाग की विषयवस्तु प्रायः पद्य-भाग में पुनरावृत्त हुई है। प्रस्तुत पुस्तक के चतुर्थ अध्याय में ललितविस्तर की उपलब्धियों पर विचार किया गया है। सबसे अन्त में पुस्तक-सूची दी गई है।

मुझे विश्वास है कि मेरा यह अध्ययन और लेखनकार्य सर्वाङ्गपूर्ण न भी हो तो भी व्यापक अध्ययन होगा और अध्येताओं तथा शोधार्थियों के लिए प्रशस्त-पथ प्रदर्शित करने वाला एवं उपयोगी सिद्ध होगा।

विषय-सूची

संक्षेप-निदेशिका

अथर्व०	अथर्ववेद
अष्टा०	अष्टाध्यायी
उप०	उपनिषद
ऋक्०	ऋग्वेद
का०प्र०	काव्यप्रकाश
का०	कारिका
दश०	दशरूपक
ध्वन्या०	ध्वन्यालोक
ना०शा०	नाट्यशास्त्र
नि०क०	निदानकथा
न्या०सू०	न्यायसूत्र
परि०	परिवर्त्त
पिङ्गल	पिङ्गलनाग
यो०सू०	योगसूत्र, व्यासभाष्य
ल०वि०	ललितविस्तर (वैद्य)
ल०वि०	ललितविस्तर (शास्त्री)
वै०सू०	वैशेषिकसूत्र
वृ० रत्नाकर	वृत्तरत्नाकर
समु०	समुल्लास
सा०द०	साहित्यदर्पण
सां०सू०	सांख्यसूत्र
DPP Names Vol. I, II	Dictionary of Pāli Proper Names Volume I, II
वि०वि०	विश्वविद्यालय

प्रथम अध्याय

ललितविस्तर का परिचय

ललितविस्तर का बौद्ध-संस्कृत-साहित्य में स्थान

भारतीय धर्म से सम्बन्धित वाङ्मय में जो स्थान रामायण एवं श्रीमद्-भागवत का है बौद्ध साहित्य में वही स्थान ललितविस्तर का है। इस ग्रन्थ में सर्वार्थसिद्ध, तथागत बोधिसत्त्व (सिद्धार्थ) के जीवन का ललित वर्णन है। बुद्ध के जीवन का विवरण हमें सर्वप्रथम महावग्ग में प्राप्त होता है, महावस्तु एवं ललितविस्तर में इसका ही विस्तार हुआ है। बौद्ध साहित्य परम्परा में ऐसे ग्रन्थों को वैपुल्य-सूत्र के नाम से जाना जाता है। ये ग्रन्थ महायान साहित्य में सबसे अधिक आदर के साथ पढ़े जाते हैं। इस प्रकार के नौ ग्रन्थों में अष्ट-साहस्रिका प्रज्ञापारमिता, ललितविस्तर, सद्धर्मपुण्डरीक, लंकावतार, सुवर्ण-प्रभास, गण्डव्यूह, तथागत गुह्यक, समाधिराज, दशभूमिक या दशमीश्वर सम्मिलित हैं। नेपाल में इन्हें नवधर्म अथवा धर्मपर्याय के नाम से स्मरण किया जाता है। जिस प्रकार भारतीय धर्म में पुरुषोत्तम राम और पुरुषोत्तम कृष्ण के जीवन-चरित को लीला कहा जाता है उसी प्रकार बौद्ध-धर्म की परम्परा में सर्वार्थसिद्ध (सिद्धार्थ) बुद्ध के जीवन चरित को भी उनकी लीला अथवा क्रीड़ा मानकर, उनके इस ग्रन्थ को ललितविस्तर संज्ञा दी गयी है, ग्रन्थकार ने इसे स्वयं महानिदान एवं वैपुल्य-सूत्र कहा है।

'इदं मुने रागनिसूदनार्थं, वैपुल्यसूत्रं हि महानिदानम्'[1]
'तद् भिक्षवो मे शृणुतेह सर्वे, वैपुल्यसूत्रं हि महानिदानम्'[2]

इसके साथ ही लेखक ने इसे धर्मपर्याय माना है 'अस्ति भगवान् ललित-विस्तरो नाम धर्मपर्यायः सूत्रान्तो महावैपुल्यनियमो बोधिसत्त्वकुशलमूल सद्भावनः'।[3] ललितविस्तर मे इस ग्रन्थ को अनेकों बार धर्मपर्याय के नाम से स्मरण किया गया है।[4] इस ग्रन्थ को धर्मपर्याय कहने का कारण यह है कि इसमें बोधिसत्त्व की कुशलमूल सद्भावना का वर्णन है। ग्रन्थकार का विश्वास

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १०
२. ल० वि० श्लोक १३
३. वही, गद्यभाग पृ० ३, पं० २३, २४
४. वही, गद्यभाग पृ० ३ पं० २३, पृ० ४ पं० २५, २६ पृ० ७ पं० १, पृ० ३१७ पं० ३, ११, १८, २७ इत्यादि।

है कि यह ग्रन्थ जरा-मरण से छुड़ाने वाला है इसीलिए लेखक ने इसे महायान भी कहा है 'परं महायानमिदं प्रभाषयन् ।'[1]

इस ग्रन्थ की रचना कब हुई, यह कहना कठिन है किन्तु इस ग्रन्थ से यह निश्चित जानकारी मिलती है कि इस ग्रन्थ की विषयवस्तु परम्परा से अन्यन्त प्राचीन है, इसका कथन सभी तथागतों ने पहले किया था—

'पद्भाषितं सर्वतथागतैः प्राक्'[2] । इस ग्रन्थ का रचयिता कौन है अथवा इसकी रचना कब हुई इस सम्बन्ध में सभी इतिहासकार मौन हैं किन्तु इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि, पालित्रिपिटक के महावग्ग में वर्णित तथागत बोधिसत्त्व के जीवन का सर्वप्रथम विस्तार महावस्तु और ललितविस्तर में हुआ है। उनके जीवनचरित का वर्णन ही महावस्तु एवं ललितविस्तर का मुख्य उद्देश्य है । इसीलिए इन्हें अवदान भी कहा जाता है । किन्तु ललितविस्तर में जीवनचरित का जो व्यवस्थित रूप हमें प्राप्त है, वह महावस्तु में नहीं है । यह कथा पालिनिदानकथा,[3] महावस्तु और ललितविस्तर में विकसित हुई है । आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार महावस्तु का पद्यमय भाग ललितविस्तर से प्राचीन है ।[4]

बौद्धधर्म की महायानशाखा के ग्रन्थ संस्कृत में हैं । थेरवाद या हीनयान के सभी ग्रन्थ पालि-भाषा में हैं। ललितविस्तर सङ्कर या मिश्रित संस्कृत में हैं।

ललितविस्तर के सम्बन्ध में यह सम्भावना की जाती है कि यह हीनयान (थेरवाद) शाखा के किसी प्राचीन मूलग्रन्थ का रूपान्तर हो सकता है । सर्वास्तिवादियों के अनुसार प्रारम्भ में यह बोधिसत्त्व के चरित का वर्णन करने वाला ग्रन्थ रहा है किन्तु समय-समय पर उसमें जो परिवर्तन एवं परिवर्धन हुए हैं, उससे यह ग्रन्थ महायान शाखा के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों में अन्यतम हो गया है। यह ग्रन्थ चम्पूशैली में चम्पू-काव्य कहलाता है अर्थात् प्रधान रूप से यह गद्य-काव्य के रूप में है किन्तु मध्य-मध्य में गाथाएं गूंथ दी गई हैं। कथा-भाग प्रायः गद्यमय है और पद्य-भाग वर्णन प्रधान है ।

यद्यपि इस ग्रन्थ का संवाद-शैली प्रधान महत्त्वपूर्ण भाग, जिसमें मार, उसके सेनापति तथा उसके पुत्र-पुत्रियों के बोधिसत्त्व के साथ संवाद गाथाओं में उपनिबद्ध हैं । गाथाओं में अनेक गाथाएं सुन्दर ग्राम्यगीत के रूप में मानी जा

१. ल०वि०, श्लोक ११,

२. वही श्लोक १३

३. तिवारी, महेश 'निदानकथा' चौखम्बा, दिल्ली, वाराणसी, १९७०

४. आचार्य नरेन्द्रदेव 'बौद्ध-धर्म दर्शन', पृ० १३०

सकती हैं इस प्रकार की गाथाओं का भाव सुत्तनिपात की गाथाओं के समान अति-प्राचीन है । बोधिसत्त्व का जन्म, असितमुनि के आगम की कथा, बिम्बसार की सर्वार्थसिद्ध (सिद्धार्थ) बोधिसत्त्व के पास उपसंक्रमण की कथा, मार और बोधिसत्त्व के वार्तालाप की गाथाएं इसी कोटि की हैं । यह गाथाएं बुद्ध के कुछ शताब्दी बाद की तथा अन्यन्त प्राचीन होनी चाहिए। इसी प्रकार धर्मचक्रप्रवर्त्तन से सम्बन्धित गाथाएं भी अतिशय प्राचीन कही जा सकती हैं । इतना निश्चय ही कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ की रचना कई शताब्दियों में हुई है ।

गद्य और पद्य भाग की रचना के सम्बन्ध में कालभेद स्वीकार करने का मुख्य आधार भाषा को ही माना जा सकता है । इसके साथ ही ललितविस्तर के सम्पादक पी० एल० वैद्य यह भी स्वीकार करते हैं कि गाथामय प्राचीन भाग में नवरचित गद्यभाग के मिश्रण के समय बहुत सम्भव है दोनों की भाषा में कुछ परिवर्त्तन भी हुआ हो । इसके साथ ही वे यह भी मानते हैं कि उस काल के लेखकों की लेखन-शैली की यह एक सामान्य प्रवृत्ति थी कि वे गद्य और पद्य की मिश्रित शैली में लिखते थे, जिससे कि वह भाग स्मरण-योग्य हो सके, क्योंकि पद्य को स्मरण करने में सुविधा हुआ करती है ।[1]

गाथाओं की भाषा के सम्बन्ध में बहुधा यह कह दिया जाता है कि उसकी रचना पालि-महावग्ग के अनुकरण पर हुई है और इसीलिए उसकी भाषा का एक विशेष स्वरूप है किन्तु ललितविस्तर का बहुत-सा गाथा-भाग ऐसा है जिसकी समानता पालि-साहित्य में कहीं खोजी नहीं जा सकती । उदाहरण के रूप में देवकुल परिवर्त्त के उस अंश को देखा जा सकता है जब बोधिसत्त्व (सर्वार्थसिद्ध) की मौसी (धात्री मां) उन्हें देवालय (देवकुल-मन्दिर) में ले जाती है। उस समय मूर्तिमय सभी देव अपने स्थान से उठते हैं उनको नमस्कार करते हैं और देव-प्रतिमाओं से गाथायें उच्चरित होती हैं ।[2] इसी प्रकार लिपि-शाला परिवर्त्त का वह भाग, जिसमें बोधिसत्त्व चौंसठ लिपियों की गणना करते हैं और ज्ञाता सिद्ध होते हैं अथवा अन्य सतीर्थ्यों के साथ वर्ण-अभ्यास के समय प्रत्येक वर्ण के साथ दार्शनिक विवरण का व्याख्यान जोड़ते हैं ।[3] पालि-त्रिपिटक में अभी तक उसका कहीं उल्लेख नहीं मिलता । हां, असितमुनि की कथा, तथा भविष्यवाणी, बिम्बसार और सर्वार्थसिद्धि की मुलाकात, बोधिसत्त्व का मार और उसके परिवार के साथ संवाद अवश्य ही सुत्तनिपात आदि पालि

---

१ वैद्य, पी० एल० ललितविस्तर, प्रस्तावना, पृ०

२. ल० वि० पृ० ८४ पं० १०-१२, श्लोक (शास्त्री) २८७, २९०, २९१

३. ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० ८८, ८९

ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। धर्मचक्र-प्रवर्त्तन सम्बन्धी चर्चा पालि-ग्रन्थों में प्राप्त होती है इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

जावा में स्थित बोरोबुदूर देवालय के मूर्त्तिकारों ने बुद्ध का जो जीवन उत्कीर्ण किया है, वह ललितविस्तर में वर्णित बोधिसत्त्व के जीवन-चरित से पूर्णतः साम्य रखता है मानो मूर्त्तिकारों ने ललितविस्तर को सामने रखकर उन चित्रों को उकेरा हो। इस मन्दिर का रचनाकाल नवीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है। इसी प्रकार वाराणसी के पास सारनाथ के मन्दिर और दिल्ली में स्थित बुद्ध मन्दिर के दीवारों पर चित्रित चित्र भी ललितविस्तर में वर्णित जीवन-चरित से समानता रखते हैं। पी० एल० वैद्य ने प्रस्तावना में लिखा हैं उत्तरी भारत के ग्रेको-बौद्ध शिलामूर्तियों के कलाकार सम्भवतः ललितविस्तर में चित्रित जीवनचरित से, बुद्धकथा से पूर्णरूप से परिचित थे। बौद्ध-यूनानी कलावस्तुओं के उदाहरण हमें गन्धारकला में उत्कीर्ण बुद्ध की मूर्त्तियों में प्राप्त होते हैं। विशेष रूप से बुद्ध की घुंघराले बालों वाली मूर्तियां हैं। इन कलाकृतियों को इतिहासकारों ने दूसरी एवं तीसरी शती का माना है। इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ललितविस्तर ईसा की दूसरी शती तक अपने स्वरूप को ग्रहण कर चुका था, भले ही कुछ अंश उसके बाद भी इस ग्रन्थ में क्यों न सम्मिलित किया गया हो।

संस्करण और अनुवाद

ललितविस्तर का यह वर्त्तमान स्वरूप कब प्राप्त हुआ, इस विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ कहा जाये, सम्भव नहीं है। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि उपलब्ध ललितविस्तर निश्चय ही प्रथम शताब्दी ई० के पूर्व अपना स्वरूप निर्धारित कर चुका था। इसके कई संस्करण और अनुवाद कई भाषाओं में प्राप्त होते हैं। चीनी भाषा में लगभग १४ अनुवाद प्राप्त हैं।[1] अनुवादों को हम प्राचीन और आधुनिक दो भागों में प्रस्तुत कर सकते हैं।

फ्रेंच विद्वान फूको ने १८८१ ई० में तिब्बती संस्करण का फ्रेंच संस्करण और अनुवाद तथा १८८४ ई० में संस्कृत का अनुवाद और नोट्स पेरिस से प्रकाशित किये। जे० स्वेपरने एस० बी० बी० लन्दन से १८७५ ई० में अंग्रेजी

1. Samual Beal, in his introduction too, Fo—Sho—Hing—tan King's Translation (Sacrud Books of the East, Vol. 19), mention 14 chinese ver ions about the Biography of Buddha out of which same are assumed to be connected with Lalita—Vistara as their source pp. 14-30.

अनुवाद प्रस्तुत किया।[1] राजेन्द्रलाल मित्रा ने ललितविस्तर का प्रकाशन एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, कलकत्ता से १८७७ ई० में किया, यह संस्करण और अनुवाद १५ परिवर्त्त तक है। एस० लेफमन ने हालनगर जर्मनी से १९०२ और १९०८ ई० में ललितविस्तर का दो जिल्दों में प्रकाशन किया है। पी० एल० वैद्य ने बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली-I में इस ग्रन्थ को मिथिला विद्यापीठ दरभंगा से १९५८ ई० में प्रकाशित किया, यह सबसे प्रामाणिक संस्करण है। गद्यभाग के सन्दर्भ इसी ग्रन्थ को आधार बनाकर प्रस्तुत किये गये हैं।

Nichalos Poppe ने १९६७ ई० में ललितविस्तर का संक्षिप्त मंगोलियन संस्करण तैयार किया जिसका शीर्षक "The Twelve deeds of Buddha" है यह Asciatische Forschungen Vol, 23 में जर्मनी से तथा टोकियो (जापान) से प्रकाशित हुआ है।

पी०एल० वैद्य ने ललितविस्तर की प्रस्तावना में तीन प्राचीन चीनी अनुवादों का उल्लेख किया है।[2] आर्य-लालतविस्तर-नाम-महायान-सूत्र' नामक तिब्बती अनुवाद को अधिक विश्वसनीय स्वीकार किया है। जो कंजूर की जिल्द ९५ म्डो-स्दे, पृ० १-२१६ में प्राप्त है। इसके अनुवादक जिनमित्र, दानशील, मुनिवर्म तथा ये-शेसू-स्दे माने गये हैं। इस तिब्बती अनुवाद का सम्पादन तथा फ्रेंच अनुवाद फूको ने पैरिस से १८४७-४८ में किया। एस० लेफमन का संस्करण यूरोप के विभिन्न पुतकालयों में संकलित है। राजेन्द्रलाल मित्रा के संस्करण की अपेक्षा उत्तम है और उसमें अशुद्धियां कम हैं। स्मरणीय है कि Dr. Friedrich Weller और Dr. Winternitz इस संस्करण में भी संशोधन की अपेक्षा रखते हैं।[3] किन्तु Edgerton इससे सहमत नहीं हैं उनका कथन है कि संशोधन का अर्थ यदि पाणिनीय व्याकरण के आधार पर मूलग्रन्थ की भाषा का परिष्कार है तो ऐसा करने से बौद्ध पांडुलिपियों की विशेषता और विश्वसनीयता भी समाप्त हो जायेगी। वस्तुतः किसी भी ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करते समय सम्पूर्ण प्रयत्न करने पर भी मानव सुलभ नवीन भूलें प्रत्येक नई प्रति में हो ही जाती हैं। अतः विद्वान सम्पादक को इन्हें खोजकर दूर करना चाहिए।

राजेन्द्रलाल मित्रा ने बर्मी अनुवाद का उल्लेख Legend of Godama नाम से किया है। जिसका अंग्रेजी अनुवाद Bishfo Bigandet ने प्रस्तुत किया

१. डा० आंगनेलाल ने 'बौद्ध संस्कृत साहित्य में भारतीय जीवन' की सहायक ग्रन्थ-सूची में इसे उद्धृत किया है।

२. ललितविस्तर (संपादक पी० एल० वैद्य) प्रस्तावना पृ० १७-१८

3. Sce 'Zum Lalita-Vistara', Leipzrig, 1915

है। इसे Malangara Watto कहा है जो कि मूल संस्कृत से सम्बन्धित है। मित्रा ने ललितविस्तर के संक्षिप्त पालि संस्करण और अनुवाद का भी उल्लेख किया है। Bishop of Bigandet ने पालि ललितविस्तर का भी अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है। Samual Beal ने मूल पालिसंस्करण का उल्लेख Fo-Sho-Kunghu-mo-ho-ti-king नाम से किया है।

Bays ने दो भागों में The Voice of the Buddha and the Beauty of Comprassion नामक अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया है। प्रथम भाग में आमुख (Preface) और भूमिका (Introduction) एवं १५ परिवर्त्त तक अनुवाद है। Bays ने सवार्थसिद्ध बुद्ध को सामान्य लौकिक पुरुष मानकर भी ऐतिहासिक महापुरुष माना है। द्वितीय भाग १६ परिवर्त्त से २७ परिवर्त्त तक है। २७वें परिवर्त्त के पश्चात् बौद्धधर्म और दर्शन सम्बन्धी विशिष्ट शब्दों की सूची (glossary) और उनके अर्थ अंग्रेजी भाषा में दिये हैं। इसका प्रकाशन कैलीफोर्निया से हुआ है।

शान्तिभिक्षु शास्त्री ने १९८४ ई० में हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है, कुल श्लोकों की संख्या १५०४ है, श्लोकों के बाद पुष्पिका में ४ श्लोक उद्धृत हैं। इसका प्रकाशन उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ से हुआ है। इस संस्करण में पद्यभाग हिन्दी अनुवाद के साथ मुद्रित है। सम्पादक ने गद्यभाग का मूल न देकर केवल कथावस्तु को समझने के लिए हिन्दी दी है, संस्कृत-गद्य-भाग नहीं दिया। हिन्दी अनुवाद प्रशंसनीय है परन्तु पुस्तक में से संस्कृत गद्यभाग का बहिष्कार अनुचित है। २७वें परिवर्त्त के बाद इसमें महत्त्वपूर्ण नाम, शब्द और विषयों पर अनुक्रमणिका दी गई है। इस संस्करण और अनुवाद को रस काव्य की विषयवस्तु को समझने के लिए भले ही उपयुक्त माना जाए, किन्तु मूल संस्कृत पाठ न होने से इसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

मेरी प्रस्तुत पुस्तक "ललितविस्तर दार्शनिक और सांस्कृतिक सर्वेक्षण" पी० एल० वैद्य, शान्तिभिक्षु शास्त्री, Bays के संस्करणों पर आधारित है। इसमें गद्यभाग की पृष्ठ संख्या पी० एल० वैद्य के संस्करण को आधार मानकर दी गयी है, जबकि सुविधा की दृष्टि से श्लोक क्रमांक शान्तिभिक्षु शास्त्री के संस्करण से उद्धृत किये गये हैं।

जैन दार्शनिक श्री हरिभद्रसूरि (700-700 A.D.) ने षड्दर्शन समुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्यय, योग-दृष्टि-समुच्चय, ललितविस्तर आदि अनकों ग्रन्थ लिखे हैं। इस ललितविस्तर में सिद्धार्थ बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित कोई घटना या विषय-सामग्री नहीं है नाम का साम्य अवश्य है। हरिभद्रसूरि का लिखा हुआ ललितविस्तर बम्बई, विश्वविद्यालय बम्बई, के पुस्तकालय में है यह पुस्तक

दी एसियाटिक सोसाइटि, बम्बई में भी उपलब्ध है। इसकी विषय वस्तु तीर्थङ्करों से सम्बन्धित है। इसकी भाषा लौकिक संस्कृत है। इसमें इन्होंने २९ जिनों को नमस्कार किया है उसमें 'बुद्धेभ्य: बोधकेभ्य:' कहकर बुद्ध को भी नमस्कार किया है।

महर्षि श्री हरिभद्राचार्य-प्रणीत-ललितविस्तर

१. नमोऽर्हद्भ्य:। २. भगवद्भ्य:। ३ आदिकरेभ्य:। ४. तीर्थकरेभ्य:। ५. स्वयंसम्बुद्धेभ्य:। ६. पुरुषोत्तमेभ्य:। ७. पुरुषसिंहेभ्य:। ८. पुरुषवरपुण्डरीकेभ्य:। ९. पुरुषवरगन्धहस्तिभ्य:। १०. लोकोत्तमेभ्य:। ११. लोकनाथेभ्य:। १२. अभयदेभ्य:। १३. चक्षुर्देभ्य:। १४. मार्गदेभ्य:। १५. शरणदेभ्य:। १६ बोधिदेभ्य:। १७. धर्मदेशकेभ्य:। १८. धर्मनायकेभ्य:। १९. धर्मसारथिभ्य:। २०. धर्मवरचतुरन्तचक्रवर्तिभ्य:। २१. अप्रतिहतवरज्ञान-दर्शनधरेभ्य:। २२. व्यावृत्तछद्मभ्य:। २३. जिनेभ्य: जापकेभ्य:। २४. तीर्णेभ्य: तारकेभ्य:। २५. बुद्धेभ्य: बोधकेभ्य:। २६. मुक्तेभ्य: मोचकेभ्य:। २७. सर्वज्ञेभ्य: सर्वदर्शिभ्य:। २८. शिवाचलादिसिद्धिगतिस्थान संप्राप्तेभ्य:। २९. जिनेभ्य: जितभयेभ्य:।

(इति महर्षि श्री हरिभद्राचार्यविरचिता मनःसुखसंवेदनेन भगवानदासेन हेमदेवीसुजातेन चिद्रहेमविशोधिनीटीकाभिधानेन विवेचनेन सविस्तरं विवेचिता ललितविस्तरा समाप्ता)

इसका प्रकाशन दरियापुर डबगरवाड़, अहमदाबाद से १९५० ई०में हुआ।

विन्टरनिट्ज और आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार बुद्धकथा के विकास का इतिहास ललितविस्तर से जाना जाता है। साहित्य की दृष्टि से इसका बड़ा गौरव है। ललितविस्तर में सुरक्षित गाथा और उसके कथांशों के आधार पर ही अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' नामक अनुपम महाकाव्य की रचना की थी।[1] संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों ने अश्वघोष की स्थिति ईसा पूर्व प्रथम द्वितीय शती मानी है। बुद्धचरित महाकाव्य की रचना का आधार ललितविस्तर है अत: इस ग्रन्थ का समय पहली या दूसरी शताब्दी के बाद नहीं स्वीकार किया जा सकता।

ललितविस्तर का वर्ण्य-विषय

ललितविस्तर की कथावस्तु २७ परिवर्त्तों में विभाजित है। इसमें सर्वार्थसिद्ध के जन्म से लेकर धर्मचक्र तक की कथा का ही प्रस्तुतीकरण है। इसके इन सत्ताईस परिच्छेदों में से प्रथम परिच्छेद की संज्ञा निदान है 'बहुजनहिताय

---

१. (क) History of Indian literature, Vol, IInd, 1972, P 256
(ख) बौद्ध धर्म दर्शन, १९७१, पृ० १३६

बहुजनसुखाय' ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ के महत्त्व का प्रतिपादन किया है—

तद्भिक्षवा मे श्रृणुतेह सर्वे
वैपुल्यसूत्रं हि महानिदानम् ।
पद्भाषितं सर्व तथागतैः प्राग्
लोकस्य सर्वस्य हितार्थमेव ॥

समस्त लोक के कल्याण के लिए पूर्व तथागतों ने इस वैपुल्य-सूत्र महानिदान का कथन किया था, इसे हेभिक्षुओं आप सभी सुनें।

अन्य वैपुल्य सूत्रों के समान ही इस ग्रन्थ का आरम्भ 'एवं मया श्रुतम् । एकस्मिन् समये भगवान् श्रावस्त्यां विहरति स्म जेतवने अनाथपिण्डकस्यारामे, महता भिक्षुसंघेन सार्धम् द्वादशभिर्भिक्षुसहस्रैः'[1] इस प्रकार की सरल गद्यशैली में हुआ है। इस वाक्य के बाद आयुष्मान् ज्ञानकौण्डिन्य, आयुष्मान् अश्वजित आदि तैंतिस भिक्षुओं के नामों का परिगणन करके, मैत्रेय, धरणीधर, सिंहकेतु, सिद्धार्थमति, प्रशान्त, चारित्रमति आदि बत्तीस बोधिसत्त्वों में आठ बोधिसत्त्वों के नामों का उल्लेख करके कथानक की भूमिका ग्रन्थकार ने प्रस्तुत की है। इसके अनन्तर उसने धर्मकेतु, पद्मोत्तर, गुणकेतु, दीपंकर, आदि छप्पन बोधि-सत्त्वों के नाम गिनाये हैं, जिन्हें इसका पूर्व-प्रवचन-कर्त्ता कहा गया है। ग्रन्थ-कार ने श्रोताओं में भिक्षुगुण के साथ शुद्धावासकायिक देवपुत्र, महेश्वर, नन्द, सुनन्द, चन्दन, महित, प्रशान्त, विनीतेश्वर आदि शुद्धवासिक देवपुत्रों को अन्तर्हित होकर कथा सुनने वालों में स्वीकार किया है।

प्रथम निदान परिवर्त्त में सभी भिक्षुओं की ललितविस्तर नामक धर्म-पर्याय के व्याकरण (कथा सुनाने) की प्रार्थना के बाद द्वितीय समुत्साह परिवर्त्त में बोधिसत्त्व के पूर्व शुभ-कर्मों के उपचय से स्वतः प्रकट होने वाली संचोदना गाथाओं का संकलन है, जिनमें बोधिसत्त्व को, पूर्व बोधिसत्त्वों द्वारा किए गए व्याकरणों का स्मरण कराते हुए लोक कल्याणार्थ बहुजनहिताय बहुजनसुखाय सम्यक् संबोधि प्राप्त करने के लिए, जम्बुद्वीप में अवतार लेने के लिए समुत्साह दिलाया गया है।[2]

तृतीय कुलशुद्धि परिवर्त्त में बोधिसत्त्व ने चार महाविलोकनों का विलोकन किया—काल, द्वीप, देश और कुल। किस कुल में जन्म लें, इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए, प्रथम तो क्षत्रिय कुल में जन्म लेना है यह निश्चय सूचित हुआ है उसके बाद प्रमुख क्षत्रिय कुलों के गुण-अवगुणों की

---

१. ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १
२. ल० वि० (शास्त्र), श्लोक २३, २६, २७, २८, ३१, ३२

मीमांसापूर्वक, चौंसठ गुणों का वर्णन किया गया है जो गुण उस कुल में होने चाहिए, जिसमें बोधिसत्त्व उत्पन्न होंगे। उन बत्तीस गुणों की चर्चा हुई है, जिन गुणों से युक्त स्त्री की कोख में बोधिसत्त्व जन्म लेते हैं। जम्बुद्वीप में कपिलवस्तु में शाक्यकुल चौंसठ प्रकार के गुणों से समृद्ध है। उस कुल के राजा शुद्धोदन की पत्नी माया देवी में बत्तीस गुण हैं यह कथन कर कवि ने शाक्यकुल में शुद्धोदन की भार्या माया देवी को गर्भ धारण करने के लिए चुना, ऐसा व्याकरण किया गया है। बोधिसत्त्व शुक्लपक्ष की पंचदशी को, पूर्णिमा की रात्रि को, पुष्यनक्षत्र के योग में, शीलव्रत (पोषध) धारण करने वाली मां की कोख में गर्भ धारण करेंगे[1]—ऐसी भविष्यवाणी कवि ने की है।

चतुर्थ धर्मालोकमुख परिवर्त्त में देवपरिषद् में बोधिसत्त्व ने एक सौ आठ धर्म के द्वारों का व्याकरण किया है। वे श्रद्धा, प्रसाद, प्रामोद्य, प्रीति आदि हैं जिसे सुनकर चौरासी हजार देवपुत्रों में सम्यक् सम्बोधि के लिए चित्त उत्पन्न हुए, बत्तीस हजार देवपुत्रों को क्षान्तिलाभ हुआ, छत्तीस हजार आयुत-देवपुत्रों को धर्मचक्षु का लाभ हुआ।

पांचवें प्रचल परिवर्त्त में देवपरिषद् से जम्बुद्वीप जन्म लेने के लिए अनुमति मांगते हैं। अब बोधिसत्त्व मैत्रेय आपको धर्मदेशना करते रहेंगे, ऐसा कहकर अश्वस्त करते हैं। इसके बाद किस रूप में बोधिसत्त्व मातृशक्ति माया देवी के उदर में गर्भ धारण करें, इसकी जिज्ञासा करके ६ दांतों वाले विशाल हाथी को स्वप्न में माया देवी ने गर्भ में प्रवेश करते हुए अनुभव किया, ऐसा वर्णन कवि ने किया है। इस परिवर्त्त में १८ पूर्वनिमित्त प्रकट हुए।[2]

छठे गर्भावक्रान्ति नामक परिवर्त्त में माया देवी यह स्वप्न देखती है कि ६ दांतों वाला सुन्दर गज उदर में प्रविष्ट हुआ है। वे अपना स्वप्न राजा शुद्धोदन को बताती है। नैमित्तिक ब्राह्मण बुलाये जाते हैं, वे स्वप्न का फल बताते हैं। माया देवी के उदर में मानव शिशु रूप में गर्भ धारण करने के लिए सहापति ब्रह्मा रत्नव्यूह नामक परिभोग लाते हैं। इसे देखने के लिए सभी देवगण लालायित हैं। इस परिवर्त्त में इस परिभोग का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। यहां बोधिसत्त्व के गर्भस्थ होने की स्थिति में विविध अलौकिक चमत्कारों का वर्णन भी निबद्ध किया गया है। जब बोधिसत्त्व गर्भ में शिशुरूप में अपनी माता माया देवी के उदर में थे, उस समय अनेकों दिव्य-शक्तियों का

---

१. ल०वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १८, पं० २४, २५, २६
२. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २८, २९

प्रादुर्भाव हुआ। उनके स्पर्श से रोगी निरोग हो जाते थे, तृण भी औषधि बन जाते थे, कोई भी प्राणी रोगी, धनहीन और दुखी नहीं था।[1]

जन्म नामक सातवें परिवर्त्त में बोधिसत्त्व के जन्म के मुहूर्त्त के समय, राजा शुद्धोदन के घर के उपवन में बत्तीस पूर्वनिमित्त (शुभ शकुन) प्रकट हुए।[2] दस मास गर्भ में रहकर बोधिसत्त्व जन्म लेते हैं, वे जन्म के समय समस्त गर्भ-मलों से सर्वथा रहित थे। शुद्धोदन माया देवी को लुम्बिनी वन में ले जाते हैं वहां प्लक्षवृक्ष के नीचे माया देवी ने प्रसव किया और सर्वार्थसिद्ध सिद्धार्थ को जन्म दिया। बोधिसत्त्व के जन्म के समय अनेकों चमत्कार हुए, उन्हें त्रिविक्रम विष्णु से भी बढ़कर बताने के लिए कवि ने यह वर्णन किया है कि वे उत्पन्न होते ही सात पग चले।[3] यहां बोधिसत्त्व (नवजात शिशु) और आनन्द का चमत्कारपूर्ण वार्तालाप है। इसी परिवर्त्त में राजा शुद्धोदन के पास महर्षि असित के आगमन और बालक के विषय में भविष्यवाणी का व्याकरण उपनिबद्ध है। महर्षि असित बत्तीस महापुरुष के लक्षणों और अस्सी विशेष मङ्गल चिह्नों (अनुव्यंजनों)के फल का भी कथन करते हैं। बोधिसत्त्व के मानव शिशु रूप में उत्पन्न होते ही शुद्धोदन के सब अर्थ सिद्ध, हो गए, इसलिए उन्होंने उसका अभिधान 'सर्वार्थसिद्ध' रखकर नामकरण किया। 'देवकुलोपनयन' नामक अष्टम परिवर्त्त में कुमार सर्वार्थसिद्ध को शुद्धोदन महाप्रजापति गौतमी के साथ देवकुल में ले जाते हैं जहां शिव, स्कन्द, नारायण, कुबेर, चन्द्र, सूर्य, वैश्रवण, शक्र, ब्रह्मा, और लोकपालों की प्रतिमाएं अपने-अपने स्थानों से उठकर बोधिसत्त्व के चरणों में नतमस्तक हो गईं। बोधिसत्त्व के देवकुल में प्रवेश के प्रदर्शन के समय बत्तीस सहस्र देवपुत्रों को अनुत्तर सम्यक् संबोधि के निमित्त बोधिचित्त उत्पन्न हुआ। 'आभरण' नामक नवम परिवर्त्त में उन्हें अलंकारों से अलंकृत किया जाता है। कुमारियों के समान कुमार भी उस समय अनेकों प्रकार के अलंकार धारण करते थे। 'लिपिशाला संदर्शन' नामक दशम परिवर्त्त में बोधिसत्त्व विद्याध्ययन के लिए, शिक्षा-प्राप्ति के लिए आचार्य विश्वामित्र के समीप लाए जाते हैं। इस लिपिशाला में बत्तीस हजार बालिकायें भी विद्याध्ययन करती थीं, उन्हें सम्यक् ज्ञान दिया जाता था, उस समय सहशिक्षा की व्यवस्था थी।

ग्यारहवें कृषिग्राम (Agricultural Village) परिवर्त्त में कृषिग्राम के अवलोकन हेतु जाते हैं। वहां आकाश-मार्ग से पांच ऋषि बोधिसत्त्व के तेज का

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १८४, १८५, १८६, १८८, १९०, १९१
२. ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० ५७
३. वही, श्लोक २१६, २२१, २२३

अनुभव करते हैं और जिज्ञासा होने पर वनदेवता बोधिसत्त्व का परिचय देती है, वे एक-एक करके बोधिसत्त्व की स्तुति करते हैं। बारहवाँ शिल्पसंदर्शन परिवर्त्त है जिसमें शाक्यपुत्रों के साथ गणितविद्या आदि विविध विद्याओं, विविध कलाओं, युद्धकला, एवं मल्लविद्या की प्रतियोगिता में उपस्थित होते हैं एवं सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होते हैं। शुद्धोदन ने अनुकूल पुत्रवधू की प्राप्ति के लिए यह व्यवस्था की कि सर्वार्थसिद्ध कुमार सिद्धार्थ सुवर्णमय, रजतमय और विविध रत्नमय अशोकभाण्डों (पुरस्कार वस्तुओं) को सभाभवन में युवा कन्याओं को वितरित करें, जिस कन्या में कुमार का अनुराग देखें, उसकी सूचना राजा को दे दें। दण्डपाणि शाक्य की पुत्री गोपा भी अशोकभाण्ड लेने गई, कुमार सर्वार्थसिद्ध ने उसे अपनी अंगूठी और आभूषण उतार कर दे दिये। गोपा ने कहा हम कुमार को अनलंकृत नहीं करेंगी अलंकृत करेंगी। ऐसा कहकर वह कन्या चली गई।[1] यहां प्रथमतः शाक्यकन्या का अनुराग दिखाया गया है फिर बोधिसत्त्व का नेत्रानुराग दिखाकर दोनों के प्रेमालाप का वर्णन है। गुप्त-पुरुषों ने यह वृत्तान्त राजा शुद्धोदन से निवेदन किया। इसी परिवर्त्त में सर्वार्थसिद्ध सिद्धार्थ का शाक्यकन्या गोपा से विवाह संपन्न होता है।

तेरहवां परिवर्त्त संचोदना परिवर्त्त है। इसमें देव, नाग, यक्ष, गन्धर्व, असुर, गरुड़, किन्नर, महोरग, शक्र, ब्रह्मलोकपाल आदि चिरकाल तक बोधिसत्त्व को अन्तःपुर में स्थिर देखकर, उनकी स्तुति करते हुए, सम्यक् संबोधि प्राप्ति-हेतु स्तुति करते हैं। यहां बोधिसत्त्व की वेणुध्वनि से संचोदना गाथायें निकलती हैं, जिन्हें प्रेरणागीत कहा जा सकता है जैसे कि सैनिकों के मध्य संगीतमय प्रेरणागीत गाये या बजाए जाते हैं। इन गाथाओं से प्रेरणा मिलने पर बोधिसत्त्व के मुख से सौ हजार (एक लाख) धर्ममुखों का प्रवचन होता है।

चौदहवें स्वप्न परिवर्त्त में बोधिसत्त्व की पत्नी गोपा भावी वियोग की सूचना देने वाला दुःस्वप्न देखती है, घबड़ाती है, तो बोधिसत्त्व उस स्वप्न-निमित्त का व्याकरण कर उसे सान्त्वना देते हैं, इसी परिवर्त्त में बोधिसत्त्व सारथि के साथ रथ पर बैठकर नगर-भ्रमण के लिए जाते हैं एक वृद्ध पुरुष को, एक रोगी को, एक मृत पुरुष को और एक प्रव्रजित पुरुष को देखते हैं इनको देखकर उनके मानस में वैराग्य-भावना की पुष्टि होती हैं।

पन्द्रहवें अभिनिष्क्रमण परिवर्त्त में बोधिसत्त्व किसी प्रकार निकल न सकें, इसके लिए शुद्धोदन सम्पूर्ण सुरक्षा प्रबन्ध करते हैं। दूसरी ओर अठ्ठाइस

---

१. ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १०० पं० ११, १२, १३

महायक्ष सेनापति, पांच सौ हारितीपुत्र, और चार महाराज अलकवती राजधानी में पहुंचकर पक्ष-परिषद् में विचार करते हैं कि बोधिसत्त्व का अभिनिष्क्रमण किस प्रकार कराया जाए। इधर देवों के इन्द्र शक्र, शान्तमति, ललितव्यूह, व्यूहमति देवपुत्र तथा नागराजा ऐरावण आदि निष्क्रमण के कार्य में बोधिसत्त्व की सहायता की योजना करते हैं। बोधिसत्त्व अर्धरात्रि में पुष्प नक्षत्र में छन्दक को बुलाकर अश्वराज कन्थक को लाने का निर्देश करते हैं। इस बीच लेखक ने छन्दक एवं बोधिसत्त्व के वार्त्तालाप का वर्णन किया है जो साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं, दार्शनिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। अन्ततः बोधिसत्त्व सिद्धार्थ कन्थक पर चढ़कर निष्क्रमण करते हैं। शाक्य, क्रोड्य, मल्ल, और अनुवैनेय जनपदों को पार करके, प्रभात होने पर अपने समस्त आभूषण छन्दक को देकर कन्थक सहित कपिलवस्तु नगर में वापिस जाने का आदेश देते हैं।[1] इस परिवर्त्त में वे लुब्धक वेष में उपस्थित देवपुत्र से काषाय वस्त्र ग्रहण करते हैं।

दूसरी ओर नगर में बोधिसत्त्व के अभिनिष्क्रमण की घटना से विलाप प्रारम्भ हो जाता है। छन्दक के लौटने पर, उससे बोधिसत्त्व के निष्क्रमण का विवरण एवं उनके आभरण प्राप्त कर महाप्रजापती गौतमी उन आभूषणों को पुष्करिणी में फेंक देती हैं। गोपा विलाप करती है और छन्दक आदि सान्त्वना देते हैं आदि का वर्णन करके इस परिवर्त्त को पूर्ण कर दिया गया है।

सोलहवें परिवर्त्त का नाम बिम्बसारोपसंक्रमण है। इसमें बोधिसत्त्व का काषाय वस्त्र धारण करके, शाक्य, ब्राह्मणी के आश्रम में, पद्मा ब्राह्मणी के आश्रम में, ब्रह्मर्षि रैवत, और दण्डिक के दत्रिम (दान में प्राप्त) पुत्र राजक के आश्रम में पहुंचे उसके बाद वैशाली नगरी में पहुंचते हैं। वैशाली के निकट आराड कालाप के आश्रम में जाते हैं, वहां सोचते हैं कि उनमें (१) श्रद्धा (२) वीर्य (३) स्मृति (४) समाधि और (५) प्रज्ञा है इसलिए आराड कालाप से धर्मचर्चा करके उनके धर्म को मोक्ष का साधक न समझकर[2] मगध में प्रवेश करते हैं। मगध में भिक्षा के लिए भ्रमण करते समय राजगृह नगर के राज-पुरुष, राजा बिम्बसार को इस तेजस्वी पुरुष के आगमन की सूचना देते हैं। बोधिसत्त्व अपना परिचय देते हैं।[3] राजा बिम्बसार स्वयं भिक्षु बोधिसत्त्व के पास पहुंचकर अपने राज्य का आधा अथवा सम्पूर्ण भी बोधिसत्त्व को देने का

---

१. ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १६३

२. अस्ति मे छन्दोऽस्ति वीर्यमस्ति स्मृतिरस्ति समाधिरस्ति प्रज्ञा…' ल० वि० (वैद्य) पृ० १७४

३. ल० वि० (शास्त्री) श्लोक ७७५

प्रस्ताव करते हैं, किन्तु बोधिसत्त्व इस लोभ में नहीं पड़ते। इस प्रसंग में राजा विम्बिसार एवं बोधिसत्त्व का वार्त्तालाप पठनीय है।

सत्रहवें दुष्करचर्या परिवर्त्त में साढ़े सात सौ शिष्यों के साथ तपस्या करने वाले रुद्रक रामपुत्र के साथ बोधिसत्त्व का वार्त्तालाप होता है, धर्मचर्चा होती है, बोधिसत्त्व उस ज्ञान से सन्तुष्ट नहीं होते[1] और घोर तपश्चर्या में लीन हो जाते हैं, ६ वर्षों तक घोर तप करते हैं। आस्फानक ध्यान करते हैं।

अठारहवें नैरञ्जना परिवर्त्त में ६ वर्ष की घोर तपश्चर्या में रत बोधिसत्त्व यह सम्बोधि का मार्ग नहीं है, सोचकर बोधिमंड पर जाने का निश्चय करते हैं, इस समय इनकी तपश्चर्या से प्रभावित होकर लोग इन्हें महाश्रमण मानते हुए, दर्शनार्थ आते हैं। ग्रामनेता की दस पुत्रियां—बला, बलगुप्ता, सुप्रिया, विजयसेना अतिमुक्तकमाला, सुन्दरी, कुम्भकारी, उलबिल्लिका, जटिलिका तथा सुजाता भी दर्शनार्थ आती हैं। ग्रामिक दुहिता सुजाता भोजन कराने की कामना करती है। इसी समय बोधिसत्त्व कौपीन की इच्छा करते हैं तो उन्हें वस्त्र पड़ा हुआ दिखाई पड़ता है, उसे धोने के लिए पुष्करिणी की कामना करते हैं तो पुष्करिणी प्रकट हो जाती है, वस्त्र धोने के लिए शिला चाहते हैं तो शिला प्रकट हो जाती है। इन्द्र स्वयं उपस्थित होकर पांसुकूल को धोकर साफ करते हैं।

इसी अवसर पर विमलप्रभ नामक शुद्धावासकायिक देवपुत्र बोधिसत्त्व के लिए दिव्य चीवर उपहृत करते हैं और बोधिसत्त्व संघाटी से शरीर को ढककर गोचरग्राम की ओर चले। उसी दिन अर्धरात्रि में नन्दिक ग्रामिक की पुत्री सुजाता को आरोचित हुआ कि जिस हेतु तुम महायज्ञ कर रही थी कि 'तुम्हारा भोजन खाकर बोधिसत्त्व अनुत्तर सम्यक् संबोधि को प्राप्त करें, अब उसका समय उपस्थित हो गया है, अतः जो करणीय है उसे करो' सुजाता ने उस निर्देश को पाकर पायस को तैयार किया और नवीन सुवर्णपात्री में बोधिसत्त्व को भोजनार्थ उपहृत किया। आहार के बाद ही बोधिसत्त्व के पुण्यबल से बत्तीस महापुरुष लक्षण तथा अस्सी अनुव्यंजन और सुविस्तृत प्रभा प्रकट हुई। बोधिसत्त्व वहां से चलकर सिंह, हंस और गजेन्द्र की गति से बोधिवृक्ष की ओर चले।

उन्नीसवें परिवर्त्त बोधिमण्ड गमन में, बोधिमंडगमन के अवसर पर बोधिसत्त्व की गतियों का, मार्ग का, मार्ग से प्रकट प्रभाव का वर्णन है। तथा

---

१. नैष भार्ष मार्गो निवृतये न विरामाय न निरोधाय नोपशमाय नाभिज्ञायै न संबोधये न श्रामणाय न ब्राह्मणाय न निर्वाणाय संवर्तते।
ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १८१ पं० १, २

बोधिप्राप्ति के प्रसंग में समस्त देवताओं की प्रतीक्षा का वर्णन है। बोधिमण्डप की रक्षा सोलह देवपुत्रों ने की, जिनके नाम निम्नलिखित हैं। (१) उत्खली, (२) सूत्खली, (३) प्रजापति (४) शूरबल (५) केयूरबल (६) सुप्रतिस्थित (७) महिंधर, (८) अवभासकर, (६) विमल, (१०) धर्मेश्वर, (११) धर्मकेतु, (१२) सिद्धपात्र, (१३(अप्रतिहतनेत्र, (१४) महाव्यूह (१५) शीलविशुद्धनेत्र, (१६) पद्मप्रभ। यहां पर चार बोधिवृक्ष के देवताओं का वर्णन है जैसे वेणु, वेल्गु, सुमन और ओजापति। बोधिसत्त्व ने स्वस्तिक नामक घसियारे से आसन (तृण) मांगा। समन्तभद्र आसन पर बोधिसत्त्व आसीन हुए और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वमस्थिमासं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां
नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते ॥

बोधिमण्डव्यूह बीसवां परिवर्त्त है। इसमें बोधिसत्त्वों द्वारा दिखाये हुए चमत्कारों का वर्णन है और उनके प्रभावों का वर्णन है। इस परिवर्त्त में ललितव्यूह, छत्रकूटसंदर्शन, इन्द्रजाली, व्यूहराज, गुणमति, रत्नसंभव, मेघकूटाभिगर्जितस्वर, हेमजालालंकृत, रत्नगर्भ, गगनगञ्ज आदि बोधिसत्त्वों ने बोधिद्रुम के नीचे आसीन बोधिसत्त्व सर्वार्थसिद्ध की पूजा की, इस प्रकार का वर्णन है। उन बोधिसत्त्वों के मुख से धर्म के द्वारभूत वचन (धर्ममुख) ध्वनित होते थे, जिन्हें सुनकर असंख्य प्राणी तृष्णा का त्याग करते थे। दसों दिशाओं के कोटि-कोटि बुद्ध-क्षेत्रों में शब्द हुआ कि आज शास्ता सर्वार्थसिद्ध अमृत का अवबोध करने के लिए बोधिलाभ करेंगे।

इक्कीसवें मारधर्षण नामक परिवर्त्त में बोधिसत्त्व मार का मुकाबला करते हैं और उसे पराजित करते हैं। मार की पुत्रियां बोधिसत्त्व को आकर्षित करने के लिए अनेकों प्रकार के हाव-भाव प्रदर्शित करती हैं। बोधिसत्त्व ने अपने रोममण्डल (ऊर्णाकोश) में से 'सर्वमारमण्डल-विध्वंसनकरी' नामक एक रश्मि छोड़ी। जिसने मार के भवन को कान्तिहीन कर दिया और कंपा दिया। मार ने यह शब्द सुना कि बोधिसत्त्व निर्वाण का साक्षात्कार कर, दूसरों को भी निर्वाण का साक्षात्कार) कराऐंगे। मार ने बत्तीस प्रकार के स्वप्न देखे, सिंहहनु नामक अपने सेनापति को दुखी और पीड़ित स्वर में कहा कि उत्तम अंगों वाले बोधिसत्त्व शाक्यकुल में उत्पन्न हुए हैं। उन्होंने ६ वर्ष तक घोर दुष्करचर्या की है

---

१. ल० वि० (शास्त्री) श्लोक ६०७

वे बोधिद्रुम के नीचे आसीन हैं वे जब सम्यक् संबुद्ध होंगे, अमृत ज्ञान की प्राप्ति करेंगे और इस पुर को सूना करेंगे। चारों ओर धर्म की वर्षा करेंगे, इसलिए वृक्षराज के नीचे आसीन उस श्रमण को मारने के लिए चतुरङ्गिणी सेना को सगाओ। मारपुत्र सार्थवाह ने अपने पिता मार को बोधिसत्त्व से युद्ध करने के लिए निरुत्साहित किया[1] अपने पुत्र सार्थवाह की बात न मानकर मार ने स्वयं चतुरङ्गिणी-सेना को सजाया, तरह-तरह से बोधिसत्त्व पर आक्रमण किया तथा उसे डराया।

सार्थवाह, सुबुद्धि, दुर्मति, मधुर-निर्घोष, शतबाहु, उग्रतेजा, सुनेत्र, दीर्घ-बाहु, प्रसादप्रतिलब्ध, भयङ्कर, एकाग्रमति, अवतारप्रेक्षी, पुण्यालंकार, अनिवर्ती, धर्मकाम, अनुपशान्त, रतिलोल, धर्मरति, वातजव, अचलपति, ब्रह्ममति, सिंहमति, सर्वचण्डाल, सिंहनादी: दुश्चिन्तितचिन्ती, सुचिन्तितार्थ, आदि मारपुत्रों ने कहा कि बोधिसत्त्व तीनों भवों के राजा होंगे, उनसे लड़ाई मत करो, लौट चलो।[1] पापी मार के भद्रसेन नामक सेनापति ने बड़े मार से कहां 'सभी देवता सर्वार्थसिद्ध के सामने नतमस्तक हो उन्हें प्रणाम करते हैं। प्रज्ञावन्त, बुद्धिमन्त, बलवन्त तुम्हारे पुत्र और अस्सी योजनों तक व्याप्त मारसेना उन्हें निर्दोष समझकर उनकी जीत निश्चित है ऐसा मानती है।[2] जहां पापी मार की सेना खाड़ी है वहां उल्लू, सियार और गधे रो रहे हैं। यह अपशकुन है हमारा जल्दी लौटना ही उचित है। ये अहिंसावादी हैं।[3] जिसके शरीर पर बत्तीस लक्षण होते हैं यदि वह घर से निकलता है तो क्लेशों को जीतने वाला बुद्ध होता है।[4] और मार सेना मर्दन करने वाला होता है।[5] दूसरा मारपुत्र रोष से बोला अकेला यह श्रमण क्या कर सकता है? कहां यह एकाकी व्यक्ति और कहां भयंकर महासेना?

प्रमर्दक नामक मारपुत्र ने बोधिसत्त्व का पक्ष लिया और उन्हें बोधि-प्राप्ति के लिए उत्साहित किया[6]। मार का और बोधिसत्त्व का संवाद पठनीय है। पापी मार ने अपनी पुत्रियों से कहा बोधिमण्डप पर पहुंचकर बोधिसत्त्व को विचलित करो। पापी मार की पुत्रियों ने बत्तीस प्रकार की स्त्री-माया का प्रदर्शन किया।

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १००
२. वही, श्लोक १००१—१००५
३. वही, श्लोक १००६, १०१२
४. वही, श्लोक १०-१३
५. वही, श्लोक १०-१९
६. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १०६८

यहां मारकन्याओं और बोधिसत्त्व के वार्तालाप का वर्णन है। मारकन्याओं ने अपने पिता से कहा हमने जो बत्तीस प्रकार की स्त्री-माया बोधिसत्त्व को दिखाई है, उसे देखकर उनका चित्त कंपित नहीं हुआ, वे पर्वतराज के समान अकम्प्य हैं।[1] सैकड़ों पुण्यतेजों से भरे हुए गुणों के तेज से पूर्ण, उन्होंने बहुत से करोड़ों कल्पों तक शीलचर्या और तपश्चर्या की हैं। बोधिवृक्ष की अधिष्ठात्री आठ देवताओं श्री, वृद्धि, तपा, श्रेयसी, विदु, ओजोबला, सत्यवादिनी और समङ्गिनी देवताओं ने षोडशोपचार द्वारा बोधिसत्त्व की पूजा की, बधाई दी और स्तुति की। शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने सोलह प्रकार से पापी मार को दुर्बल किया। बोधिपरिचारक देवपुत्रों ने बड़े पापी मार को सोलह प्रकार से निरुत्साहित किया। यहां बोधिसत्त्व और मार का संवाद है, बोधिसत्त्व से मार की पराजय का वर्णन निबद्ध हुआ है। मार के साथ संवाद के क्रम में विश्व एवं वैषयिक भोगों की अनित्यता का कथन करने वाले बुद्ध-वचन दार्शनिक दृष्टि से अपना विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

बाइसवें 'अभिसंबोधि' परिवर्त्त में बोधिसत्त्व द्वारा अभिसम्बोधि प्राप्त की गई है। इस परिवर्त्त में चार प्रकार के ध्यान का वर्णन है। दिव्यचक्षु लाभ से बोधिसत्त्व ने यह जान लिया कि प्राणी दुष्कर्मों से नरक और शुभ कर्मों से स्वर्ग-लोकों में उत्पन्न होते हैं। अपने तथा अन्य सभी प्राणियों के पूर्वनिवासों का स्मरण और अनुस्मरण किया तथा आस्रवक्षयज्ञान हुआ, इस प्रकार बोधिसत्त्व को त्रैविद्याधिगम प्राप्त हुआ। बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई कि मनुष्य जन्म लेता है, वृद्ध होता है, मरता है, च्युत होता है, उत्पन्न होता है, फिर भी जरा, व्याधि, मरण आदि के महादुःखस्कन्ध का अवसान नहीं होता है। बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई कि किस हेतु के कारण जरा-मरण होता है और किसके प्रत्यय से जरा-मरण होता है।[1] बोधिसत्त्व को (१) दुःख, (२) दुःखसमुदय (३) दुःखनिरोध (४) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद इन चार आर्यसत्यों का ज्ञान हुआ 'इदंदुःखमयं दुःखसमुदयोऽयं दुःखनिरोधः इयं दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपादिति यथाभूतमज्ञासिषम्।' बौद्धधर्म के मुख्य दार्शनिक सिद्धान्तों का व्याकरण इसी परिवर्त्त में निबद्ध है।

तेइसवें संस्तव परिवर्त्त में अभिसंबोधि प्राप्त बोधिसत्त्व की शुद्धावासकायिक देवपुत्रों, आभास्वर, देवपुत्रों, ब्रह्मकायिक देवों' शुक्लपाक्षिक मारपुत्रों,

१. अविद्याप्रत्ययः संस्काराः······उपायासाः संभवन्ति।
ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २५२
'हेतु' का अर्थ है मुख्य कारण और 'प्रत्यय' का अर्थ है तदनुकूल कारण-सामग्री। उपाध्याय बलदेव, बौद्ध दर्शन मीमांसा, संस्करण द्वितीय, १९५४, पृ० ७२

पर निर्मित वशवर्ती,देवपुत्रों, सुनिर्मित देवपुत्रों, सन्तुषित देवपुत्रों, सुयामदेवों, देवेन्द्र, चतुर्महाराजकायिक देवताओं, अन्तरिक्षस्थ देवताओं, पृथिवी के देवताओं आदि द्वारा की गयी स्तुतियों का निबन्धन है। इस परिवर्त्त में निबद्ध स्तुतियों का बौद्ध-स्तोत्र-साहित्य में अपना विशेष महत्त्व है।

चौबीसवां त्रपुषभल्लिक परिवर्त्त है। यहां प्रारम्भ में समन्तकुसुम नामक देवपुत्र बोधिसत्त्व से उस समाधि का, साधना का स्वरूप जानना चाहते हैं जिससे वे सात रात्रि तक समाधि में लीन रहे। बोधिसत्त्व ने उस समाधि का नाम प्रीत्याहारव्यूह समाधि बताया है। समन्तकुसुम देवपुत्र ने तथागत की गाथाओं द्वारा स्तुति की। प्रथम सप्ताह में तथागत बोधिसत्त्व ने बोधिप्राप्त की और जन्म, जरा, मरण तथा दुःख के उपाय को खोजा। द्वितीय सप्ताह बोधिसत्त्व ने दीर्घ चंक्रमण किया। तृतीय सप्ताह अनिमेष चक्षुओं से बोधिमंड को देखते रहते हैं। चतुर्थ सप्ताह में पूर्वसमुद्र से पश्चिम समुद्र तक दहर चंक्रमण करते हैं। इसके अनन्तर पापी मार को उसकी रति, अरति, तृष्णा नामक तीनों पुत्रियों ने भड़काया कि बोधिसत्त्व को हम रागपाश से बांधकर ले आयेंगी। मार ने कहा अपनी पुत्रियों से कि तथागत राग के वशीभूत होने वाले नहीं हैं। मार द्वारा क्षमा-याचना इसी सप्ताह होती है। पंचम सप्ताह बोधिसत्त्व मुचिलिन्द नागराज के भवन में विहार करते हैं। षष्ठ सप्ताह में मुचिलिन्द नागराज का भवन त्यागकर अजपाल के न्यग्रोध वृक्ष के मूल के पास जाते हैं उसके बाद नैरञ्जना नदी के तट पर पहुंचते हैं, वहां चरक परिव्राजक, वृद्ध श्रावक गौतम, निर्ग्रन्थ, आजीविक आदि ने तथागत बोधिसत्त्व से कुशल-मंगल पूछा। सातवें सप्ताह बोधिसत्त्व बोधिवृक्ष (तारायण) के मूल में विहार करते हैं और यहीं त्रपुष-भल्लिक उनके चमत्कार का अनुभव कर उनकी सेवा मे आते हैं।

त्रपुष-भल्लिक बोधिसत्त्व का भोजन-काल जानकर भोज्य-पदार्थ देना चाहते हैं। उन्हें किस पात्र में भोज्य-पदार्थ दिये जायें यह सोचते हैं तो चार दिशाओं से चार देवता (महाराज) वैश्रवण, धृतराष्ट्र, विरूढक, विरूपाक्ष आकर बोधिसत्त्व को चार स्वर्णपात्र देते हैं किन्तु बोधिसत्त्व उसे स्वीकार नहीं करते हैं। पुनः चारों देवता शैलपात्र देते हैं उसे वे अनुरूप मानकर ग्रहण कर लेते हैं। जो तथागत बोधिसत्त्व को पात्र भेंट करता है, उसकी कभी भी स्मृति-हानि और प्रज्ञाहानि नहीं होती। त्रपुष---भल्लिक के पास चन्द्रनामिका रत्नपात्री थी, उसमें शास्ता बोधिसत्त्व को भोजन देकर वे कृतकृत्य हुए। उस रत्नपात्री

की देवलोक में पूजा हुई। शिखण्डी नामक ब्राह्मण ने कहा कि आपका दिया हुआ भोजन ग्रहण करके बोधिसत्त्व धर्मचक्र का प्रवर्त्तन करेंगे, त्रपुष-भल्लिक का संकल्प पूरा हुआ।

बोधिसत्त्व ने त्रपुष-भल्लिक के लिए स्वस्ति-शब्द कहे, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर सभी दिशाएं तुम्हारे लिए मङ्गलकारी हों, सभी दिशाओं के अधिष्ठाता नक्षत्र तुम्हारा पालन करें। चारों दिशाओं की बत्तीस देवकन्याएं, आठ श्रमण, आठ ब्राह्मण इन्द्रसहित आठ देवता, तुम्हारी रक्षा करें। सौ वर्ष से भी अधिक आयु का उपभोग करो। तुम अपने पुण्य कर्मों से मधुसंभव नामक बुद्ध बनोगे। त्रपुष और भल्लिक दोनों भाइयों ने बुद्ध की शरण ग्रहण की।

पच्चीसवें अध्येषणा नामक परिवर्त्त में मुख्यतया शिखी ब्रह्मा द्वारा धर्मचक्रप्रवर्त्तन के लिए प्रार्थना की गई है। अन्य बोधिवृक्ष देवता धर्मरुचि, धर्मकाम, धर्ममति और धर्मचारी ने भी धर्मचक्रप्रवर्तन की अध्येषणा की। बोधिसत्त्व ने वाराणसी के पास उत्तम वन ऋषिपत्तन को धर्मचक्र-प्रवर्त्तन के लिए चुना।

छब्बीसवें 'धर्मचक्र प्रवर्त्तन' परिवर्त्त में बोधिसत्त्व किन्हें धर्म का उपदेश दें, इस सम्बन्ध में विचार करते हैं या भद्रवर्गीयों को इसके उपयुक्त मानकर, उन्हें सर्वप्रथम धर्मोपदेश करते हैं। यहां आजीवक उपग और बोधिसत्त्व के संवाद का वर्णन है जिसमें जैन धर्म के सिद्धान्तों का उल्लेख है।[1] बोधिसत्त्व गया से रोहित वस्तु, वहां से उरुबेला, उरुबेला से अणाल, अणाल से सारथिपुर सारथिपुर से गंगा नदी को पार करने की इच्छा की, परन्तु उनके पास पैसे नहीं पहुंचे। थे, नाविक मल्लाही ने पैसे मांगे। बोधिसत्त्व ने कहा मेरे पास उतराई नहीं है, वह आकाश मार्ग से इस किनारे से उस किनारे तक पहुंचे। नाविक ने यह बात राजा बिम्बिसार से कही, बिम्बिसार ने तब से सभी प्रव्रजितों की उतराई माफ कर दी।

धर्मचक्र प्रवर्त्तन से पूर्व अनेकों दिव्य-चमत्कार हुए। बोधिसत्त्व जनपदों में विचरण करते हुए, वाराणसी में ऋषिपत्तन मृगदाव पहुंचे। वहां उनकी पंचभद्रवर्गीयों से मुलाकात हुई। वहां सप्तरत्नमय हजारों आसन प्रादुर्भूत हुए। पृथिवी १८ महानिमित्तों से कांप उठी।[2] यहां देवताओं, बोधिसत्त्वों, देवपुत्रों आदि ने 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' संसार पर अनुग्रह के लिए धर्म की महावृष्टि, धर्म के शंखनाद और धर्म की महादुन्दुभि के लिए अध्येषणा की।

---

१. ल० वि० (शास्त्री) श्लोक १४२१, १४२२, १४२३
२. वही (वैद्य) गद्यभाग, पृ० २९९

बोधिसत्त्व ने मध्यमाप्रतिपदा (मध्यममार्ग) रूप अष्टाङ्गमार्ग का, चार आर्यसत्यों, द्वादशाकार ज्ञान दर्शन, अनात्मवाद, त्रिरत्न आदि का उपदेश दिया। पञ्चभद्रवर्गीय भिक्षुओं, साठ करोड़ देवताओं, रूपधातु के अस्सी करोड़ देवताओं, चौरासी हजार मनुष्यों को धर्मचक्षु से लाभ प्रदान किया। महासत्त्व मैत्रेय को बोधिसत्त्व ने धर्मचक्र के गुणों को समझाया। यहां बोधिसत्त्व तथागत के शरीर के लक्षणों, बल, वैशारिद्य, उद्‌घोष, सर्वपूज्यत्व आदि का उल्लेख है।

सत्ताइसवां परिवर्त्त निगम परिवर्त्त कहलाता है। इसमें ललितविस्तर धर्म-पर्याय की महिमा का विस्तृत वर्णन है।

ग्रन्थकार के अनुसार जो इस धर्मपर्याय को ग्रहण करेगा, वह उत्कृष्ट रूप, उत्कृष्ट बल, उत्कृष्ट परिवार, उत्कृष्ट प्रतिभा, उत्कृष्ट निष्क्रमण (यात्रा), उत्कृष्ट परिशुद्धि, उत्कृष्ट समाधि एवं उत्कृष्ट प्रज्ञा द्वारा प्रकाशित धर्मों को प्राप्त करेगा। लेखक के अनुसार इस धर्मपर्याय के कथन करनेवालों के लिए आसन देने वाले, भाषण पर साधुकार देनेवाले, पुस्तक लिखकर धारण करने वाले, विस्तार पूर्व प्रकाशित करने वाले को, ध्यानपूर्वक सुनने वाले को क्या-क्या फल प्राप्त होते हैं, इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख इस निगम परिवर्त्त में हुआ है। कवि या लेखक की दृष्टि में इस धर्मपर्याय का जिस नगर, निगम, जनपद, प्रदेश, चक्रम, अथवा विहार में प्रचार होगा, वहां किसी प्रकार के भय, संक्षोभ आदि नहीं होते।[1] लेखक के अनुसार यह ग्रन्थ सुभाषितराज है जहां इसकी स्थिति है वहां बोधिसत्त्व सदा आवास करते हैं। इसके एक पद के उच्चारण से भी अनन्त शुभ प्रतिभा प्राप्त होती है।[2] इसे सुनकर जो आचरण करता है, वह नर-नायकों में अनुत्तर हो जाता है साथ ही समुद्र के समान अक्षय भी बन जाता है।[3]

इस प्रकार ललितविस्तर के अध्ययन, श्रवण, मनन, लेखन, प्रवचन, भाषण आदि से आठ या नौ फलों एवं ऋद्धियों-सिद्धियों और उत्तम प्रज्ञा आदि की प्राप्ति होती है।

---

१. ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० ३१८

२. (क) राजा ह्ययं सर्वसुभाषितानां योऽभ्युद्‌गतः सर्वतथागतानां गृहे स्थित-
स्तस्य तथागतः सदा, तिष्ठेदिद यत्राहि सूत्ररलम्।

(ख) प्रतिभां स प्राप्नोति शुभामनन्तां, एकं पदं वक्ष्यति कल्पकोटी न
व्यञ्जना भ्रस्यति नापि चार्था, दद्याच्च यः सूत्रमिदं परेभ्यः।

—ल० वि० (शास्त्री) श्लोक १५०२, १५०३

३. ल० वि० (शास्त्री) श्लोक १५०४

ललितविस्तार में चमत्कार एवं निमित्त

चमत्कार : प्रभाव—लोक में विद्यमान किसी भी पुरुष के प्रति अतिश्रद्धा पूर्ण आकर्षण के लिए, उस व्यक्ति में चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति का होना आवश्यक होता है। लोगों को चमत्कृत करने की शक्ति अथवा ऐसी शक्ति का होना, जो जन-सामान्य में न हो, ऐसी शक्ति उसे लोकोत्तर बना देती है, लोकोत्तर बनने के बाद वह समस्त लोक में पूज्य बनने लगता है। इस प्रकार की शक्तियां किसी भी व्यक्ति को साधना करने से स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये आठ सिद्धियां लोक में सुविदित रही हैं।[1] महर्षि कपिल के सांख्यशास्त्र में भी इन आठ सिद्धियों की चर्चा मिलती है।[2] महर्षि पतञ्जलि ने अहिंसा आदि यमों के पालन से अनेक सिद्धियों की चर्चा की है, इनमें अहिंसा के पालन से वैरत्याग' सत्य के व्यवहार से क्रियाओं में सफलता, अस्तेय की प्रतिष्ठा से समस्त रत्नों की प्राप्ति, ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से अतिशाय बल की प्राप्ति एवं अपरिग्रह की साधना से जन्म-जन्मान्तर के विवरण का बोध होना मुख्य है।[3]

इनके अतिरिक्त पञ्जलि ने भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्,' 'चन्डे तारा व्यूह ज्ञानम्,' 'ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्,' 'नाभिचक्रे कायब्यूहज्ञानम्,' 'कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा-निवृत्ति,' कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्' 'मूर्धज्योतिषि सिद्धिदर्शनम्,' 'प्रातिभाद्वा सर्वम्,' हृदये चित्तसंवित्,' 'सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्था-त्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्'[4] इत्यादि सूत्रों में अनेकानेक सिद्धियों का विवरण दिया है।

किसी भी महापुरुष के अनुयायियों का समूह अपने मार्गदर्शक नेता के या गुरु आदि के वास्तविक गुणों का प्रचार इस प्रकार करते हैं कि और इस प्रकार

---

१. अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः।
—अमरसिंह, अमरकोश, स्वर्गवर्ग, पृ० १५

२. ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुखविद्यातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कश स्तिविधः ॥—सां० का० ४७, ५१
चतुर्वेदी, व्रजमोहन, सांख्यकारिका पृ० २०६, २१८-२२१

३. योगसूत्र २, ६५, ३६, ३७, ३८, ३९

४. वही, सूत्र २६-३५

के चमत्कारिक गुणों के न रहने पर, विस्तृत कल्पित कथाओं के माध्यम से उसमें चमत्कारिक गुणों का आरोप भी करते हैं जिससे कि जनसामान्य उनके आराध्य अथवा पूज्य के प्रति, आकृष्ट होकर उनके समूह में सम्मिलित हो जाए, और उनकी शक्ति निरन्तर अनुयायियों के बढ़ने से बढ़ती रहे। मीमांसा शास्त्र में इस प्रकार के श्रुतिवचनों को अर्थवाद की संज्ञा दी गयी है। सभी धार्मिक संप्रदायों में अपने धर्म के प्रवर्त्तकों के संबंध में चमत्कार पूर्ण कथन पर्याप्त मात्रा में किये गये हैं। यही स्थिति ललितविस्तर में है। यहां भी बौद्ध-धर्म के प्रवर्त्तक तथागत बोधिसत्त्व के प्रभावमात्र से होने वाले अतिशय चमत्कारपूर्ण कार्यों का वर्णन किया गया है।

बौद्ध धर्म के प्रारम्भिक काल में, बुद्ध के समय चमत्कारों का प्रयोग निषिद्ध रहा है। उनके बाद प्रथम, द्वितीय संगीतियों में बौद्ध धर्म का जो संगायन हुआ उसमें भी साधना की प्रधानता थी, अर्हत्त्व उसका आदर्श था और निर्वाण लक्ष्य। अर्हत् राग आदि मलों का उच्छेद कर क्लेशबंधन से विनिर्मुक्त होने का प्रयत्न करता था, उसके लिए साधना करता था। उसका साधना मार्ग श्रद्धा, शील, समाधि था, जिसका विकास अष्टांगिक आर्य मार्ग (सम्यक् संकल्प···सम्यक् समाधि) आदि के रूप में हुआ। इस साधना प्रधान धर्म को स्थविरवाद (थेरवाद) के नाम से उल्लिखित किया जाता है। स्थविरवादियों के मत से बुद्ध यद्यपि लोकज्येष्ठ और लोकश्रेष्ठ हैं तथापि बुद्ध की काया भी जरा-व्याधि-मरण से, दुखों से विनिर्मुक्त न था। मोक्षमार्ग का अनुसरण, शील की प्रतिष्ठा एवं ब्रह्मचर्य आदि का पालन करने से बुद्ध निर्वाण के निकट पहुंच आये थे। पुर्वजन्मों में पुण्यराशि का संचय करने के कारण उन्होंने अनन्तज्ञान प्राप्त किया था और इस अवस्था तक पहुंचे थे, किन्तु उनके अनुसार वे लोकोत्तर एक विशेष अर्थ में ही थे।

स्थविरवाद से महायान में आते-आते बुद्ध में पूर्ण आलौकिक गुण आ जाते हैं। यहां (महायान) में बुद्ध को केवल अलौकिक गुणव्यूह सम्पत्ति से ही समन्वित नहीं किया गया, अपितु उनका व्यक्तित्व ही बदल दिया गया है। बुद्ध, अजन्मा, पञ्चमुक्त, अव्यय एवं आकाश प्रतिसम हो गये। यहां आकर बोधिसत्त्व (तथागत बुद्ध) महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों एवं अस्सी अनुव्यंजनों से समन्वागत हो जाते हैं। उनका तेज देवताओं के तेज को भी अभिभूत कर देता है।

महायानवादी प्राचीन विचारवादियों (स्थविरवादियों) को ही हीनयानवादी कहते हैं। हीनयान को ही श्रावकयान भी कहा गया है। इसका प्रतिपक्ष महायान बोधिसत्त्वयान या अग्रयान है।[१]

क्यों कि ललितविस्तर महायान शाखा का ग्रन्थ है, अतः यह स्वाभाविक है कि इसमें बुद्ध को (तथागत बोधिसत्त्व को) अलौकिक चमत्कारों से परिपूर्ण अतिशय प्रभावपूर्ण चित्रित किया जाए।

ललितविस्तर ग्रन्थ के कथानक का आरम्भ ही चमत्कार से होता है। भगवान् तथागत ज्ञानकौण्डिन्य आदि बत्तीस हजार बोधिसत्त्वों के साथ विहार कर रहे थे। एक समय वे रात्रि के मध्य में बुद्धालंकार नामक समाधि में बैठे थे, उसी समय उनके मूर्धा से पूर्वबुद्धानुस्मृत्यसंगाज्ञानालोकालंकार नामक रश्मि उष्णीष विवर को पार करती हुई निकली।[२] तथा उस रश्मिजाल से कुछ गाथायें प्रकट हो गयीं।[3] मूर्धा से रश्मि का निकलना और रश्मि से शब्दमयी गाथा का प्रकट होना, दोनों ही यदि असम्भव नहीं तो अतिशय चमत्कारपूर्ण तो है ही।

ललितविस्तर के अनुसार जब तथागत बोधिसत्त्व मार्ग में अवक्रान्ति करने वाले थे, सहापति ब्रह्मा अड़सठ लाख ब्रह्माओं के साथ छिपकर उन्हें अभिवादन करते हैं।[४] तथा अन्य साथियों से तथागत के गर्भ में विश्राम के लिए, रत्नव्यूह लाने के लिए योजना बनाते हैं।[५] वह रत्नव्यूह तीन सौ योजन विस्तीर्ण ब्राह्म-विमान में लाया जाता है।[६] और जम्बूद्वीप में उतारा जाता है। वह रत्नव्यूह दिव्यवस्त्रों, दिव्य दिव्य-मालाओं, दिव्यगन्धों, दिव्य-पूष्पों, दिव्यवाद्यों और दिव्य परिभोगों से युक्त था।[७] महेश आदि देवता उसे घेरे हुए थे, देवों में इन्द्र, शक्र सुमेरु पर स्थित होकर, उस रत्नव्यूह पर छत्र लगाये हुए, सिर उठाकर, आश्चर्यान्वित होकर उसे देख रहे थे। सभी देवता उसके दर्शनार्थ व्याकुल थे।[८] इस रत्नव्यूह को देवों ने माया देवी के गर्भ में

---

१. बौद्धधर्म दर्शन, पृ० १०८
२. ल० वि० (वैद्य) पृ० २ पं० १६-१९
३. वही, पृ० २ पं० २०
४. वही, पृ० ४७ पं० १७
५. वही, (वैद्य) पृ० ४७, पं० २५
६. वही, पृ० ४८ पं० १-३
७. वही, पृ० ४८ पं० ५-६
८. वही, पं० ४८, १६

बोधिसत्त्व के लिए स्थापित किया था, जिसे स्वप्न में माया देवी ने जैसे हाथी प्रविष्ट हुआ हो, ऐसा समझा था।[1]

बोधिसत्त्व जब मां के गर्भ में थे, तब उनकी माता मायादेवी न कभी उदर में पीड़ा आदि का अनुभव करती थीं। और न राग-द्वेष, मोह आदि मानसिक पीड़ाओं से आक्रान्त थी। काम, वितर्क, शीत, ताप आदि व्यथाएं, दुःस्वप्न आदि से पीड़ित नहीं होती थीं।[2] इतना ही नहीं यदि कोई रोगी, भूत-बाधा आदि से पीड़ित व्यक्ति उनके निकट आता था तो बोधिसत्त्व की माता अपना दाहिना हाथ उसके सिर पर रख देती थी, और कोई भी तृण-गूल्म उठाकर रोगी को दे देती थी तो रोगी तत्काल हर प्रकार के रोगों से मुक्त हो जाता था।[3] संपूर्ण प्राकृतिक वातावरण, ग्रह, नक्षत्र आदि शुभ और सुखद हो आये थे।[4] इतना ही नहीं कपिल वस्तु जनपद के समस्त प्राणी अधर्म से निवृत्त होकर धर्म का आचरण कर रहे थे। सारे नगर में योग-क्षेम और सुभिक्ष था। सभी दान और पुण्य कर रहे थे, चांदनी रातों में क्रीडा सुख तथा उद्यान और विहारों में विहार कर रहे थे :—

बोधिसत्त्वस्य खलु पुनःभिक्षवो मातुः कुक्षिगातस्याधिष्ठितं सततं समितं रात्रिदिवं दिव्यानि तूर्याणि अभिनिर्माय प्रनदन्ति स्म। दिव्यानि च पुष्पाणि अभिप्रवर्षन्ति स्म। कालेन देवा वर्षन्ति स्म। कालेन वायवो वान्ति स्म। कालेन ऋतवो नक्षत्राणि च परिवर्तन्ते स्म। सेमं च राज्यं सुमिक्षं च सुमनाकुयमनुभवति स्म। सर्वे सा कपिलाह्वये महापुरे शाक्त्या अन्ये च सत्त्वाः खादन्ति स्म, पिबन्ति स्म, रमन्ते स्म, क्रीडन्ति स्म, प्रविचारयन्ति स्म दानानि च ददति स्म, पुण्यानि च कुर्वन्ति स्म, कौमोद्यामिव चातुर्मास्यामेकान्तरे क्रीडासुखविहारै-र्विहरन्ति स्म।[5]

ललितविस्तर के अनुसार शैशवकाल में ही बोधिसत्त्व उद्यानभूमि में प्रविष्ट होकर, एकाग्रचित्त होकर, ध्यान में बैठते थे और अविलम्ब सवितर्क, सविचार, विवेकज और प्रीतिसुख नामक ध्यानों (समाधि) में विहार करने लगते

१. बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० ५० पं० ६-१०

२. वही, पृ० ५३ पं० २-६

३. वही, पृ० ५३ पं० १२-१८

४. वही, पृ० ५३, पृ० २२-२५

५. ल० वि० (वैद्य) पृ० ५३, पं० २२-२६

थे ।[1] वनखण्ड की देवता[2] तथा ऋषिगण स्तुति करते थे ।[3] स्वयं उनके पिता उनके तेजस्वी रूप को देखकर आश्चर्यान्वित होते थे ।[4] और उस तेज से अभिभूत होकर चरण वन्दना करने लगते थे ।[5]

इसी प्रकार जब तथागत बोधिसत्त्व कृषिग्राम को देखने के लिए गये थे और एक जम्बुवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गये । इस समय भी पांच ऋषि आकाश मार्ग से जाते हुए बोधिसत्त्व की तेजस्विता के कारण जब लांघ नहीं सके[6] तो तरकर कारण जानना चाहते हैं तब वनदेवता उनका गुणगान करते नहीं थकते ।[7] और बोधिसत्त्व का परिचय प्राप्त करने के बाद वे ऋषिगण पुनः श्रद्धा से अभिभूत होकर उनकी स्तुति करने लगे ।[8]

ललितविस्तर के अनुसार एक बार पाँच ऋषि आकाशमार्ग से जा रहे थे किन्तु वे बोधिसत्त्व के तेज के कारण जम्बुद्वीप को लाँघ नहीं सके ।[9] कारण का अनुसंधान करने के लिए वे भूमि पर उतरे और उन्होंने देखा कि बोधिसत्त्व वहां ध्यानस्थ होकर विराज रहे हैं ।[10] सूर्य उन पर छाया नहीं होने देता था, हजारों देवता अंजलि बांधे हुए उनकी सेवा में तत्पर थे ।[11] यह सब बोधिसत्त्व का अद्भुत प्रभाव था ।

ललितविस्तर के अनुसार जब बोधिसत्त्व को अध्ययन के लिए लिपिशाला में ले जाया गया तो वहां के आचार्य विश्वामित्र बोधिसत्त्व के तेज को न सह सकने के कारण औंधे होकर गिर पड़े ।[12] और जब बोधिसत्त्व ने यह पूछने के लिए कि आप हमें कौन सी लिपि सिखायेंगे, ब्राह्मी आदि चौंसठ लिपियों के

---

१. ल० वि० (वैद्य) पृ० ९० पं० २-११
२. वही (शास्त्री) श्लोक ३०८-३१०
३. वही, श्लोक ३११-३१५
४. वही, श्लोक ३१६-३१८
५. वही श्लोक ३१९
६. ल०वि० (वैद्य) पृ० ९० पं० १२-१८
७. वही, (शास्त्री) श्लोक ३०८, ३०९, ३१०
८. वही, श्लोक ३११, ३१५
९. वही, श्लोक ३२६, ३२७
१०. वही, श्लोक ३२८
११. वही, श्लोक ३३०
१२. वही, पृ० ८७, पं० १३-१४

नाम गिना गये तो विश्वामित्र केवल विस्मित ही नहीं हुए, बल्कि उनका मान और दर्प भी नष्ट हो गया ।[1]

मार द्वारा, बोधिमण्ड के लिए आक्रमण करने के अवसर पर भी ललितविस्तर में बोधिसत्त्व के अपूर्व प्रभाव का वर्णन किया है । उस समय उनका मार्ग सुगंधित जल से सिंचित और पुष्पों से अवकीर्ण हो गया । वृक्ष और पर्वत भी प्रणाम की मुद्रा में अवनत हो गये । सद्यः उत्पन्न शिशु भी बोधिमण्ड की ओर पैर करके वहीं सोये । कामावचर देव पूरे मार्ग पर दर्शक बनकर खड़ थे । मार्ग के दोनों ओर सात रत्नवेदिका निर्मित हो गयीं । सात ताल ऊँचे रत्नजाल से अलंकृत, दिव्य छत्रध्वज और पताकाएं स्थापित हो गयीं । सात रत्नमय ताल खड़े हो गये । सुगंधित जल से परिपूर्ण, सुवर्ण बालुका से युक्त, उत्पल, पद्म, कुमुद और पुण्डरीक से ढकी हुई, रत्नवेदिकाओं से घिरी हुई, वैदूर्य, मणि-रत्न और सोपानवाली हंस, कारण्डव, चक्रवाक एवं मयूर से कूजित पुष्करिणियां निर्मित हो गयीं । अस्सी हजार अप्सरायें सुगन्धित जल से मार्ग को सींचने लगीं । अस्सी हजार अप्सरायें मार्ग में पुष्प बिखेर रही थीं । इतनी ही अप्सरायें चन्दन, अगुरु चूर्ण लेकर, धूपघटिका लेकर खड़ी हो गयीं । सभी ताल वृक्षों के सामने एक-एक रत्नव्योमक (बहुत ऊँची मचान) बना दिये गये, जिनमें प्रत्येक पर पांच-पांच हजार अप्सरायें दिव्य संगीत ध्वनियां कर रही थीं । यह सब अलौकिक चमत्कार घटित हो उठा ।[2] ललितविस्तर के अनुसार उस समय प्रकृति का एक-एक अंग प्रत्यंग सज गया और मांगलिक कृत्य के संपादन में व्यस्त हो उठा, चाहे वह पशु पक्षी हो अथवा तृणगुल्म तृणवर्ती नामक त्रिसाहस्र और महासाहस्र के अधिपति ब्रह्मा ने सहापति-ब्रह्माओं की परिषद् को संबोधित कर कहा कि आप सब महासत्त्व बोधिसत्त्व की पूजा और उपस्थान के लिए समुत्सुक रहें ।[3] इसके अनन्तर वशवर्ती महाब्रह्मा स्वयं स्तुति करने लगे ।[4]

ललितविस्तर के अनुसार जब बोधिसत्त्व बोधिमण्ड पर पहुंचे तो उनके शरीर से अद्भुत प्रभा निकली, जिसके फलस्वरूप सभी अपाय शान्त हो गये ।[5]

---

१. ल०वि० (शास्त्री) पृ० ८८ पं० १० १२ एवं श्लोक ३०४

२. वही, (वैद्य) प्र० १९९ २००

३. वही, पृ० २००, पं० ११ एव २४, २५

४. वही (शास्त्री) श्लोक ८५१, ८५६

५. वही, पृ० २५-२६

विश्व के सभी जनों की दुर्गतिजन्य वेदनायें, समाप्त हो गयीं, विकलेन्द्रिय परिपूर्ण इन्द्रियवाले हो गये, रोगी रोगमुक्त हो गये, भयभीत आश्वस्त हो गये, बन्धनों में पड़े लोग बन्धन मुक्त हो गये, दरिद्र संपन्न हो गये, क्लेशपीड़ित सुखी हो गये, भूखे-प्यासे तृप्त हो गये, गर्भवती स्त्रियां सुख से प्रसविनी हो गयीं, जीर्ण, दुर्बल सबल हो गये। सब लोगों के चित्त से राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ, हिंसा, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि निवृत्त हो गये।[1] कालिक नागराज स्तुति करने लगे।[2]

जब बोधिसत्त्व बोधिमण्ड के नीचे बैठे थे तब कोई देवगण आकाश से मणिरत्न बिखेर रहे थे, मन्दार, चम्पक आदि निरन्तर पुष्प वर्षा कर रहे थे, चन्द्र और सूर्य अपने मन्द प्रकाश से सबको सुखी कर रहे थे।[3] उस समय उनके रोम-रोम से मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा (ब्रह्मविहार) के स्वर निकल रहे थे।

ललितविस्तर में प्राप्त विवरण के अनुसार बोधिमण्ड के नीचे, सम्यक् बोधिप्राप्त करने के लिए विराजमान बोधिसत्त्व से युद्ध के लिए जब मार अपनी समस्त सेना के साथ पहुँचा तो, बोधिसत्त्व के प्रभाव से उसकी सेना एवं परिवार के आधे से अधिक लोग बोधिसत्त्व के प्रतिश्रद्धावान् होकर उनकी स्तुति में लग गये एवं मार युद्ध से रोकने लगे। स्वयं मार का सेनापति भद्रसेन बोधिसत्त्व की महिमा से न केवल प्रभावित होता है बलिक कहता है कि तुम्हारे आनुयात्र शक्र, लोकपाल, किन्नर, असुरेन्द्र, गरुड़ेन्ड सभी अंजलि बांधकर स्तुति कर रहे हैं।[4] वह दर्शन करके ही कहता है कि इसमें कोई संशय नहीं है कि बोधिसत्त्व, पुण्यबल, प्रज्ञाबल, ज्ञानबल, समाबल, वीर्यबल वाले हैं इस प्रकार सभी बलों से युक्त हैं और नमुचि पक्ष को बलहीन बना देनेवाले हैं।[5]

इतना ही नहीं ललितविस्तरकार का यह भी कथन है कि मार जब बोधिसत्त्व के समक्ष पहुंचता है बोधिसत्त्व को देखते ही उनके प्रभाव से इतना अभिभूत और भयभीत हो जाता है कि बोधिसत्त्व यदि दाहिना हाथ उठाकर अपना सिर भी पोंछते हैं तो उसे लगता है कि हाथ में खड्ग लिये हुए, मारने

१. ल०वि० (शास्त्री)पृ० २०२ पं० २६, प्र० २०३ पं० ३, श्लोक ८५७, ८६८
२. वही (शास्त्री) श्लोक ८८२, ८८९
३. वही, श्लोक ९२७, ९२८, ८२९, ९३०
४. वही, श्लोक १००१, १००३
५. वही, श्लोक १०१८

को आ रहे हैं और वह दक्षिणामुख भाग उठता है। पुनः लौटकर जब वह असि, धनुषवाण, शक्ति, तोमर, परशु, भुशुण्डी, मुसल, गदा, चक्र, वज्र, मुद्गर, वृक्ष, शिला, पाश, लोहे के गोले आदि अतिभयानक अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग करता है तो बोधिसत्त्व के प्रभाव से वे मार्ग में, उन तक पहुँचने से पूर्व पुण्य बन जाते हैं।[1]

धर्मचक्रप्रवर्तन की वेला में ललितविस्तरकार बोधिसत्त्व के अद्‌भुत प्रभाव का वर्णन करता है जो पूर्व वर्णित प्रभाव से बहुत भिन्न नहीं है। इसके अनुसार उस काल में त्रिसाहस्र एवं महासाहस्र लोकधातु में ६ विकार एवं अठारह महानिमित्त प्रकट हुए।[2] उस समय चारों ओर ऐसी ध्वनि निकल रही थी, जो हर्ष, तोष, प्रेम, प्रसाद, प्रह्लाद आदि उत्पन्न करती थी। सभी के मानस से हठ, तिरस्कार, त्रास, भय एवं स्तम्भित भाव समाप्त हो गया था।[3] सभी प्राणी दुःखरहित सर्वसुखसंपन्न हो गये थे···सभी एक दूसरे के प्रति इस प्रकार मैत्री और हितैषिता से संपन्न हो गये थे, जैसा भाव माता, पिता में हुआ करता है।[4]

ललितविस्तर में असितमुनि तथा अन्य अनेक मुनियों के आकाश गमन की चर्चा की गई है जो निश्चय ही विशिष्ट यौगिक चमत्कार की कोटि में गिना जाएगा। किन्तु वे बोधिसत्त्व की तेजस्विता के कारण उनको लांघने में समर्थ नहीं थे, उसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। एक बार बोधिसत्त्व को को गया में ही सुदर्शन नागराज ने भोजन और वस्त्र के लिए निमंत्रित किया। वे गया से रोहितवस्तु, रोहितवस्तु से उअबिल्वाकल्प, वहां से अणाल और अणाल से सारथिपुर गये। उसके बाद गंगा नदी पड़ गई, जिसमें बाढ़ आई हुई थी, एवं ऊपरी तट तक भरी हुई वह बह रही थी। नदी पार करने के लिए वे नाविक के पास गये और उससे पार ले जाने को कहा। नाविक ने उतराई के लिए निर्धारित शुल्क मांगा। बोधिसत्त्व के पास धन नहीं था, वह शुल्क कहाँ से देते। उन्होंने नाविक से कहा उतराई तो नहीं है। नाविक ने इस स्थिति में जब उन्हें नदी पार कराने में कोई उत्सुकता नहीं दिखाई तो वे आकाशमार्ग से ही नदी के पार पहुंच गये।[5] तथागत के इस चमत्कार की

---

१. ल०वि० (वैद्य), पृ० २३२ पं० ५-१०
२. वही, पृ० २९९, पं० १४-१९
३. वही, पृ० २९९ पं० २०-२३
४. वही, पृ० २९९, पं० २५-२७
५. वही, (वैद्य), पृ० २९७ पं० १०-१७

जानकारी जब बिम्बसार को हुई तो उस दिन से उन्होंने सभी भिक्षुओं की उतराई माफ कर दी।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ललितविस्तर में सर्वार्थसिद्ध बोधिसत्त्व के जन्म से पूर्व के चमत्कार, जन्म के समय हुए चमत्कार, संबोधि के समय होनेवाले चमत्कार एवं धर्मचक्रप्रवर्तन आदि के समय होनेवाले चमत्कारों का विस्तृत वर्णन प्राप्त है। इस ग्रन्थ में महायान बौद्ध परम्परा के अनुसार तथागत के जीवन में स्थान-स्थान पर विविध चमत्कारों का तथा उनके अतिशय प्रभावपूर्ण जीवन का वर्णन निबद्ध है।

निमित्त, स्वप्न एवं भविष्यकथन

चमत्कार किसी व्यक्ति के प्रभाव से हुआ करते हैं और निमित्त (शकुन) प्रकृति में हुआ करते हैं। ललितविस्तर में प्राप्त संकेतों से विदित होता है कि उस समय समाज में लोग निमित्तों (शकुनों) पर न केवल बहुत विश्वास करते थे अपितु उस पर बहुधा आश्रित भी हो जाते थे। स्वप्न को निमित्तों में संभवतः सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता था। ग्रन्थकार ने संभवतः इसीलिए शुद्धोदन की पत्नी मायादेवी, सर्वार्थसिद्ध तथागत की पत्नी गोपा और मार के बत्तीस प्रकार के स्वप्नों का निबन्धन किया है। स्वप्नों की व्याख्या शकुन के रूप में की जाती थी। शुद्धोदन की पत्नी महारानी माया देवी ने जब स्वप्न देखा कि हिम एवं रजत की तरह कान्तिवाला, ६ दांतों वाला, सुन्दर चरणों और सूंडवाला, लाल सिखाला, सदृढ सन्धि संधानवाला हाथी उसके उदर में प्रविष्ट हो गया है।[2] बोधिसत्त्व के जन्म का घड़ी-मुहूर्त्त आने पर, राजा शुद्धोदन के घर के उपवन में बत्तीस पूर्व निमित्त प्रकट हुए—(१) सब फूलों की कलियां लगकर फूल नहीं रही थीं। (२) पोखरों में उत्पल, पद्म, कुमुद तथा पुण्डरीकों में मुकुल लगकर खिल नहीं रहे थे। (३) उस समय फूल देकर फल देनेवाले वृक्ष, धरती के तल से निकलकर, मुकुलित होकर फल नहीं दे रहे थे। (४) आठ रत्नवृक्ष प्रकट हो रहे थे, आठ संख्या बौद्धधर्म में शुभ मानी जाती है। (५) वीस लाख रत्नों के विधान ऊपर उठ रहे थे (६) अन्तःपुर में रत्नों के अंकुर निकल रहे थे (७) सुगंधित तेल से सुवासित ठंडे और गरम गन्धजल बह रहे थे। (८) हिमालय पर्वत की तराई से सिंह के छोने आकर

१. ल०वि० (वैद्य), पृ० २९६ पं० १८ २१
२. वही, (शास्त्री), श्लोक १५६

कपिलवस्तु नगर की प्रदक्षिणा कर रहे थे, (९) वे सिंह-शिशु किसी प्राणी के हिंसक नहीं थे। (१०) पांच सौ श्वेत हाथियों के बच्चे राजा शुद्धोदन के चरणों को अपनी सूंड के अग्रभाग से खुरचते थे। (११) करधनी बांधे हुए देवताओं के बच्चे राजा शुद्धोदन की गोद में पलथी लगाकर बैठते थे। (१२) नाग-कन्याएं नाना प्रकार की पूजा-सामग्री लिये हुए दिखाई देती थीं। (१३) दस हजार नाग-कन्याएँ मोरपंख लिए गगन-तल पर खड़ी दीखती थीं। (१४) दस हजार जल से भरे घड़े महानगर कपिलवस्तु की प्रदक्षिणा करते दिखाते देते थे। (१५) दस हजार देवकन्यायें सुगन्धित जल से भरी झारियां अपने माथे पर उठाये दिखाइं देती थीं। (१६) दस हजार देव-कन्यायें छत्र, ध्वजाएं तथा पताकाएं लिए खड़ी दिखाई देती थीं। (१७) कई लाख अप्सराएं शंख, भेरियां, मृदङ्ग, घंटे लिए हुए प्रतीक्षा कर रही थीं। (१८) सब हवाएं ठहरी हुई थीं, चल नहीं रही थीं। (१९) सब नदियां और निर्झर नहीं बहते थे। (२०) चंद्रमा और सूर्य के आकाशचारी रथ, नक्षत्र और राशि-मण्डल घूम नहीं रहे थे। (२१) पुष्य नक्षत्र का योग था (२२) राजा शुद्धोदन का घर रत्न के समान चमकता था (२३) अग्निदेव जल नहीं रहे थे (२४) कूटागारों, महलों, राजद्वार के तोरणों, बारादरियों के तलों में रत्न लटकते दिखाई देते थे। (२५) वस्त्र-विशेषों (दूष्यों), खजानों (गंजों) के तथा रत्नों के दरवाजे खुले दिखाई देते थे। (२६) कौओं, उल्लुओं, गीधों, भेड़ियों, सियारों की बोलियां अन्तर्धान हो गई थीं (२७) शुभ शकुन सूचक शब्द सुनाई पड़ते थे (२८) सब जानपदों के कार्य पूर्ण हो चुके थे। (२९) ऊँचे-नीचे पृथिवी प्रदेश समतल हो गये थे। (३०) मार्ग, चौराहे, तिराहे, गलियां (रथ्या), अन्तरापणमुख (बाजारों के मंडल), हाथों से जैसे परिमार्जित किये गए हों तथा फूलों से सुशोभित हो रहे थे। (३१) गर्भ-वती स्त्रियां सुखपूर्वक प्रसव करती थीं (३२) शाल-वन के देवता ऋद्धि से पत्तों के बीच ऊपर के शरीरों का निर्माण कर नमस्कार कर रहे थे। इस प्रकार ये उपर्युक्त बत्तीस पूर्व निमित्त प्रकट हुए।[1]

कभी कभी किन्हीं निमित्तों के होने की पूर्वसूचना या भविष्यवाणी भी हुआ करती थी।[2] बोधिसत्त्व के जन्म के समय को देखकर राजा शुद्धोदन के श्रेष्ठ घर में आठ पूर्व निमित्त (चिह्न) प्रकट हुए। (१) भवन साफ सुथरा स्वच्छ था (२) सभी पक्षी मधुर बोली बोल रहे थे। (३) आराम, वन, उद्यानों के वृक्ष

१. ल०वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० ५७ पं० १ २५

२. वही, पृ० २८ पं० १८-२०

फूल-फल, कलियों और फूलों से युक्त हो गये। (४) सभी पुष्करिणियां पद्मों से आच्छन्न हो गईं (५) राजा शुद्धोदन के श्रेष्ठ भवन में घी, तेल, मधु, शर्करा आदि के पात्र उपयोग करने पर भी भरे रहते थे। (६) अन्तःपुर में भेरियां, मृदङ्ग, ढोल, वीणा, वेणु आदि बाजे बजाए जा रहे थे। (७) सोने चाँदी, मोती, नीलम, मूंगे, मनसिल के पात्र परिपूर्ण हो सुशोभित हो रहे थे (८) वह भवन चन्द्रमा और सूर्य को लज्जित करने वाली आभा से, प्रभा से चमकने लगा था।[१]

स्वप्न का विवरण सुनकर लोग ब्राह्मणों एवं ज्योतिषियों को बुलाकर, उनसे उसका फल पूछते थे। इस प्रकार के निमित्तों का फल वेदपाठी, शास्त्रविद् ही अधिक अच्छा बता सकते थे। अतः उन्हें ही इस कार्य के लिए निमंत्रित किया जाता था।[२] इस प्रकार के स्वप्नों का फल जानने के लिए सन्देशवाहकों अथवा दूतों का अथवा पत्रलेखों का प्रयोग कभी नहीं किया जाता था, बल्कि स्वप्न को देखनेवाला स्वयं ही अपने देखे हुए स्वप्न को सुनाया करता था[३] स्वप्न का फल कथन करते हुए सर्वप्रथम कुल के लिए उसके फल पर विचार होता था, उसके बाद अन्य पक्षों पर। ललितविस्तर में ब्राह्मणों द्वारा स्वप्नफल बताया गया है।[४]

ललितविस्तर के अनुसार नवजात शिशु के शारीरिक अंग संस्थान, उनकी बनावट एवं चिह्न आदि को देखकर भी कुछ विशिष्ट लोग बालक के भविष्य के संबंध में कथन करते रहते थे। साधु सन्यासी भी इस कार्य को बहुत महत्त्व देते थे। तथागत बोधिसत्त्व का जन्म होने पर असित मुनि राजा शुद्धोदन के घर आकर नवजात शिशु का भविष्यकथन करते हैं।[५] शरीरगत चिह्नों में, चरणों में चक्र-चिह्न को बहुत श्रेष्ठ माना जाता था। ललितविस्तर के अनुसार जिसकेचरणों में चक्र का चिन्ह होता है, वह या तो चक्रवर्ती राजा होता है अथवा बहुत उत्कृष्ट तत्त्वज्ञानी (बुद्ध) सर्वजन पूज्य तो वह होता ही है (राजा वा भवि चक्रवर्ति बलवान् बुद्धो व लोकोत्तमः)।[६]

---

१. ल०वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० २८, २९
२. वही, (शास्त्री) श्लोक १६३ १६४
३. वही, (शास्त्री) श्लोक १६५
४. वही, श्लोक १६५, १६६, १६७
५. वही, श्लोक २५७, २५८, २५९
६. वही, श्लोक २६१

ललितविस्तर के अनुसार शरीर में शुभ और अशुभ सभी प्रकार के लक्षण होते हैं शुभ लक्षणों में उनकी अधिकतम संख्या ३२ हो सकती है। बत्तीस लक्षणों वाला बालक सर्वजन पूज्य होता है। वह राजा भी हो सकता है और परिव्राजक भी।[1]

ललितविस्तर में गोपा ने भी एक भयानक स्वप्न देखा था किन्तु उसने जब उस स्वप्न की चर्चा अपने पति ललितविस्तर के कथानायक तथागत बोधिसत्त्व से की तो उन्होंने निमित्तवेदी ब्राह्मणों को न बुलाकर स्वयं ही उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया। जो इस प्रकार है—

'सब पृथिवी शिखरयुक्त पर्वतों सहित कांप उठी, आंधी से विशाल वृक्ष उखड़ गये, चन्द्र और सूर्य पृथिवी पर गिर गये, उसने स्वयं के केशों को कटा हुआ देखा, मुकुट गिर गया है, हाथ पैर कट गये हैं और वह निर्वस्त्र हो गयी है। हार और करधनी के मनके बिखर गये हैं। घर अव्यवस्थित हो गया है उल्कापात हो रहा है। नगर भर में अंधकार छा गया है और उसकी साजसज्जा नष्ट हो गयी है।[2]

इन निमित्तों (शकुनों) पर गोपा के पति तथागत बोधिसत्त्व की व्याख्या के अनुसार पृथिवी का कांपना और पर्वतों का गिरना यह सूचित करता है कि सभी देवगण, नाग एवं राक्षस स्वप्न देखनेवाले की श्रेष्ठता स्वीकार कर पूजा करेंगे। विशाल वृक्षों आदि के उन्मूलित होने का अर्थ है समस्त क्लेशों का उन्मूलन, केशजाल के छेदन का अर्थ है अविद्या भ्रमजाल का नाश। सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्मण्डल का पतन क्लेशरूपी शत्रु के पतन की सूचना देता है। इत्यादि।[3]

तथागत बोधिसत्त्व पर आक्रमण की तैयारी करते हुए मार भी अपने पराजय से संबंधित निमित्तों को स्वप्न के रूप में ही देखता है। उसका स्वप्न बहुत विस्तृत है उसमें बत्तीस खण्ड (आकार) थे[4] जो निम्नांकित है—

१. घर का अंधकार से भर जाना
२. घर का धूल कंकड़ आदि से भर जाना
३. स्वयं को भयभीत देखना

---

१. ल०वि० श्लोक २६१
२. वही, श्लोक ५६६, ५६६
३. वही, श्लोक ५७२, ५७६
४. वही (वैद्य) गद्यभाग, पृ० २१६

४. मुकुट, कुंडल का गिर जाना
५. होठ, कण्ठ, तालु का सूखना
६. हृदय में जलन का अनुभव
७. उद्यानों का फूल-फल और पत्ते से रहित हो जाना
८. पुष्करिणियों का सूख जाना
९. हंस, क्रौञ्च, मयूर, चटक आदि पक्षियों के पांव गिर जाना
१०. भेरी आदि वाद्ययंत्रों का छिन्न-भिन्न हो जाना
११. पारिवारिक जनों का उदास और विमुख हो जाना
१२. रानी का पलंग से गिरकर अपना सिर धुनना
१३. अपने पुत्रों में श्रेष्ठ, ज्येष्ठ एवं गुणवानों का शत्रु का पक्षधर हो जाना
१४. पुत्रियों का बिलखकर विलाप करना
१५. स्वयं का मलिनाम्बर युक्त हो जाना
१६. स्वयं का मलिन कांति एवं धूलि धूसरित हो जाना
१७. महलों, कूटागारों, तोरणों का धूल धूसरित हों जाना
१८. अपने सैनिकों, सेनापतियों का रोना, चिल्लाना और भागना
१९. समाज के आदरणीय व्यक्तियों द्वारा शत्रु की पूजा सुश्रुषा करना और युद्ध के समय तलवार का म्यान से न निकलना
२०. स्वयं द्वारा आर्त्तनाद
२१. परिवार द्वारा स्वयं को छोड़ दिया जाना
२२. द्वार पर स्थित मंगल कलशों का लुढ़क जाना
२३. ब्राह्मण मुनि द्वारा अमंगल ध्वनि सुनाना
२४ द्वारपाल द्वारा कष्टकर शब्द सुनाना
२५. गगनतल का अंधकार से आच्छादित होना
२६. गृहगत श्री का विलाप करना
२७. ऐश्वर्यहीन होना
२८. स्वपक्ष के लोगों का विपक्ष से मिल जाना
२९. मणिमुक्ताजाल का मधुर ध्वनि न करना एवं टूट कर गिर जाना
३०. अपने भवन का डगमगाना

३१. वृक्षों का टूटना एवं अटारियों का गिरना
३२. अपनी सेना का मारकर गिराया जाना।

स्वप्न में इन दुर्निमित्तों के बारे में या इनका फल मार ने किसी और से नहीं पूछा बल्कि स्वयं ही समझ गया। इससे यह अनुमान किया जा सकता है स्वप्नगत निमित्तों के संबंध में स्वयं भी बहुत लोग जानकारी रखते थे।

इसी प्रकार मार की पुत्रियों ने ३२ प्रकार की स्त्री-माया दिखाई।[1] स्त्री-माया सूचक निमित्त मार के प्रति अशुभ सिद्ध हुए। बोधिसत्त्व और मार का जो संघर्ष चल रहा था, उसमें शुद्धावासकायिक देवपुत्रों ने सोलह प्रकार के आकारों (निमित्तों-चिह्नों) को दिखाकर पापी मार को दुर्बल किया। बोधि-परिचारक देवपुत्रों ने सोलह प्रकार के दुर्निमित्तों द्वारा निरुत्साहित करते हुए मार को परास्त किया।[2]

बोधिसत्त्व की श्री, वृद्धि, तपा, श्रेयसी, विदु, ओजोबला, सत्यवादिनी, समङ्गिनी इन बोधिवृक्ष की आठ अधिष्ठात्री देवताओं ने षोडशोपचारों द्वारा पूजा करके शुभ निमित्तों से (उनकी) स्तुति की।[3]

स्वप्न से भिन्न निमित्त

१४ वें परिवर्त्त में चार निमित्तों को मुख्य माना गया है। प्रथम वृद्ध पुरुष दर्शन, द्वितीय रोगीपुरुष दर्शन, तृतीय मृतपुरुष दर्शन और चतुर्थ प्रव्रजित पुरुष दर्शन।[4] इन चारों निमित्तों का परिणाम यह हुआ कि सर्वार्थसिद्ध सिद्धार्थ ने प्रव्रज्या और भिक्षु जीवन व्यतीत करके निर्वाण या अमृतफल प्राप्ति का निश्चय किया।[5] इसी परिवर्त्त में गोपा और बोधिसत्त्व के स्वप्नों का विवरण है। इस परिवर्त्त का नाम ही कवि ने 'स्वप्न' परिवर्त्त रख दिया है। स्वप्न में प्रकट होने वाले निमित्त सुदूर अथवा निकट भविष्य में होने वाले फलों की सूचना देते हैं। ललितविस्तर के अनुसार कुछ ऐसे निमित्त भी होते हैं जो वर्तमान की सूचना देते हैं अथवा किसी के प्रभाव के रूप में प्रकट होते हैं।

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २३३, २३४
२. (क) वही, पृ० २४२, २४३, २४४
(ख) वही, (शास्त्री), श्लोक १०८२-१०९७
३. वही, श्लोक १०७४-१०८१
४. वही, श्लोक ५४५, ५५०, ५५३, ५५७
५. वही, श्लोक ५५८, ५५९

उदाहरणार्थ तथागत बोधिसत्त्व के गर्भ में आने पर माया देवी किसी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक पीड़ा का अनुभव नहीं करती थीं। मन में दुर्भावनाओं का और इन्द्रियों से पीड़ादायक विषयों की अनुभूतियों का सर्वथा विलय हो गया था। इतना ही नहीं उनके हाथ के स्पर्श से लोगों के दुःख दूर हो जाते थे। इस प्रकार के निमित्तों को यद्यपि प्रभाव कहा जा सकता है किन्तु फिर भी इन्हें अज्ञात प्रभावशाली व्यक्ति के सम्पर्क का सूचक निमित्त कहना उचित होगा।[1]

इसी प्रकार बोधिसत्त्व जब महाभिनिष्क्रमण करने वाले थे, उस समय भी गृह में स्थित पक्षियों ने अपने पीड़ित होने की सूचना दे दी थी। पुष्करिणियों के पद्म मलिन हो गये थे, वृक्ष पत्रों और पुष्पों से विहीन होने लगे थे यह भी भावी किन्तु संलग्न भविष्य की सूचना देने वाले निमित्त हैं।[2]

उस काल में निमित्त की अनेक प्रकार की स्थितियों पर अतिशय आस्था के कारण ही ग्रन्थकार "यावत्तावत् भगवान् निमित्तं प्रादुः करोति। पूर्वका अपि सम्यक्-सम्बुद्धा निमित्तमकार्षुः।"[3] वाक्य में कवि भगवान् तथागत द्वारा स्वयं निमित्त प्रकट करने की चर्चा करते हैं।

ज्योतिषी

उस काल में इस प्रकार के निमित्तों को जानने वाले उसका भली प्रकार रहस्य समझने वालों को नैमित्तिक कहा जाता था। और उनके कथन पर पूर्णतया विश्वास किया जाता था। शाक्यगणों के साथ संस्थागार में बैठे हुए राजा शुद्धोदन से शाक्यगण स्मरण कराते हुए कहते थे कि नैमित्तिकों ने जन्म के ही समय कहा था कि 'यदि कुमार अभिनिष्क्रमण करेंगे तो सम्यक् संबुद्ध होंगे और यदि अभिनिष्क्रमण नहीं करेंगे तो चक्रवर्ती राजा बनेंगे।[4] किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने के लिए उसके उचित समय को पहचानने वाले को बहुत महत्त्व दिया जाता था। प्रायः प्रत्येक कार्य करने के लिए मुहूर्त्त पर विचार किया जाता था तथा इसके लिए पुष्य नक्षत्र को सबसे अधिक श्रेष्ठ और महत्त्व-पूर्ण समझा जाता था। बोधिसत्त्व के लिए आभरणों के निर्माण और धारण[5]

---

१. ल० वि० (वैद्य), पृ० ५३

२. वही, (शास्त्री) श्लोक ५६३, ५६४

३. वही, (वैद्य) गद्यभाग पृ० २५३

४. वही, पृ० ९६, पं० ३, ४, ५

५. वही, पृ० ८५, पं० ९-१८

और निर्वाणार्थ अभिनिष्क्रमण के लिए पुष्यनक्षत्र का योग शुभ समझा गया।[1] तथागत सिद्धार्थ ने स्वयं पुष्यनक्षत्र युक्त इस समय को 'नैष्क्रम्य काल' कहा है।[2]

ललितविस्तर में वर्णित ज्योतिष के आधार पर समस्त नक्षत्रों को चार खण्डों में विभाजित करके, उन्हें क्रमशः चारों दिशाओं का रक्षक स्वीकार किया जाता था। उसके अनुसार कृतिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु और पुष्य, आश्लेषा पूर्वदिशा में, मघा, दोनों फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति और विशाखा दक्षिणदिशा में, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, दोनों आषाढ़ा, अभिजित और श्रवण पश्चिम दिशा में तथा घनिष्ठा, शतभिषा दोनों भाद्रपदा, रेवती, अश्विनी और भरणी उत्तर दिशा में रहकर समस्त लोक की रक्षा करते हैं।

मनोकामना की स्वतः पूर्ति

ललितविस्तर के अनुसार जन सामान्य भले ही भिक्षुजनों की शिक्षा अथवा उनकी आवश्यकता की पूर्ति का पूरा ध्यान देते रहे हैं किन्तु वास्तविकता यह है कि भिक्षुजनों, विशेषतः विशिष्ट भिक्षुजनों की आवश्यकताओं की पूर्ति स्वतः दैवी शक्तियों के द्वारा पूरी हुआ करती है। बोधिसत्त्व तथागत ने जब निरन्तर षड्वर्षीय तप पूर्ण किया तो, उस समय उनके सभी वस्त्र जीर्ण--शीर्ण हो गये थे, उन्होंने कौपीन मात्र की इच्छा की तो उन्हें पांशुकुल (वस्त्र) प्राप्त हो गया।[3] जब उन्होंने उसे धोने के लिए पुष्कारिणी की इच्छा की तो पुष्कारिणी प्रकट हो गयी।[4] जब उन्होंने वहां शिला की कामना की तो शिला प्रकट हो गयी, और जब उन्होंने पुष्कारिणी से बाहर आने की इच्छा की तो वृक्ष शाखाएं स्वतः नीचे झुक गईं।[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वस्व त्याग कर भिक्षु बने हुए जनों के प्रति न केवल जनसामान्य बल्कि दैवी शक्तियां भी निरन्तर उनकी सेवा में लगी रहती थीं।

---

१. अर्धरात्रिसमयं चोपस्थितं ज्ञात्वा पुष्यं च नक्षत्राधिपतिं युक्तं ज्ञात्वा साम्प्रतं निष्क्रमण काल इति।

—ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १५६, पं० २६, २७

२. ल० वि० (शास्त्री) श्लोक ६५०, ६५१, ६१२

३. वही, पृ० १६४, पं० १०, १२ एवं २२

४. वही, पृ० १६४, पं० २३, २४

५. वही, पृ० १६४, पं० ३०, पृ० १६५, पं० २,३

द्वितीय अध्याय

ललितविस्तर में दार्शनिक तत्त्व

धर्ममुख

धर्ममुख अथवा धर्मालोकमुख से तात्पर्य उन भावनाओं अथवा कर्मों से है जो धर्म में प्रवृत्ति कराने वाले अथवा धर्म के शुभ परिणाम को देने वाले हैं। ललित-विस्तर में बोधिसत्त्व को पूर्व बोधिसत्त्वों के अन्तिम जन्म में धर्ममार्ग में अन्तःपुर में पक्के करने वाले चार धर्ममुखों को स्वीकार करने वाला कहा गया है। ये चार धर्ममुख हैं—दान, प्रियवचन, अर्थक्रिया अर्थात् प्रयोजनसिद्धि एवं समानार्थकता अर्थात् सुख-दुःख में समान रहने की प्रवृत्ति।[1] बौद्ध-दर्शन के ग्रन्थ में धर्ममुख के नाम से इनकी चर्चा कुशल अथवा अकुशल कर्मों में नहीं हुई है।

धर्मालोकमुख

धर्मालोकमुख नाम से भी किसी कुशल-कर्म की अथवा उसके हेतु की चर्चा अभिधम्मत्थसंगह में नहीं हुई है किन्तु ललितविस्तर में धर्मालोकमुख नाम से पूरा एक परिवर्त्त ही निबद्ध है। यहां वे एक देवताओं की सभा में निम्नलिखित एक सौ आठ धर्मालोकमुखों का उपदेश देते हैं। ये एक सौ आठ धर्मालोकमुख निम्नलिखित हैं—

(१) श्रद्धा (२) प्रसाद (३) प्रमुदिता (४) प्रीति (५) कायसंवर (६) वाक्संवर (७) मनःसंवर (८) बुद्धानुस्मृति (९) धर्मानुस्मृति (१०) संघानु-स्मृति (११) त्यागानुस्मृति (१२) शीलानुस्मृति (१३) देवतानुस्मृति (१४) मैत्री (१५) करुणा (१६) मुदिता (१७) उपेक्षा (१८) अनित्यप्रत्यवेक्षा (१९) दुःखप्रत्यवेक्षा (२०) अनात्यप्रत्वेक्षा (२१) शान्तप्रत्यवेक्षा (२२) ह्री (आत्मलज्जा) (२३) अपत्रपा (लोकलज्जा) (२४) सत्य (२५) भूत (यथार्थता

---

१. स तस्यां वेलायां पूर्वेषां च बोधिसत्त्वानां चरमभवोपगतानामन्तःपुर परिपाचितानि चत्वारि धर्ममुखान्यामुखीकरोति स्म। कतमानि चत्वारि ? यदिदं दानं प्रियवचनमर्थक्रियां समानार्थतां च ।।

—ल० वि० (वैद्य), पृ० १३१, १३२, पं० २९ एवं १, २

का बोध (२६) धर्माचरण (२७) त्रिशरणगमन (बुद्ध, धर्म, संघ) (२८) कृतज्ञता (२९) कृतवेदिता (३०) आत्मज्ञता (३१) सत्त्वज्ञता (३२) धर्मज्ञता (३३) कालज्ञता (३४) निहतमानता (निरभिमानता) (३५) अप्रहतमानता (३६) अनुपनाह अर्थात् बैर न बांधना (३७) अधिमुक्ति (धर्मनिष्ठा) (३८) अशुभप्रत्यवेक्षा (३९) अव्यापाद (अहिंसामय कल्याणभाव) (४०) अमोह (४१) धर्मार्थिकता (४२) धर्मकामता (४३) श्रुतपर्येष्टि (मनन) (४४) सम्यक् प्रयोग (४५) नामरूपपरिज्ञा (४६) हेतुदृष्टि समुद्घात (४७) अनुनय प्रतिघ-प्रहाण अर्थात् राग-द्वेष का नाश, (४८) स्कन्दकौशल्य-रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा. संस्कार नामक स्कन्धों के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान (४९) धातुसमता अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों उनके विषयों तथा उनसे उत्पन्न विज्ञानों में विषमता का अभाव (५०) आयतनापकर्षण अर्थात् ज्ञानेद्रियों तथा विषयों के द्वारों का खुला होना (५१) अनुत्पाद क्षान्ति (५२) कायगतानुस्मृति (५३) वेदनानुगतानुस्मृति (५४) चित्तगतानुस्मृति (५५) धर्मगतानुस्मृति (५६) चार सम्यक् प्रहाण (क) अनुत्पन्न पाप धर्मों के उत्पन्न न होने केलिए, (ख) उत्पन्न पाप धर्मों के नाश के लिए (ग) अनुत्पन्न पुण्य-धर्मों की उत्पत्ति के लिए (घ) उत्पन्न पुण्यधर्मों की वृद्धि के लिए. (५७) चार ऋद्धिपाद-अभिलाषा, चित्त, वीर्य तथा मीमांसा से युक्त धर्म (५८) श्रद्धा नामक इन्द्रिय (५९) वीर्य नामक इन्द्रिय (६०) स्मृतिइन्द्रिय (२१) समाधि नामक इन्द्रिय (६२) प्रज्ञा इन्द्रिय (३३) श्रद्धा बल (६४) वीर्य-बल (६५) स्मृति-बल (६६) समाधि बल (६७) प्रज्ञा बल (६८) स्मृति संबोध्यंग (६९) धर्मविचय संबोध्यंग (७०) वीर्य संबोध्यंग (७१) प्रीति संबोध्यंग (७२) प्रश्रब्धि अर्थात् अवधूतभाव संबोध्यंग (७३) समाधि संबोध्यंग (७४) उपेक्षा संबोध्यंग (७५) सम्यग्दृष्टि (७६) सम्यक् संकल्प (७७) सम्यक् वाक् (७८) सम्यक् कर्मान्त (७९) सम्यगाजीव (८०) सम्यग् व्यायाम (उचित श्रम) (८१) सम्यक् स्मृति (८२) सम्यक् समाधि (८३) बोधिचित्त (८४) आशय अर्थात् समस्त प्राणियों को दुःख से मुक्त करने का उदारभाव (८५) अध्याशय अर्थात् बोधिचर्या में अतिशय मनोयोग (८६) प्रयोग अर्थात् बोधिचर्या में पारमिताओं को पूर्णतया पालन करने का यत्न (२७) दानपारमिता (८८) शीलपारमिता, (८९) शान्तिपारमिता (९०) वीर्यपारमिता (९१) ध्यानपारमिता (९२) प्रज्ञापारमिता (९३) उपायकौशल्य (९४) चार, संग्रह वस्तुएं—अर्थात् पूर्वपृष्ठ में वर्णित चार धर्ममुख—दान, प्रियवचन अर्थचर्या तथा समानार्थता (९५) सत्त्वपरिपाक (९६) सद्धर्मपरिग्रह (९७) पुण्यसंभार (९८) ज्ञानसंभार (९९) शमथसंभार (शांति का संग्रह)

(१००) विदर्शना (निर्मल अन्तरर्दृष्टि (१०१) प्रतिसंवित् अर्थात् विवेकज्ञान (१०१) प्रतिशरणावतार अर्थात् धर्म में दृढ़ विश्वास के साथ प्रवेश (१०३) धारणीप्रतिलंभा अर्थात् शास्त्रविषयक धारणाशक्ति (१०४) प्रतिभानप्रतिलंभ अर्थात् प्रतिभासंपन्न (१०५) दो प्रकार की धर्मक्षान्ति (क) आनुलोमिक धर्मज्ञानक्षान्ति अर्थात् धर्मज्ञान से उत्पन्न पाप-कर्म नाश करने वाली विशेष प्रकार की मन की चेतना तथा (ख) अनुत्पत्तिक धर्मक्षान्ति अर्थात् भविष्य-ज्ञान की क्षमता (१०६) अवैवर्तिकभूमि अर्थात् समाधि में प्राप्त हुई भूमिका से पीछे न लौटने की अवस्था (१०९) भूमेर्भूमि संकान्तिज्ञान अर्थात् समाधि की एक भूमिका से दूसरी भूमिका में जाने का ज्ञान तथा (१०८) अभिषेकभूमि के कारण तथागत के गर्भ प्रवेश (अक्रमण), गृहत्याग, (अभिनिष्क्रमण), कठोरतप, (दुष्करचर्या), बोधिवृक्ष के नीचे आसन लगाना (बोधिमण्डगमन), कामविजय (मारध्वंसन), बुद्धत्वप्राप्ति (बोधिविबोधन), धर्मचक्रप्रवर्त्तन तथा महापरिनिर्वाण इनको यथावत् जानने की क्षमता।[1]

ललितविस्तर के अनुसार इन एक सौ आठ धर्मालोकमुखों के श्रवणमात्र से चौरासी हजार देवपुत्रों को सम्यक् संबोधि की, बत्तीस हजार देवपुत्रों को अनुत्पत्तिक धर्मों में क्षात्ति की, छत्तीस खर्व देवपुत्रों को रजोगुणहीनता (विरजता), सम्पूर्ण रूप से निर्मलता तथा धर्म के विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो गयी। इसका तात्पर्य यह है कि इनके श्रवण मात्र से अपनी योग्यता के अनुसार उच्च-उच्चतर धर्म में प्रवृत्ति की प्राप्ति हो सकती है।[2]

एक सौ आठ धर्ममुखों की चर्चा को समाप्त करने से पूर्व, एक बार यह स्मरण कर लेना उचित होगा कि इनसे पूर्व जिन चार धर्ममुखों की चर्चा की गयी है, वे चारों धर्ममुख ९४ संख्या पर निर्दिष्ट चार संग्रह वस्तुओं के अन्तर्गत समाहित हैं।[3] उनका अलग विवरण उनकी विशिष्टता के कारण ही वहां किया गया है।

बोधि

बोधि अथवा सम्यक् संबुद्धता पर विचार करने से पूर्व, बौद्धधर्म की दो प्रधान शाखाओं थेरवाद अर्थात् हीनयान और महायान के परस्पर के सैद्धान्तिक अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। क्योंकि इस सैद्धान्तिक अन्तर पर ही

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २३ से २५

२. वही, परि० ४, पृ० २५

३. वही, पृ० २५, पं० ९, १०

दोनों संप्रदायों के दार्शनिक भवन का निर्माण हुआ है। दोनों सम्प्रदायों के आदर्शों में अन्तर होने के कारण, उनके मार्ग में भी अन्तर हो गया है तथा लक्ष्य में अन्तर हो गया है। इसीलिए दोनों सम्प्रदायों की परिभाषाएं भी अनेक बार बदल गयी हैं। पारिभाषिक शब्दों के अर्थ अलग-अलग हो गये हैं। उदाहरणार्थ---हीनयान के अनुसार अष्टांगिक मार्ग निर्वाण का उपाय है, जिसमें सम्यक्-दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यग् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यगाजीव, तथा सम्यक् समाधि को साधन का एकमात्र उपाय स्वीकार किया गया है। महायान सम्प्रदाय में अष्टांगिक मार्ग के स्थान पर बोधिसत्त्वचर्या का विकास हुआ है। इस सम्प्रदाय का आदर्श अर्हत्व न होकर बोधिसत्त्व हुआ। शाक्यमुनि सिद्धार्थ गौतम भी बुद्धत्व--प्राप्ति से पूर्व तक बोधिसत्त्व थे। बोधिसत्त्व वह है जो सम्यक् ज्ञान की कामना करता है जिसमें सम्यग्ज्ञान है, उसके चित्त में ही समस्त जीवलोक के प्रति करुणा का प्रादुर्भाव हो सकता है।

आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार सद्धर्म-पुण्डरीक आदि ग्रन्थों की मान्यता है कि वस्तुतः यान एक ही है, केवल एक, और वह है बुद्धयान[1] किन्तु क्योंकि इसकी साधना में समय बहुत अधिक लगता है, अतः संक्षिप्त मार्ग चाहने वालों के लिए, बुद्ध ने अर्हत के निर्वाण का निर्देश किया है। वस्तुतः दोनों यान सिद्धार्थ बुद्ध की शिक्षा के अनुकूल हैं। दोनों समान रूप से सत्य और निर्वाण के अनुगामी हैं। ह्वेनसांग के अनुसार कुछ भिक्षु ऐसे भी थे जो स्थविरवादी होकर भी महायान के अनुयायी थे और विनय में पूर्ण थे। महायान में भी अनेक शाखाएं थीं जैसे—पारमितायान या बुद्धयान, प्रज्ञायान और भक्तिमार्ग, कालान्तर में तन्त्र के संपर्क से इसमें पुनः मन्त्रयान, वज्रयान और तन्त्रयान आदि का विकास हुआ।

कुछ अन्तर होते हुए भी इस प्रसंग में सभी सम्प्रदायों में समानता है कि प्रत्येक साधक को महाकरुणा को आदर्श लक्ष्य के रूप में मानना चाहिए। सभी प्राणियों के साथ मैत्री-भाव रखना चाहिए। मैत्रीभावना के बिना कोई भिक्षु रहने की पात्रता नहीं रखता। उसे चाहिए जिस प्रकार माता अपने एकमात्र पुत्र की रक्षा प्राण देकर भी करती है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों के साथ अप्रमेय मैत्री होनी चाहिए। इस संप्रदाय के अनुसार मैत्री के बिना बुद्ध के सदृश वैराग्य भी निरर्थक होता है। महायान का आदर्श है कि बोधिसत्त्व विश्व के प्राणियों के निस्तार के लिए निर्वाण में प्रवेश को भी स्थगित कर देता है।

---

१. बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० १०६

वह समस्त जीवों को दुःख से मुक्त करना चाहता है। उसका विश्वास है कि सबके दुःख समान हैं, मुझे सबकी रक्षा आत्मवत् करनी चाहिए। जब सबको समान रूप से दुःख और भय अप्रिय है तो मैं क्यों अपनी ही रक्षा करूं। दूसरों की क्यों न करूं। उस अर्हत्व से क्या लाभ जो केवल अपने लिए है। क्या उसे राग विनिर्मुक्त कहा जा सकता है जो केवल अपने दुःख-विमोचन के लिए प्रयत्नशील रहता है? जो स्वार्थी है जो स्वयं सर्वक्लेश विनिर्मुक्त है, द्वेष से विनिर्मुक्त है किन्तु साथ ही करुणा से भी विनिर्मुक्त है ऐसा अर्हत् क्या निर्वाण-मार्ग का पथिक होगा? इस प्रकार महायान में अर्हत के निर्वाण को निर्वाण नहीं माना गया, क्योंकि वह महाकरुणा से विनिर्मुक्त है। जिस प्रकार नील आकाश और रोमकूप दोनों के विवर आकाश धातु हैं किन्तु दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है उसी प्रकार अर्हत और बुद्ध के निर्वाण में अन्तर है। इसी कारण महायान संप्रदाय में निर्वाण की अपेक्षा बोधि को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

बोधि का अर्थ है बुद्धत्व। बोधि सर्वगत ज्ञान है। सर्वगत ज्ञान होने के कारण बोधि लोक-धातु से अनन्य है क्योंकि सर्वज्ञान अपने अर्थ से अभिन्न है, अतः सर्वधर्म बुद्ध है। इसे ही तथता कहा जाता है। बोधि या बुद्धत्व कोई धर्म नहीं है क्योंकि धर्म स्वभाव परिकल्पित होता है। बोधि शुक्ल धर्ममय होता है, क्योंकि पारमिता आदि कुशल कर्मों की प्रवृत्ति उसके अस्तित्व से होती है किन्तु वह शुक्ल धर्मों से निरूपित नहीं है।[1] पारमिता आदि भी पारमिता, आदि भावों से परिनिष्पन्न नहीं होते। इसी कारण इसे अद्वय कहते हैं।

यद्यपि बोधि तथता है, किन्तु अधर-तथताओं का समुदाय नहीं है। तात्पर्य यह है कि इसमें वह है कि उनमें यह नहीं है। आश्रय-परावृत्ति से ही चित्त बोधि की अवस्था को प्राप्त करता है। यह परावृत्ति चित्त का विपरिणाम करती है और उसको उत्कृष्ट बनाती है। यह विपरिणाम चित्त को आकाश-संज्ञा तक पहुंचा देता है। उस अवस्था में चित्त के सब विकल्प अपगत हो जाते हैं। अनास्रव धातु बोधि का एक प्रकार का द्रव्य होता है। यहां बोधिसत्त्व निवास करते हैं और यह धर्म तथता से अन्य नहीं है। असंग के अनुसार बोधि (बुद्धत्व) सर्वावरण से निर्मल सर्वाकारज्ञता है।[2] अद्वय अवस्था है। अतः बोधि का अर्थों के साथ अतिसूक्ष्म सम्बन्ध है।[3]

---

१. महायान सूत्रालंकार ९, ६

२. वही, ९, १-२

३. (क) वही, ९, ४-५

(ख) बौद्ध-धर्म-दर्शन पृ० ३९४ से उद्धृत

बोधियुक्त के चिह्न

जैसा कि पहले कहा जा चुका है महायान परम्परा में महाकरुणा को सर्वाधिक प्रधानता दी गयी है। अतः बोधि से संयुक्त होने पर बोधिसत्त्व महाकरुणामय हो जाते हैं। वे सदा सर्वप्राणियों का सर्व-क्लेशों से परित्राण करते हैं, जन्म, मरण एवं दुश्चरित्र से भी परित्राण करते हैं। बोधि प्राप्त होने से अथवा बोधि संपन्न व्यक्ति (बोधिसत्त्व) की उपस्थिति मात्र से सब उपद्रव शान्त हो जाते हैं। रोगी के रोग दूर हो जाते हैं। नेत्र-श्रोत्र विहीन व्यक्ति नेत्र-श्रोत्र संपन्न हो जाते हैं, विक्षिप्त व्यक्ति स्वस्थ-चित्त हो जाते हैं। अति-वृष्टि, अनावृष्टि आदि ईतियाँ शान्त हो जाती हैं। बोधिसंपन्न व्यक्ति की प्रभामात्र से ये अपाय दूर हो जाते हैं। उसकी महाकरुणा जागतिक जीवों में प्रत्यक्ष परिलक्षित होने लगती है। इसीलिए इसे अनुपम शरण कहा जाता है।[1]

बोधि को आश्रय परिवृत्ति कहा जाता है। आश्रय-परिवृत्ति का तात्पर्य है कि क्लेश-आवरण और ज्ञेय आवरण के बीज जो अनादिकाल से सतत अनुगत हैं, बोधि प्राप्त होने पर अस्त हो जाते हैं। बोधि प्राप्त होने से विपक्ष बीज का वियोग और प्रतिपक्ष सम्पत्ति का योग होता है तथा इसकी प्राप्ति निर्विकल्प-ज्ञान-मार्ग से होती है। इस प्रकार बोधिसत्त्व विशुद्ध लोकोत्तर ज्ञान का लाभ कर तथागत बन जाते हैं तथता को प्राप्त हो जाते हैं। इस अवस्था में वे महा-करुणा से सम्पन्न होने के कारण प्राणीमात्र की पीड़ा जो हरने का संकल्प करते हैं और इतने मात्र से ही वे उनकी पीड़ा दूर कर देते हैं।

ललितविस्तर में बोधि को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है और उसके मूल में महाकरुणा को निरन्तर देखा गया है। ललितविस्तर में ग्रन्थ रचना के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि···"अस्ति भगवन् ललितविस्तरो नाम धर्मपर्यायः सूत्रान्तो महावैपुल्यनिचयो बोधिसत्त्वकुशलमूलसमुद्भावनः··· धर्मनिर्देशः पूर्वकैरपि तथागतैः भाषितपूर्वः।···तं भगवान् अपि एतर्हि संप्रकाश-येत् बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पायै महतो जनकायस्यार्थाय सुखाय देवानां च मनुष्याणाम्।···बुद्धकार्यस्य परिसंदर्शनार्थमिति। अधिवासयति स्म भगवांस्तेषां देवपुत्राणां तूष्णींभावेन सदेवकस्य लोकस्यानुकम्पामुपादाय।[2]

अर्थात् ललितविस्तर नामक धर्मपर्याय है जो महावैपुल्य का संग्रहभूत सूत्रान्त है।···यह अपरिमित बुद्ध धर्मों का विस्तार करने वाला है, तथा पहले

---

१. महायान सूत्रालंकार ६, ११

२. ल० वि०, (वैद्य) परि० १, पृ० ३-४

के तथागतों ने इसका प्रवचन किया था। हे भगवन्! आप भी इसका प्रकाश बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए तथा लोकानुग्रह के लिए करें। भगवान् ने तूष्णींभाव से अर्थात् मौन द्वारा देवताओं सहित, इस लोक पर अनुकम्पा कर उन देवपुत्रों का अधिवासन किया अर्थात् प्रार्थना स्वीकार की। तात्पर्य यह है कि इस ग्रन्थ में भगवान् के महानुकम्पापूर्ण जीवन का विवरण हुआ है।

तद्भिक्षवो मे शृणुतेह सर्वे
वैपुल्यसूत्रं हि महानिदानम्।
यद्भाषितं सर्वतथागतैःप्राग्
लोकस्य सर्वस्य हितार्थमेव॥[1]

इस पद्य में भी इस वैपुल्यसूत्र नामक महानिदान को, जिसे ललितविस्तर नाम से भी जाना जाता है को, लोक कल्याण के लिए सब तथागतों द्वारा भाषित कहा गया है।

बोधिसत्त्व तथागत के जन्म के उद्देश्य के सम्बन्ध में भी, ग्रन्थकार तूर्य-संगीत ध्वनि के माध्यम से कहलाते हैं—

हे तथागत, क्लेशरूपी अग्नि में जलते हुए, मनुष्यों और देवताओं पर मेघ के समान व्याप्त होकर अमृत की वर्षा करो, जिस प्रकार धातुकुशल रस-चिकित्सक, चिर-पीड़ित रोगियों का त्राण करता है, उसी प्रकार तुम भी त्रिमोक्ष अर्थात् आभ्यन्तर अशुचि दर्शन, बाह्य अशुचि दर्शन एवं बाह्याभ्यन्तर अशुचि दर्शनरूपी औषधि देकर चिरकाल से पीड़ित प्राणियों को निर्वाण सुख में स्थापित करो।[2] इस प्रकरण में उस स्थल को जहां उन्हें बोधिलाभ होना है, पृथ्वी मंडल का सार कहते हुए प्रज्ञा-प्रदीप अर्थात् बोधि द्वारा शक्ति सम्पन्न होकर, मार पर विजय प्राप्त करने की कामना तूर्य आदि के संगीत-स्वर में ही की गयी है।

संस्तव परिवर्त्त में भी भगवान् तथागत को उपर्युक्त प्रकार से ही वर्णित किया गया है—क्लेशरूपी व्याधि से चिरकाल से रोगी, इस जीवलोक में तुम सब व्याधियों से मुक्त करने वाले वैद्यराज होकर उत्पन्न हुए हो। अतः वे सभी लोग क्लेश बन्धनों के कटने से शीघ्र मुक्त हो जाएंगे तथा उत्तम और शुभ फल प्राप्त करेंगे।[3] इसी प्रकरण में एक अन्य पद्य में कहा गया है कि उन्होंने

---

१. ल० वि०, (वैद्य) परि० I, श्लोक १३
२. वही, (शास्त्री) श्लोक २६, २७
३. वही श्लोक ११६६, ११७३

ध्यान, प्रज्ञा आदि साधनों द्वारा बोधि प्राप्त करके, अनेक कोटि खर्व प्राणियों को सद्धर्म रूपी नौका द्वारा तारने की पूर्व जन्म में प्रतिज्ञा की थी।[1] इसी प्रकार एक अन्य श्लोक में अब तुम मार को जीतकर उदभू बोधि को प्राप्त कर चुके हो, तुम्हारी तपश्चर्या परिपूर्ण हो गयी, अब धर्मचक्रप्रवर्त्तन करो' ऐसी प्रार्थना की गयी है ।[2]

त्रपुष-भल्लिक परिवर्त्त में एक स्थान पर भगवान् तथागत को स्वयं यह सोचते हुए चित्रित किया गया है कि 'मैंने यहां अनुत्तर सम्यक् संबोधि का अवबोध कर अनादिकाल से चले आ रहे जन्म एवं जरा, मरण के दुःख का अन्त कर दिया है ।[3]

अध्येषणा परिवर्त्त में सम्यक् सम्बुद्ध अर्थात् बोधि को प्राप्त भगवान् तथागत लोक कल्याण के लिए धर्मचक्रप्रवर्त्तन करेंगे—"अद्य मार्षा तथागतेनार्हता सम्यक्संबुद्धेन धर्मचक्रप्रवर्त्तनार्थं प्रतिश्रुतम् । तद् भविष्यति बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पार्थं महतो जनकायस्यार्थाय हिताय सुखाय देवानां च मनुष्याणां च ।"[4] भूदेवों एवं देवताओं द्वारा उद्घोषित ये वचन बोधि को अतिशय महत्त्वपूर्ण एवं लोक कल्याण के लिए, इसका प्रयोजन सूचित करते हैं।

बोधि का स्वरूप

बोधि शब्द का अर्थ है ज्ञान, सम्यक् ज्ञान, वह ज्ञान जिसमें सब-कुछ यथार्थ रूप से और संपूर्ण रूप से प्रतिभासित हो, जो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणों पर आश्रित होने के कारण, परिच्छिन्न विषयक न हो। इस ज्ञान को योगशास्त्र की ऋतम्भरा प्रज्ञा अथवा विवेक-ख्याति के अथवा न्याय-वैशेषिक के योगज प्रत्यक्ष के समानान्तर समझा जा सकता है ।

मार-विजय के अनन्तर जब बोधिसत्त्व बोधिवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हुए तो ध्यान के प्रथम स्तर में वितर्क, विचार आदि विद्यमान थे । द्वितीय स्तर में वितर्क और विचार आदि धर्म शान्त हो गये । तृतीय स्तर में प्रीति आदि में विराग होने के कारण, समस्त चराचर विश्व की अनुभूतियों के प्रति उपेक्षावान्

---

१. ल० वि०, (शास्त्री) श्लोक ११८७

२. वही, श्लोक १२०२

३. इह मयानुत्तरा सम्यक् संबोधिरभिसंबुद्धा, इह मयानवरागस्य जातिजरामरण दुःखस्यान्तः कृत इति । —ल० वि०, (वैद्य) पृ० २७४

४. वही, पृ० २९३

हो गये। चतुर्थ ध्यान में सौमनस्य और दौर्मनस्य शान्त हो गये एवं पूर्ण रूप से समाधिस्थ हुए। तब दिव्य-चक्षुओं से उन्होंने देखा कि—सभी प्राणी कर्मानुसार भोग में पड़े हुए, मिथ्या दृष्टि से आच्छन्न हैं और इसी कारण काय, वाक् और मन से दुश्चरित्र सम्पन्न हैं तथा इसी कारण दुर्गति में पड़े हुए हैं।[1] दुःख, किन्तु जरा, मरण, व्याधि स्वरूप महा-दुःखस्कन्ध को नहीं जानते, अतः इनसे छूट भी नहीं सकते। उन्होंने इस महादुःखस्कन्धरूप कारणभूत प्रयत्नों का साक्षात्कार किया।[2] इनमें अविद्याप्रसय, संस्कारप्रत्यय, विज्ञानप्रत्यय

---

१. बोधिसत्त्वो दिव्येन चक्षुषा—यथाकर्मोपमान् सत्त्वान् प्रजानाति स्म—इमे बत भोः सत्त्वाः कायदुश्चरितेन समन्वागताः, वाङ्मनोदुश्चरितेन समन्वागताः आर्याणामपवादकाः मिथ्यादृष्ट्यः।···दुर्गतिविनिपातं नरकेषूपपद्यन्ते।
—ल० वि० (वैद्य), पृ० २५०

२. कस्मिन्सति जरामरणं भवति, किं प्रत्ययं च पुनर्जरामरणम्? तस्यैतदभूत्-जात्यां सत्यां जरामरणं भवति, जातिप्रत्ययं जरामरणम्।
कस्मिन् सति जातिर्भवति, किं प्रत्यया च पुनर्जाति? भवे सति जातिर्भवति, भवप्रत्यया च पुनर्जातिः।
कस्मिन् सति भवो भवति, किंप्रत्ययश्च पुनर्भवः? उपादाने सति भवो भवति, उपादानप्रत्ययो हि भवः।
कस्मिन् सत्युपादानं भवति, किं प्रत्ययं च पुनरुपादानम्? तृष्णायां सत्यामुपादानं भवति, तृष्णाप्रत्ययं ह्युपादानम्।
कस्मिन् सति तृष्णा भवति, किं प्रत्यया च तृष्णा? वेदनायां सत्यां तृष्णा भवति, वेदनाप्रत्यया च तृष्णा।
कस्मिन् सति वेदना भवति? किं प्रत्यया पुनर्वेदना? स्पर्शे सति वेदना भवति, स्पर्शप्रत्यया हि वेदना।
कस्मिन् सति स्पर्शो भवति, किं प्रत्ययश्च पुनः स्पर्शः? षडायतने सति स्पर्शो भवति, षडायतनप्रत्ययो हि स्पर्शः।
कस्मिन् सति षडायतनं भवति, किं प्रत्ययं च पुनः षडायतनम्। नामरूपे सति षडायतनं भवति, नानारूप-प्रत्ययं हि षडायतनम्।
कस्मिन् सति नामरूपं भवति, किं प्रत्ययं च पुनर्नामरूपम्? विज्ञाने सति नामरूपं भवति, विज्ञानप्रत्ययं हि नामरूपम्।
कस्मिन् सति विज्ञानं भवति, किंप्रत्ययं पुनर्विज्ञानम्? संस्कारेषु सत्सु विज्ञानं भवति, संस्कारप्रत्ययं हि विज्ञानम्।

नामरूपप्रत्यय, षडायतनप्रत्यय, स्पर्शप्रत्यय, वेदनाप्रत्यय, तृष्णाप्रत्यय, उपादान-प्रत्यय, भवप्रत्यय, जातिप्रत्यय का साक्षात्कार किया।[1] अविद्या इन सभी क्लेशों का मूल है।[2] उत्तरोत्तर पूर्व पूर्व के प्रति हेतु है। इसी अविद्या के कारण इस महान् दुःखस्कन्ध का उदय होता है। बौद्ध-दर्शन की भाषा में इसे दुःखसमुदय कहा जाता है।

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि इनका निरोध संभव है। यदि अविद्या का निरोध कर दिया जाये तो अविद्या के निरोध से संस्कारों का निरोध, संस्कारों के निरोध से विज्ञान का निरोध, विज्ञान के निरोध से नामरूप का निरोध, नामरूप के निरोध से षडायतन का निरोध, षडायतन के निरोध से स्पर्श का निरोध, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध, उपादान के निरोध से भव का निरोध, भव के निरोध से जाति (जन्म) का निरोध और जाति (जन्म) का निरोध हो जाने पर जरा, मरण, शोक, परिदेवन, दुःख और दौर्मनस्य इन सभी का निरोध हो जाता है।[3] बौद्ध दर्शन में इसे दुःखस्कन्ध का निरोध, निरोधगामिनी प्रतिपदा कहा जाता है। इस प्रकार सम्पूर्णरूप से संक्षेप में कहना चाहें तो उनके इस ज्ञान (बोधि) के चार अंश हैं (१) यह सब विश्वप्रपञ्च दुःखमय है, (२) दुःख का समुदय (उत्पत्ति) होता है (३) दुःख का निरोध संभव है, और (४) दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपदा अर्थात् दुःखनिरोध के उपाय—

कस्मिन् सति संस्कारा भवन्ति, किं प्रत्ययाश्च पुनः संस्काराः ? अविद्यायां सत्यां संस्कारा भवन्ति, अविद्याप्रत्ययाः हि संस्काराः।

—ल० वि० (वैद्य), पृ० २५१-२५२, पं १५-३० एवं १-६

१. अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्, विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्, नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्, षडायतनप्रत्ययं स्पर्शः, स्पर्शप्रत्ययं वेदना, वेदना-प्रत्ययं तृष्णा तृष्णाप्रत्ययमुपादानम्, उपादानप्रत्ययं भवः, भवप्रत्यया जातिः, जातिप्रत्यया जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाः संभवन्ति। एव-मस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति।

—वही, पृ० २५२, पं ७-११

२. अभिधम्मत्थसङ्गहो, ८-४, १-१४१

३. ल० वि० (वैद्य), पृ० २५२, पं १९-२१

'इदं दुःखमयं दुःखसमुदयोऽयं दुःखनिरोधः इयं दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदिति यथाभूतमज्ञासिषम् ।'[1]

यही बुद्ध का मूल दर्शन है। बौद्ध-दर्शन में इन्हें चार आर्यसत्यों के रूप में स्वीकार किया गया है।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त बोधि के बारह स्कन्ध हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जन्म (जाति) एवं जरा-मरण आदि।[3] इनमें अविद्या इन सबका मूल है। बौद्ध-दर्शन के अनुसार इनका स्वरूप निम्नलिखित है—

अविद्या—अविद्या पूर्वजन्म की क्लेशदशा है अर्थात् सर्वक्लेश। अविद्या के कारण ही उनका समुदय होता है। यह अविद्या विद्या का अभाव नहीं है, विद्या का विपक्ष है जैसे अमित्र शब्द का अर्थ मित्र का अभाव नहीं अपितु विपक्ष है। इसीलिए अमित्र शब्द का प्रयोग शत्रु के लिए होता है। इसी प्रकार अविद्या भी विद्या का विपक्ष धर्मान्तिर है, अभाव नहीं।

संस्कार—संस्कार पूर्वजन्म की कर्मावस्था है। पूर्वजन्म की सन्तति पुण्य, अपुण्य आदि कर्म करती है। यह पुण्य आदि कर्मावस्थाजन्य संस्कार है। यह अरूपी स्कन्ध है।

नामरूप—नामरूप में रूप रूपस्कन्ध है और नाम अरूपीस्कन्ध। नाम, वेदना, संज्ञा, संस्कार ये चार अरूपी स्कन्ध हैं, इन्हें ही नाम कहते हैं। 'नमनीति नाम' इस व्युत्पत्ति के अनुसार नाम का अर्थ प्रवृत्ति है। अरूपी स्कन्ध नामवश, इन्द्रियवश और अर्थवश अर्थों में नमते हैं अर्थात् प्रवृत्त होते हैं, उत्पन्न

---

१. ल० वि० (वैद्य), पृ० २५३, पं० १३-१४

२. यो च बुद्धञ्च धम्मञ्च सङ्घञ्च सरणं गतो।
चत्तारि अरियसच्चानि सम्मप्पञ्ञाय पस्सति ॥
दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं।
अरियञ्च' ट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं ॥
एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं।
एतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पसुच्चति ॥
(क) धम्मपद, १४-१२, १३, १४, (संपादक राहुल सांकृत्यायन)
(ख) धम्मपद (पंजाबी संस्करण) वर्ग १४, गाथा, १९०, १९१, १९२
—संपादक—डा० लालमणि जोशी और डा० श्रीमती शारदा गांधी

३. अभिधम्मत्थसंगहो, ८, ७, पृ० १४२

होते हैं । नामवश शब्द में नाम शब्द गो, हस्ती, अश्व आदि समुदाय का तथा रूप आदि एकार्थ का बोधक है ।

षडायतन—नामरूप की वृद्धि से कालान्तर में षडिन्द्रिय की उत्पत्ति होती है । 'इन्द्रियों में पांच ज्ञानेन्द्रियां एवं मन की गणना की जाती है । षडायतन में इन्द्रियां, उसके विषय और विज्ञान तीन सम्मिलित हैं । इस प्रकार इन्द्रियों की उत्पत्ति से विज्ञान के सन्निपात काल तक को षडायतन कहते हैं ।

स्पर्श—स्पर्श ६ हैं, चक्षुस्पर्श, रसनास्पर्श, घ्राणस्पर्श, त्वगिन्द्रिय स्पर्श, श्रोत्रेन्द्रिय स्पर्श एवं मनःस्पर्श । स्पर्श त्रिक सन्निपात से उत्पन्न होता है । इस त्रिक में इन्द्रिय, विषय और विज्ञान ये तीन लिये जाते हैं । बुद्धघोष आदि आचार्य के मत में यह स्पर्श त्रिक सन्निपात का कार्य होने के साथ एक चैत-सिक धर्म है । प्रथम पांच स्पर्शों को प्रतिघ संस्पर्श तथा मनः संस्पर्श को अधि वचन संस्पर्श कहा जाता है । चक्षुविज्ञान आदि के द्वारा ज्ञाता नील रूप आदि को तो जानता है, किन्तु उस ज्ञान में 'यह नील है' इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता । 'यह नील है' इत्यादि ज्ञान छठे स्पर्श अर्थात् मनोविज्ञान का विषय है इसीलिए इसे अधिवचन संस्पर्श कहते हैं ।[1]

अधिवचन संस्पर्श के तीन प्रकार हैं—विद्या, अविद्या एवं इतर संस्पर्श । इनमें प्रथम को अमल, द्वितीय को क्लिष्ट और तृतीय को इतर कहते हैं । इनमें विद्यास्पर्श कुशल सास्रव प्रज्ञा से, अविद्या संस्पर्श क्लिष्ट अज्ञान से तथा इतर संस्पर्श नैवविद्या, नैवाविद्या अर्थात् कुशल सास्रव प्रज्ञा से, अथवा अनिवृता व्याकृत प्रज्ञा से सम्प्रयुक्त स्पर्श है । सर्वक्लेश सम्प्रयुक्त अविद्या संस्पर्श का प्रदेश नित्य समुदाचारी है । इसके ग्रहण से दो स्पर्श होते हैं व्यापाद स्पर्श और अनुनय संस्पर्श । सभी स्पर्श पुनः तीन रूपों में विभाजित किये जाते हैं । सुखवेद-नीय, दुःखवेदनीय एवं असुखदुःखवेदनीय । इनका यह नाम केवल इसलिए है कि इनका सुख-दुःख और असुखादुःख के लिए हित भाव रहता है । स्पर्श सुख-दुःख आदि के कारण ज्ञान की शक्ति के उत्पन्न होने से पूर्व की अवस्था है । जब तक शिशु सुख-दुःख आदि को परिच्छन्न करने में समर्थ नहीं होता, तब तक की अवस्था स्पर्श कही जाती है ।

वेदना—वेदना स्पर्श से उत्पन्न होती है । इसमें कारणों का प्रतिसंवेदन होता है । इसके भी ६ प्रकार हैं—पांच कायिकी वेदनाएं एवं एक चैतसिकी । चक्षु आदि स्थूल इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाली वेदनाएं कायिकी कहलाती हैं ।

---

१. दीर्घनिकाय २. ६२, बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० २३४

छठी वेदना मनःसंस्पर्श से उत्पन्न होती है, उसका आश्रय चित्त है, अतः उसे चैतसी वेदना कहते हैं। वेदना और स्पर्श में कालभेद है अथवा एक कालिकता, इस पर बौद्ध-दर्शन के संप्रदायों में परस्पर मतभेद है। वैभाषिकों के अनुसार दोनों सहभावी हैं, जब कि सौत्रान्तिक वेदना को स्पर्श उत्तर काल में स्वीकार करते हैं।

चैतसी वेदना के अठारह भेद माने गये हैं ६ सौमनस्योपचार, ६ दौर्मनस्योपचार तथा ६ उपेक्षोपचार। ये तीनों ही विषय-भेद के आधार पर ६-६ होते हैं। इनमें सौमनस्यादि विभाग स्वभावत्रय के भेद से, रूपादि ६ विभाग विषय के भेद से किये जाते हैं। वस्तुतः मनोविज्ञानमात्र संप्रयुक्त होने से, चैतसी वेदना नामक द्रव्य एक ही है।

तृष्णा—रूप आदि भेद से तृष्णा के भी ६ भेद किये जाते हैं। तृष्णा की प्रवृत्ति के विषय (प्रवृत्त) के आकार के भेद से, उसमें पुनः तीन भेद हो जाते हैं—कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा। कामतृष्णा में चक्षु के अपाय में रूपावलम्बन आता है और काम के आस्वादवश उसकी आस्वादन प्रवृत्ति होती है। भवतृष्णा में शाश्वत दृष्टि सहगत राग होता है, तथा उच्छेद दृष्टि सहगत राग विभव तृष्णा है। इस प्रकार तृष्णा के भी अठारह प्रकार हो जाते हैं।

उपादान—उपादान अनुशय है। क्योंकि अनुशय उपग्रहण करते हैं, इसलिए इनकी उपादान संज्ञा है। उपादान का अर्थ है दृढ़ग्रहण। इसके चार उपादान हैं—काम उपादान, दृष्टि उपादान, शील का उपादान और आत्मवाद उपादान। उपादान उस जीवन की अवस्था है जो भोगों की पर्येष्टि में दौड़-धूप करता है अर्थात् भोगों की प्राप्ति के लिए सब ओर दौड़ता-फिरता है। इस अवस्था में जीव में चतुर्विध क्लेश का समुदाचार रहता है।

भव—जिस अवस्था में जीव कर्म करता है। उसे भव कहते हैं। यह कर्म जीव उपादान वश ही करता है। भव के दो प्रकार हैं कर्मभव और उपपत्तिभव। जो कर्म भव का कारण हो, उसे कर्मभव कहते हैं। कर्म चाहे पुण्य हो अथवा अपुण्य, अल्प हो या बहुत, सभी कर्मभव कहलाते हैं। उपपत्तिभव कर्माभिनिवृत स्कन्ध है। इसके नौ भेद हो जाते हैं—कामभव, रूपभव, अरूपभव, संज्ञाभव, असंज्ञाभव, नैवसंज्ञाभव, एकव्यवकारभव, चतुर्व्यवकारभव, तथा पंचव्यवकारभव। जिस भव में संज्ञा होती है, उसे संज्ञाभव कहते हैं।[1]

---

१. अभिधम्मत्थसंगहो ८, ४, पृ० १४१

इसका विपर्यय असंज्ञाभव कहलाता है। औरारिक संज्ञा के अभाव और सद्भाव से नैवसंज्ञाभव माना जाता है। एकव्यवकारभव उस भव को कहते हैं, जिसमें एक ही व्यवकार हो, यह भव उपादानस्कन्ध है। इसी प्रकार चतुर्व्य-वकार एवं पंचव्यवकार भवों को समझना चाहिए।

जाति —प्रतीत्यसमुत्पाद के अपरान्त भाग में जाति की गणना की जाती है। यह भवप्रत्यय है, तथा इसके प्रत्यय जरामरण आदि हैं—'भवपच्चयाजाति जातिपच्चया जरामरणसोकपरिदेवदुक्खदोमनस्तुपाया सम्भवन्ति'[1]

वस्तुतः जाति प्रतिसन्धि है अर्थात् मरण के अनन्तर प्रतिसन्धि काल के पांच स्कन्धों में जाति भी है। वर्तमान भव की समीक्षा में जिस अंग को विज्ञान का नाम देते हैं, उसे अनागत भव की समीक्षा में जाति-संज्ञा से कहा जाता है। बौद्ध दर्शन में इसे किसी भी संस्कृत धर्म का एक लक्षण माना जाता है, अन्य तीन लक्षण हैं जरा, स्थिति एवं अनित्यता। जाति सहित ये चार किसी भी संस्कृत धर्म के लक्षण हैं। जिसमें ये लक्षण उपलब्ध न हों, उसे असंस्कृत धर्म कहते हैं। जाति संस्कृत धर्मों का उत्पादन करती है, स्थिति उनकी स्थापना करती है, जरा उनका ह्रास करती है तथा अनित्यता उनका विनाश करती है।[2]

जरा—जाति के समान जरा की भी प्रतीत्य-समुत्पाद के अपरान्त-भाग में गणना होती है और यह भी पूर्व के समान ही संस्कृत धर्म का एक लक्षण है।

ललितविस्तर में जरा-मरण की दुःख के रूप में चर्चा स्थान-स्थान पर की गयी है। भगवान् तथागत के अभिसंबोधि प्राप्ति के अनन्तर ग्रन्थकार ने उनके मुख से ही जन्म (जाति), जरा और मरण को समान रूप से दुःख, दुःखसमुदय, दुःख निरोध और दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा के रूप में महान् दुःख के रूप में स्वीकार किया है।[3] इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने जाति आदि की सर्वतोभावेन, दुःखभाव को सूचित करने के लिए अत्यन्त मधुर शैली की योजना की है जो द्रष्टव्य है—'बोधिसत्त्व सोचते हैं कि ओह यह लोक कितने महान् कष्ट में फंस गया है कि यह उत्पन्न होता है (जाति) जीर्ण होता है (जरा), और मर जाता है तथा फिर जन्म लेता है। वह इस जरा, व्याधि और मरण से निकलने का

१. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ३५० एवं ३७५
२. ल० वि० पृ० २५१

उपाय नहीं जान पाता। इस महा.दु:खस्कन्ध का अवसान करना नहीं जानता। उनके मन में एक-एक करके अनेकों प्रश्न और उनके समाधान उत्पन्न होते हैं :—प्रश्न 'जरामरण का हेतु क्या है ? उत्तर—जन्म (जाति) जरामरण का मूल है। प्रश्न—जन्म (जाति) का मूल क्या है ? उत्तर—जन्म का मूल भव है। प्रश्न—भव का मूल क्या है ? उत्तर—भव का मूल उपादान है। प्रश्न—उपादान का मूल क्या है ? उत्तर—तृष्णा उपादान का मूल है। प्रश्न—तृष्णा का मूल क्या है ? उत्तर—तृष्णा का मूल वेदना है। प्रश्न—वेदना का मूल क्या है ? उत्तर—वेदना का मूल स्पर्श है। प्रश्न—स्पर्श का क्या मूल है ? उत्तर—स्पर्श का मूल षडायतन है। इस प्रकार नामरूप, विज्ञान, संस्कार, और अविद्या को पूर्व-पूर्व के प्रति कारण स्वीकार किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थकार ने अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति तथा जरा मरण-शोक-परिदेवना-दु:ख-दौर्मनस्य और उपायास (बेचैनी) इन सभी को महान् दु:ख के रूप में देखा है, और इसी क्रम से इनके निरोध की चिन्ता की है।[1]

तस्यैतद्भवेत्-कृच्छ्रं बतायं लोक आपन्नो यदुत जायते जीर्यते म्रियते च्यवते उपपद्यते। अथ च पुनरस्य केवलस्य महतो दु:खस्कन्धस्य नि:सरणं न संप्रजानाति जराव्याधिमरणादिकस्य। अहो बतास्य केवलस्य महतो दु:खस्कन्धस्यान्तःक्रिया न प्रज्ञायते सर्वस्य जराव्याधिमरणादिकस्य।

ततो बोधिसत्त्वस्यैतदभूत्—कस्मिन् सति जरामरणं भवति, किंप्रत्ययं च पुनर्जरामरणम् ?

तस्यैतदभूत्—जात्यां सत्यां जरामरणं भवति, जातिप्रत्ययं जरामरणम्।

अथ बोधिसत्त्वस्य पुनरेतदभवत्—कस्मिन् सति जातिः भवति ? किं प्रत्यया च पुनर्जातिः ?

भवे सति जातिर्भवति भवप्रत्यया च पुनर्जातिः।

अथ बोधिसत्त्वस्यैतदभवत्—कस्मिन् सति भवो भवति, किंप्रत्ययश्च पुनर्भवः ? उपादाने सति भवो भवति उपादानप्रत्ययो हि भवः।

अथ बोधिसत्त्वस्यैतदभवत्—कस्मिन् सत्युपादानं भवति, किंप्रत्ययं च पुनरुपादानम् ? तृष्णायां सत्यामुपादानं भवति, तृष्णाप्रत्ययं ह्युपादानम्।

---

१. (क) ल० वि० पृ० २५१ पं ११ से पृ० २५२ पं ११ तक
　(ख) वही, पृ० २५३, पं० ७ से १४ तक

अथ बोधिसत्त्वस्य पुनरेतदभवत्—कस्मिन् सति तृष्णा भवति, किंप्रत्यया च तृष्णा ? वेदनायां सत्यां तृष्णा भवति, वेदनाप्रत्यया च तृष्णा ।

अथ बोधिसत्त्वस्य पुनरेतदभूत्—कस्मिन् सति वेदना भवति, किंप्रत्यया पुनर्वेदना ? स्पर्शे सति वेदना भवति, स्पर्शप्रत्यया हि वेदना ।

अथ बोधिसत्त्वस्य पुनरेतदभवत्—कस्मिन् सति स्पर्शो भवति, किंप्रत्ययश्च पुनः स्पर्शः ? षडायतने सति स्पर्शो भवति, षडायतनप्रत्ययो हि स्पर्शः ।

अथ बोधिसत्त्वस्यैतदभवत्—कस्मिन् सति षडायतनं भवति, किंप्रत्ययं च पुनः षडायतनम् ? नामरूपे सति षडायतनं भवति, नानारूपप्रत्ययं हि षडायतनम् ।

अथ बोधिसत्त्वस्य पुनरेतदभवत्—कस्मिन् सति नामरूपं भवति, किंप्रत्ययं च पुनर्नामरूपम् ?

विज्ञाने सति नामरूपं भवति, विज्ञानप्रत्ययं हि नामरूपम् ।

अथ बोधिसत्त्वस्यैतदभवत्—कस्मिन् सति विज्ञानं भवति, किंप्रत्ययं पुनर्विज्ञानम् ? संस्कारेषु सत्सु विज्ञानं भवति, संस्कामप्रत्ययं च विज्ञानम् ।

अथ बोधिसत्त्वस्य पुनरेतदभवत्—कस्मिन् सति संस्कारा भवन्ति, किंप्रत्ययाश्च पुनः संस्काराः ? अविद्यायां सत्यां संस्कारा भवन्ति, अविद्याप्रत्यया हि संस्काराः ।

इति हि भिक्षवो बोधिसत्त्वस्यैतदभूत्-अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, संस्कारप्रत्ययं विज्ञानम्, विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्, नामरूपप्रत्ययं षडायतनम्, षडायतनप्रत्ययं स्पर्शः, स्पर्शप्रत्ययं वेदना, वेदनाप्रत्ययं तृष्णा, तृष्णाप्रत्ययमुपादानम्, उपादानप्रत्ययं भवः, भवप्रत्यया जातिः, जातिप्रत्यया जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासाः संभवन्ति । एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति ।

अयं भवोऽयं भवसमुदयोऽयं भवनिरोधः इयं भवनिरोधगामिनी प्रतिपदिति यथाभूतमज्ञासिषम् । इयं जातिरयं जातिसमुदयोऽयं जातिनिरोधः इयं जातिनिरोधगामिनी प्रतिपदिति यथाभूतमज्ञासिषम् । इयं जरा अयं जरासमुदयोऽयं जरानिरोधः इयं जरानिरोधगामिनी प्रतिपदिति यथाभूतमज्ञासिषम् । इमे शोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायसाः । एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य समुदयो भवति यावन्निरोधो भवतीति यथाभूतमज्ञासिषम् ।

इदं दुःखमयं दुःखसमुदयोऽयं दुःखनिरोधः इयं दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदिति यथाभूतमज्ञासिषम् ।

आस्रव—जो संसार में दुखों का प्रसव करते हैं उन्हें आस्रव या आसव कहा जाता है। आसव क्लेश है। कर्मक्लेश तथा नाना प्रकार के उपद्रव आसव कहलाते हैं। षडायतन में आसव तीन माने गये हैं, जब कि अभिधर्म में आसव चार बताये गये हैं।[1] आस्रव मल है, अनुशय आस्रव है, क्योंकि ये षडायतनव्रण से क्षरित होते हैं।[2] अभिधम्म में आस्रव चार माने गये हैं—कामास्रव, भवासव, दृष्ट्यासव, एवं अविद्यासव। इनमें काम और भव आसवों में काम और भवगत तृष्णा को स्वीकार किया जाता है—'अकुसलसंगहे ताव चत्तारो आसवा कामासवो भवासव दिट्ठासवो अविज्जासवो···आसवादिसु पनेत्थ कामभवनामेन तब्बत्युका तण्हा अधिप्पेता।[3]

ललितविस्तर में भी आस्रव को दुःख मानते हुए, उसके समुदय, निरोध और निरोधगामिनी प्रतिपद को भी स्वीकार किया गया है—इदं दुःखमिति यथाभूतमज्ञासिषम्। अयमाश्रवसमुदयोऽयमाश्रवनिरोधः इयमाश्रवनिरोधगामिनी प्रतिपदिति। अयं कामास्रवोऽयं भवाश्रवोऽयमविद्याश्रवोऽयं दृष्ट्याश्रवः। इहाश्रवानिरवशेषतो निरुध्यन्ते। इहाश्रवो निरवशेषमनाभासमस्तं गच्छतीति।[4]

यहां भी आस्रव के चार प्रकार स्वीकार किये गये हैं कामास्रव, भवाश्रव, अविद्याश्रव और दृष्ट्याश्रव। ग्रन्थकार के अनुसार इन आस्रवों का संपूर्ण रूप से निरोध करना आवश्यक है। इनके निरवशेष अस्त होने पर इनका अवभास भी नहीं होता। इन आस्रवों को यदि एक बार निश्शेष कर दिया जाये तो फिर इनसे उत्पन्न होनेवाले दुःख पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं। यही दुःख का अन्त है।

छिन्नवर्त्मोपशान्तरजाः शुष्का आस्रवा न पुनः भवन्ति।
छिन्ने वर्त्मनि वर्तते दुःखस्यैषोऽन्त उच्यते॥[5]

षडायतन—षडायतन की चर्चा प्रसंगतः पहले हो चुकी है। नामरूप की वृद्धि से काल पाकर षडिन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। यही षडायतन है। साथ ही इन्द्रियों के साथ विषय और विज्ञान के सन्निपात काल तक षडायतन ही माना जाता है। स्पर्श की उत्पत्ति षडायतन से होती है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन में षडायतन को दुःखपरम्परा की एक कड़ी माना गया है।

---

१. बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ४५ (टिप्पणी)
२. वही, पृ० ३१५
३. अभिधम्मत्थसंगहो, ७, ३ एवं १३
४. ल०वि० पृ० २५२, पं २५, २६ (वैद्य)
५. वही, परि० २२, श्लोक ११३६ (शास्त्री)

ललितविस्तर में भी अभिसंबोधि के क्रम में षडायतनों की चर्चा हुई है। यहां भी इसे नामरूप से उत्पन्न और स्पर्श का पूर्ववर्ती ही माना गया है[1] 'कस्मिन् सति स्पर्शो भवति, किं प्रत्ययश्च पुनः स्पर्शः ? तस्यैतदभवत्—षडायतने सति स्पर्शो भवति, षडायतनप्रत्ययो हि स्पर्शः। अथ बोधिसत्त्वस्य पुनरेतदभवत्—कस्मिन् सति षडायतनं भवति, किं प्रत्ययं च पुनः षडायतनम् ? तस्यैतदभवत्—नामरूपे सति षडायतनं भवति, नानारूपप्रत्ययं हि षडायतनम्।'

इस प्रकार यह परम्परा से संस्कार का कार्य है, इसीलिए संस्कारों के निरोध के द्वारा उपादान, तृष्णा आदि के साथ षडायतन के निरोध को यहां भी आवश्यक माना गया है, तभी दुःखों की निवृत्ति हो पाती हैं[2]—'अविद्यायां सत्यां संस्कारा न भवन्ति, अविद्यानिरोधात्संस्कारनिरोधः। संस्कारनिरोधा-द्विज्ञाननिरोधो यावज्जातिनिरोधाज्जरामरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासा निरुध्यन्ते। एवमस्य केवलस्य महतो दुःखस्कन्धस्य निरोधो भवतीति।

दशबल

बल शब्द प्रायः शक्ति के लिए प्रयुक्त होता है, जिसका उपयोग करके कोई भी व्यक्ति अपने संकल्प को पूर्ण करता है। लोक में धनबल, जनबल, और बाहुबल को ही प्रायः बलों के रूप में स्वीकार किया जाता है। आध्यात्मिक जगत् में आत्मबल को बल मानते हुए इसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बल के रूप में स्वीकार किया जाता है। दशबल शब्द का प्रयोग भगवान् बुद्ध के विशेषण के लिए बहुधा होता है, किन्तु इन दशबलों की चर्चा दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों में प्रायः नहीं हुई है।

ललितविस्तर में बोधिसत्त्व तथागत के लिए दशबल शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है।[3] एक प्रसंग में यहाँ इन दश बलों की एक-एक करके गणना प्रारम्भ की गयी है किन्तु उस प्रकरण में चार विशिष्ट गुणों को ही बल के रूप

१. ल०वि० परि० २२, पृ० २५१, पं २६-३० (वैद्य)

२. वही, परि० २२, पृ० २५२, पं० १९-२१

३. (क) वही पृ० ७, पं० २४,

(ख) दशभिर्बलैर्नदितु सिंह इव गुणसागरं समनुयातु विदु।
—वही, श्लोक १०३ (शास्त्री)

(ग) वही, श्लोक १२९२ (शास्त्री)

में परिगणित किया गया है वे हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा ।[1] इन चार के अतिरिक्त शेष ६ बलों की गणना यहाँ भी नहीं हुई है । इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रसंग में भी तथागत के दश बलों का नामशः उल्लेख हुआ है अतः तथागत के दश बलों से युक्त होने के कारण इन्हें दशतथागत बलोपेत कहा गया है । वे दस प्रकार के बल निम्नलिखित हैं—(१) स्थानास्थानज्ञानबल (२) अतीतानागतप्रत्युत्पन्न-कर्म-विपाक ज्ञान बल (३) सर्वेन्द्रियवीर्यविमात्रता ज्ञान-बल (४) अनेकधातु-नाना-धातुलोक-प्रवेशज्ञानबल, (५) अनेकाधिमुक्ति-नानाधि-मुक्ति-सर्वनिरवशेषाधिमुक्तिज्ञानबल (६) सर्वत्रगामिनीप्रतिपद-ज्ञानबल (७) सर्वध्यानविमोक्षसमाधि-समापत्ति-संकलेश-व्यवदान-व्यवस्थापन-ज्ञानबल (८) अनेकविध-पूर्वनिवासानुस्मृति-असंगज्ञानबल (९) निरवशेष-सर्वरूप-अनावरण-दर्शन-दिव्यचक्षु-ज्ञानबल (१०) सर्ववासनानुसंधिगत-निरवशेष-सर्वाश्रवक्षय-ज्ञान-बल । ये सभी बल लौकिक बलों से भिन्न, साधना से प्राप्त अपूर्व शक्तियाँ हैं, जिन्हें प्राप्त कर लेने के कारण तथागत को दशबल कहा जाता है ।[2]

प्रतीत्य समुत्पाद

प्रतीत्यसमुत्पाद को बौद्ध-दर्शन के केन्द्रीय तत्त्व के रूप में स्वीकार किया जाता है । इस दर्शन के प्रायः सभी मुख्य सिद्धान्त किसी न किसी रूप में प्रतीत्य-समुत्पाद, जिसे पाली भाषा में पटिच्चसमुत्पाद कहते हैं, में समाहित हो जाते हैं, अथवा उससे सम्बन्ध रखते हैं । प्रतीत्य-समुत्पाद का अर्थ है हेतु-फल-परम्परा, अर्थात् दुःख का समुदय, हेतु दुःख की उत्पत्ति कैसे होती है, इसका यथाभूत-ज्ञान दुःख निरोध के लिए आवश्यक है । इसके बारह अंग हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति तथा जरामरण[3]—तस्य अविज्जापच्चया सङ्खारा, सङ्खारपच्चया विञ्जाणं, विञ्जाणपच्चया नामरूपं, नामरूप पच्चया सलायतनं, सलायतनपच्चया फस्सो, फस्स पच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवो, भवपच्चपाजाति, जातिपच्चया जरामरण-शोकतपरिदेवदुःखप्रतीत्य-

---

१. यस्यार्थाय दशबला मैत्री भावेन्ति सर्वसत्त्वेषु ।
मैत्रीबलेन जित्वा पीतो मे ऽस्मिन्नमृतमण्डः ॥
—ल० वि०, श्लोक १२८८, १२८९, १२९०, १२९१, (शास्त्री)

२. वही, पृ० ३१२, पं० ७ से १९ तक (वैद्य)
दशतथागतबलोपेतत्वाद्········सर्वाश्रवक्षयज्ञानबलोपेत इत्युच्यते । (वैद्य)

३. अभिधम्मत्थसङ्गहो ८.४ एवं ८ (पटिसमुत्पादनयो)

समुत्पाद बुद्ध के मध्यम मार्ग का सार है। इसको भगवान् ने गम्भीर नय कहा है। इसकी व्याख्या अनेक ग्रन्थों में अनेक प्रकार से की गयी है। एकल्लवीर चण्डमहारोषण तन्त्र में महायान दर्शन के अनुसार इसकी व्याख्या की गई है। जबकि नागार्जुन अनिरोध आदि आठ विशेषणों से विशिष्ट प्रतीत्यसमुत्पाद की चर्चा अपने ग्रन्थ माध्यमिक शास्त्र के प्रारम्भ में, भगवान् बुद्ध की वन्दना करते हुए कहते हैं। उनके अनुसार, अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशाश्वत, अनेकार्थ-अनानार्थ, अनागम और अनिर्गम ये आठ प्रतीत्यसमुत्पाद के अंग हैं। इनके सम्यक बोध से ही समस्त प्रपञ्च का उपशम हो जाता है।[1]

सर्वास्तिवादी बौद्धों के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद के अविद्या आदि पूर्वोक्त बारह अंग हैं। उनके अनुसार इन हेतु प्रत्ययवश ही धर्मों की उत्पत्ति होती है। अविद्या-प्रत्ययवश संस्कार होते हैं। संस्कार प्रत्ययवश विज्ञान होता है। विज्ञान प्रत्ययवश नामरूप होता है। नामरूप प्रत्ययवश षडायतन होता है। षडायतन प्रत्ययवश स्पर्श होता है। स्पर्श प्रत्ययवश वेदना होती है। वेदना प्रत्ययवश तृष्णा होती है। तृष्णा प्रत्ययवश उपादान होता है। उपादान प्रत्ययवश भव होता है। भव प्रत्ययवश जाति होती है। जाति प्रत्ययवश जरा-मरण आदि दुःख होते हैं। इस प्रकार अविद्या प्रत्यय ही सभी दुःखों का मूल है। योग सूत्रकार महर्षि पतञ्जलि ने अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच कलेश (कलेश के मूल) स्वीकार किये हैं। उनके अनुसार भी अविद्या ही अन्य सभी कलेशों का मूल है।[2] इन अविद्या आदि बारह प्रत्ययों का विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

नागार्जुन स्वीकृत अनिरोध आदि आठ अंगों का विवरण बौद्ध दर्शन में निम्नलिखित प्रकार से स्वीकार किया गया है—

१. **अनिरोध**—निरोध क्षणभंगता है, किन्तु तत्त्व में क्षणभंगता नहीं है, अतः वह अनिरोध है।

---

१. अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम्
अनेकार्थममनानार्थमनागममानिर्गमम्।
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशिवं
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे वदतां वरम्॥ —मध्यमकशास्त्र १-२

२. अविद्याऽस्मितारागद्वषाभिनिवेशाः पञ्चलेक्शाः। अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषाम्…।
—यो० सू० २.३-४

२. **अनुत्पाद**—उत्पाद आत्मभावोन्मज्जन है, तत्त्व में आत्मभावोन्मेष नहीं है अतः वह अनुत्पाद है ।

३. **अनुच्छेद**—उच्छेद सन्तान-प्रबन्ध का विच्छेद है, परन्तु तत्त्व में विच्छेद नहीं है, अतः वह अनुच्छेद है ।

४. **अशाश्वत**—सार्वकालिक स्थाणुता ही शाश्वतिकता है परन्तु तत्त्व में वह नहीं है अतः वह अशाश्वत है ।

५-६. **अनेकार्थ—अनानार्थ**—तत्त्व में न भिन्नार्थता है न अभिन्नार्थता, अतः वह अनेकार्थ है और अनानार्थ भी है ।

७. **अनागम**—तत्त्व में आगम नहीं है, अतः वह अनागम है ।

८. **अनिर्गम**—तत्त्व में निर्गम नहीं है, अतः वह अनिर्गम भी है ।

नागार्जुन के अनुसार इन विशेषणों से निर्वाण की सर्व-प्रपञ्चोपशमता एवं उसके शिवत्त्व का बोध होता है। इस दर्शन सिद्धान्त के अनुसार समस्त भावों की उत्पत्ति हेतु-प्रत्ययों की अपेक्षा से ही होती है किन्तु आर्य-ज्ञान की दृष्टि से पदार्थ स्वभावतः अनुत्पन्न है । अतः प्रतीति समुत्पन्न पदार्थों में निरोध आदि नहीं है।

नागार्जुन के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद समस्त प्रपंचोपशम है क्योंकि जब आर्य उक्त विशेषणों से प्रतीत्य-समुत्पाद का ज्ञान कर लेता है, तब स्वभावतः उसके प्रपञ्चों का उपशम हो जाता है । वे उसे शिव भी कहते हैं क्यों कि वहाँ चित्र, चैतस धर्म अप्रवृत्त हैं, ज्ञान-श्रेय व्यवहार भी निवृत्त रहता है । इसीलिए उसमें तत्त्व जाति-जरा-मरण आदि उपद्रव भी नहीं हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद के उपर्युक्त आठ विशेषणों में निरोध का निषेध पहले किया गया है, उत्पाद का पीछे । इससे यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि बौद्ध दर्शन के अनुसार उत्पाद और निरोध में पौर्वापर्य नहीं है अर्थात् संस्कार अनादि है । गौतम ने संभवतः इसी कारण प्रेत्यभाव, जिसका सामान्यतः अर्थ मृत्यु किया जाता है, को पुनरुत्पत्ति के द्वारा परिभाषित किया है ।[1]

ललितविस्तर में नागार्जुन निर्दिष्ट प्रतीत्य-समुत्पाद के उपर्युक्त आठ विशेषणों की चर्चा स्पष्ट रूप से नहीं हुई है किन्तु अभिधम्म निर्दिष्ट अविद्या आदि बारह अंगों का बहुत विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। उन्होंने 'कस्मिन् सति जरामरणं भवति' इस प्रश्न को उठाकर उन्हें जातिप्रत्यय माना है

---

१. पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः । न्यायसूत्र १.१.१९

और जातिप्रत्यय के मूल का अनुसन्धान करते हुए, क्रमशः भवप्रत्यय, उपादान-प्रत्यय, तृष्णाप्रत्यय, वेदनाप्रत्यय, स्पर्शप्रत्यय, षडायतनप्रत्यय, नामरूपप्रत्यय, विज्ञानप्रत्यय, संस्कारप्रत्यय, और अविद्या प्रत्ययों को क्रमशः एक-एक के प्रति कारण माना है ।[1]

इसी प्रकार जरामरण के निरोध के उपाय का अनुसंधान करते हुए, स्पष्ट स्वीकार किया है कि अविद्या के अभाव में संस्कार नहीं होते, संस्कार के अभाव में विज्ञानप्रत्यय नहीं होता, विज्ञानप्रत्यय के अभाव में नामरूपप्रत्यय नहीं होता, नामरूपप्रत्यय के अभाव में षडायतन प्रत्यय नहीं होता, षडायतन प्रत्यय के अभाव में स्पर्शप्रत्यय का अभाव हो जाता है । स्पर्शप्रत्यय के अभाव में वेदनाप्रत्यय का अभाव हो जाता है, वेदनाप्रत्यय के अभाव में तृष्णाप्रत्यय का अभाव हो जाता है । तृष्णाप्रत्यय के अभाव से उपादान प्रत्यय का अभाव होता है, । उपादान प्रत्यय का अभाव होने पर भवप्रत्यय का अभाव होता है और भवप्रत्यय का अभाव होने पर जरा-मरण आदि महादुःखस्कन्ध का अभाव हो जाता है ।[2] इस प्रकार ललितविस्तर के अनुसार अभिसंबोधि के अवसर पर तथागत बोधिसत्त्व ने अविद्या आदि प्रत्येक प्रत्यय, उनके समुदय (उत्पत्ति), उनके निरोध तथा उनकी निरोध-गामिनी प्रतिपद का यथावत् ज्ञान प्राप्त किया था ।[3] अभिधम्मत्थसंगहो में 'पटिसमुत्पादनयो' का वर्णन है—तत्थ अविज्ज-पच्चया सङ्खारा, सङ्खारापच्चया विञ्जाणं, विञ्ञाणपच्चया नामरूपं, नामरूप-पच्चया सलायतनं, सलायतनपच्चया फस्सो, फस्सपच्चया वेदना, वेदनापच्चया तण्हा, तण्हापच्चया उपादानं, उपादानपच्चया भवां, भवपच्चया जाति, जाति-पच्चया जरामरण-सोकपरिदेवदुक्खदोमनस्सुपायासा सम्भवन्ति, एवमेतस्स केव-लस्स दुक्खस्कन्धस्स समुदयो होतीति अयमेत्थ परिसमुप्पादनयो ।

अविज्जासङ्खारग्गहणेन पनेत्थ तण्हुपादानभवापि गहिता भवन्ति, तथा तण्हुपादानाभवग्गहणेन च अविज्जा-सङ्खारा जातिजरामरणग्गहणेन च विञ्जा-णादिफलपञ्चकमेव गहितंतिकत्वा —

> **अतीते हेतवो पञ्च इदानि फलपञ्चकं**
> **इदानि हेतवो पञ्च आपतिं फलपञ्चकं ।।**
> **वीसताकारा, तिसन्धि, चतुसङ्खेपा च भवन्ति ।**[4]

---

१. ल० वि० पृ० १५१ पं १५ से पृ० २५२ पं ११ तक (वैद्य)
२. वही पृ० २५२ पं १६-२२
३. वही पृ० २५२ पं २७ से पृ० २५३ पं १४ तक
४. आभिधम्मत्थसंगहो, पृ. १४१, एवं ८.४ और ८

अनात्मवाद

भारतीय दर्शनों में आस्तिक दर्शन भोक्ता के रूप में एक स्थायी अथवा नित्य तत्त्व स्वीकार करते हैं। संख्या में उसे पुरुष के नाम से, न्याय-वैशेषिक में आत्मा के नाम से तथा वेदान्त में शुद्ध-सत्त्वोपाधिक ब्रह्म कहते हैं। विशिष्टाद्वैत आदि त्रैतवादी वेदान्त (वैष्णव) में उसे जीव नाम से एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में स्वीकार किया जाता है। किन्तु बौद्ध दर्शन में इस प्रकार आत्मा—पुरुष या जीव नाम से किसी पदार्थ की सत्ता स्वीकृत नहीं है। ललितविस्तर में धर्मचक्र-प्रवर्तनपरिवर्त में शाक्यमुनि सिद्धार्थ बुद्ध ने, चार आर्यसत्यों के उपदेश के बाद कौण्डिन्य को संबोधन करके कहा[1]—६ चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा, काय और मन ये सभी अनित्य, अध्रुव, दुःख, अनात्मक एवं शून्य हैं। ये घास-फूस से बनी दीवार (तृणकुड़्य) जैसे निश्चेष्ट. जड़स्वभाव के हैं। इनमें न आत्मा है, न पुरुष है और न जीव है। जाति (जन्म या उत्पत्ति) के कारण जरा, व्याधि, दुःख तथा इस भवपञ्जर में नाना प्रकार की योनियों में उत्पत्ति होती है। जगत् का यह सब प्रपञ्च प्रत्यय अर्थात् कारण सामग्री से होता है। वस्तुतः न कोई आत्मा और पुद्गल (पुरुष) है और न कोई संक्रमक—इस शरीर से शरीरान्तर में आने-जाने वाला जीव है।

बौद्धों के अनुसार आत्मा प्रज्ञप्तिमात्र है। जिस प्रकार रथ नामक कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है, वह शब्दमात्र है, परमार्थ में अंगसंभार है। उसी प्रकार आत्मा, सत्त्व, जीव नामरूपमात्र स्कन्धपञ्चक है। यह कोई अविपरिणामी शाश्वत पदार्थ नहीं है। इसी कारण बौद्धों को अनात्मवादी कहा जाता है।

बौद्धों का कहना है कि आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती, न प्रत्यक्ष से और न अनुमान से। यदि अन्य भावों के समान आत्मा का पृथक् सद्भाव है तो इसकी उपलब्धि या तो प्रत्यक्ष-ज्ञान से होनी चाहिए, जिस प्रकार पञ्चेन्द्रिय विज्ञान तथा मनोविज्ञान के विषयों की होती हैं अथवा अनुमान ज्ञान से होनी चाहिए यथा अदृश्य, अतीन्द्रिय उपादान रूप की होती

---

१. (क) चक्षुरनित्यमध्रुवं तथा श्रोत घ्राणं, जिह्वाविकायमनदुःखा अनात्म शून्या। जडास्वभाव तृणकुडम इवा निरीहा, नैवात्र आत्म न नरो न च जीवमस्ति ॥ ल० वि०, परि० २६, श्लोक ३२ (वैद्य)

(ख) जातीनिदान जरव्याधिदुखानि भोन्ति, उपपत्ति नैक विविधा भवपञ्जरेऽस्मिन्। एवमेष सर्व इति प्रत्ययतो जगस्य, न च आत्म पुद्गलु न संक्रमकोऽस्ति कश्चित् ॥ ल० वि० परि० २६, श्लोक ३८ (वैद्य)

है। क्योंकि आत्मा की उपलब्धि उपर्युक्त ज्ञानों से नहीं होती, अतः आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है।

आत्मा को न मानने पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा का परमार्थतः अस्तित्त्व नहीं है, तो चित्त जो उत्पन्न होते ही निरुद्ध हो जाता है, बहुत पहले अनुभूत किये गये विषय का स्मरण कैसे कर सकता है? पूर्वानुभूत विषय के सदृश विषय का प्रत्यभिज्ञान कैसे कर सकता है? कैसे एक चित्त देखता है और दूसरा उसका स्मरण करता है? यदि आत्मा द्रव्यसत् नहीं है तो कौन स्मरण करता है, और कौन वस्तुओं का प्रत्यभिज्ञान करता है?

बौद्धों की ओर से इस प्रश्न का समाधान सन्तान-क्रम को स्वीकार करके दिया जाता है। उनका कहना है कि एक अतीत चित्त विषय विशेष को ग्रहण कर, एक दूसरे चित्त अर्थात् प्रत्युत्पन्न चित्त का उत्पाद करता है, जो उस विषय का स्मरण करता है। दूसरे शब्दों में स्मरण चित्त दर्शन चित्त से उत्पन्न होता है। जैसे फल-बीज से सन्तति विपरिणाम की अन्तिम अवस्था के बल से उत्पन्न होता है और अन्त में स्मरण से ही प्रत्यभिज्ञान होता है।

यद्यपि बौद्ध दर्शन का नैरात्म्यवाद प्रसिद्ध है किन्तु बुद्ध के शिष्यों में से कुछ ने आत्मवाद का भी उपदेश दिया था, जैसा कि आत्मवादी दर्शनों में उनका 'भारवाहसूत्र' प्रसिद्ध है। उद्योतकर ने यह कहते हुए कि आत्मा नहीं है ऐसा मानने वाला बौद्ध अपने सिद्धान्त के विरुद्ध जाता है तथा भारवाह संबंधी सूत्र को उद्धृत किया है, उसका आभिप्राय है—'हे भिक्षुओं, तुम्हें यह उपदेश दूंगा कि भार क्या है और भारवाही कौन है? रूपादि पांच स्कन्ध ही भार हैं और पुद्गल ही भारवाही है, जो यह कहता है कि आत्मा नहीं है—वह मिथ्या दृष्टि वाला है।'[1] यह मत एकदेशीय है। ललितविस्तर में मारधर्षण परिवर्त में आत्मा के संबंध में कई मतों की प्रसंगतः चर्चा की गयी है और उसे अज्ञान माना गया है। कुछ लोग आत्मा को नित्य और कुछ अनित्य मानते हैं।[2] कुछ लोग इसे पुरुष कहते हुए भी परमार्थ-रहित कहते हैं। कोई उसे व्यापक एकदेशस्थ और नित्य कहते हैं। कुछ विचारक उसे मूर्त्त-अमूर्त्त, निर्गुण, सगुण, कर्त्ता तथा अकर्त्ता

---

१. भारं वो भिक्षवो देशयिष्यामि भारहारं च, भारः पञ्चस्कन्धा भारहारश्च पुद्गल, इति। यश्चात्मा नास्तीति समिथ्यादृष्टिको भवति॥ न्या० वा, पृ० ३३९, डा० श्रीनिवास शास्त्री, वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध दर्शन का विवेचन, पृ० २२७ (१९६८) से उद्धृत।

२. ल० वि०, श्लोक ११०३ (शास्त्री)

कहते हैं।[1] आत्मा के प्रश्न को उठाकर ललितविस्तरकार अपना मत प्रस्तुत नहीं करते हैं परन्तु बोधि के लाभ और निर्वाण को प्रमुख स्थान देते हैं।[2] एक अन्य प्रसंग में शिल्पसंदर्शन परिवर्त में शून्यता और नैरात्म्य के बाणों से क्लेश रूपी शत्रुओं को मारने की चर्चा करते हैं तथा शिवरूप उत्तम बोधि की प्राप्ति को महत्त्व देते हैं।[3]

अनित्यता (क्षणभंगवाद)

बौद्ध दर्शन में किसी भी पदार्थ की नित्य सत्ता स्वीकार नहीं की जाती। उनके अनुसार प्रत्येक पदार्थ क्षणिक अर्थात् अनित्य है। इनमें स्थविरवादी बौद्ध दार्शनिकों ने चित्त चैतसिकों की क्षणिकता की ही चर्चा की थी। वैभाषिकों ने बाह्य-वस्तुओं को भी क्षणिक स्वीकार कर लिया। सौत्रान्तिक सन्तति को स्वीकार करते हुए क्षणिकवाद को मानते हैं। क्षणिक का तात्पर्य है आत्मलाभ के अनन्तर विनष्ट होना। उनके अनुसार प्रत्येक पदार्थ अपने कारण समवाय से एक क्षण उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण वह आत्मलाभ करता है अर्थात् उसकी सत्ता होती है और तीसरे क्षण अपने कार्यसन्तान को उत्पन्न कर नष्ट हो जाता है। यह विनाश यहीं होता है, जहाँ वह उत्पन्न हुआ है। यह विनाश अहेतुक है, अतः अकस्मात् होता है। इस प्रकार समस्त विश्वप्रपञ्च भी क्षणिक है और जो पदार्थ क्षणिक है वह अनित्य भी अवश्य है।

बौद्धधर्म के अनित्यता के सिद्धान्त को ललितविस्तरकार ने छन्दक और बोधिसत्त्व के वार्त्तालाप के माध्यम से बहुत सुन्दर ढंग से वर्णित किया है। बोधिसत्त्व छन्दक से कहते हैं:—हे छन्दक, ये सभी काम और काम्य पदार्थ अनित्य हैं, टिकाऊ नहीं हैं, सदा एक रूप रहने वाले नहीं हैं, स्वभाव से ही बदलने वाले हैं। पहाड़ी नदी की भांति कुछ काल में ही वेग के समान अपनी सत्ता खो बैठते हैं। ओस की बूंद की तरह क्षणमात्र स्थायी हैं। बच्चों को बहलाने के लिए बन्द की हुई खाली मुट्ठी की भांति सारहीन हैं। केले के स्तम्भ के समान, मिट्टी के कच्चे बर्तन की भांति नाशवान् है। शरद्कालीन मेघ की भांति क्षण में ही विलीन हो जाने वाले हैं। आकाश में चमकने वाली बिजली की भांति एक क्षण के लिए प्रगट होते हैं' विष मिले अन्न की भांति

---

१. ल० वि० श्लोक ११०४ (शास्त्री)

२. वही श्लोक ११०५

३. वही श्लोक ३७१

दुखदायी हैं। जल-बुद्बुद के समान तत्काल मिट जाने वाले हैं, माया और मृगतृष्णा के समान इनका प्रत्यक्षाभास मात्र होता है और स्वप्न के समान दृष्टि विपर्यासमात्र हैं।[1]

विश्वप्रपञ्च की मायामयता का कथन ललितविस्तर में, स्थान-स्थान पर हुए उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पद्य में द्रष्टव्य है :—

इह तन्मयानुबुद्धं प्रतीत्यसमुदागतं जगच्छून्यं।
चित्तैकक्षणेऽनुयातं मरीचिगन्धर्वपुरतुल्यं ॥[2]

अर्थात् "मैंने भली प्रकार समझ लिया है कि प्रतीत्यसमुत्पाद से उत्पन्न यह जगत्शून्य हैं, एक क्षण में चला जाने वाला, मृगमरीचिका तथा गन्धर्वनगर के समान है।" इस प्रकार बौद्ध दर्शन के अनित्यता के सिद्धान्त ललितविस्तर में विशेष आदर के साथ प्रस्तुत किये गये हैं।

वैराग्य

'लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार के विषयों के प्रति तृष्णा रहित होकर चित्त की सम्पूर्ण रूप से एकाग्रता को वैराग्य करते हैं।[3] ललितविस्तर में 'अर्हत' पदवी की उपेक्षा कर, महाकरुणा को अपनाकर समस्त प्राणियों की दुःखनिवृत्ति के लिए बोधिसत्त्व की निष्ठा दिखाई है और साथ ही लोकगत भोगों के प्रति वितृष्णा अत्यन्त प्रभावपूर्ण भाषा में प्रगट हुई है। उदाहरणार्थ कुछ प्रसंग द्रष्टव्य हैं :—

अभिनिष्क्रमण के अवसर पर तथागत बोधिसत्त्व छन्दक से कहते हैं—'हे छन्दक, ये काम तो अनित्य हैं, अध्रुव हैं, अशाश्वत हैं, विपरिणामी हैं, पर्वतीय नदी के वेग के समान चंचल हैं।[4] अपरिमित कल्पों तक मैंने नाना प्रकार के दिव्य और मानुष रूप, शब्द, गन्ध, रस तथा स्पर्श रूपी कामभोग भोगने पर तृप्ति न हुई। चारों द्वीपों में श्रेष्ठ राजपुत्र हो मैंने राज्य किया, जब मैं चक्रवर्ती राजा बना था, सात रत्नों से युक्त था, अन्तःपुर के बीच में विहरता था। मैंने देवताओं

---

१. अलं छन्दक···नातृप्तिकराः। —ल० वि० पृ० १५३
पृ० १५३ पं० १०, (वैद्य)

२. वही, श्लोक १२८४ (शास्त्री)

३. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् —यो० सू० १.५

४. अनित्या खल्विमे कामा अध्रुवा अशाश्वता विपरिणाम—धर्माणः प्रद्रुताश्चपला गिरिनदी—वेगतुल्याः।' —ल० वि०पृ० १५३ पं० ५-६ (वैद्य)

का स्वामित्व तथा सुयाम देवों का आधिपत्य किया, उनसे च्युत होकर, इस संसार में निर्मित देवों के बीच निर्मित होकर आया और मनोमयी उत्तम लक्ष्मी का पूर्व में भोग किया। देवलोक में वशवर्ती कामदेव होकर मैंने राज्य किया, सब प्रकार के उत्तम भोग भोगे, परन्तु तृप्ति नहीं हुई। आज इन हीन मानवीय भोगों से तृप्ति होगी, इसका क्या ठिकाना ?[1]

एक स्थल पर कवि ने राजा बिम्बसार को सम्बोधित करते हुए, बोधिसत्त्व के मुख से निर्गत वचनों के रूप में कहा है कि—हे राजन्, तुम्हारा नित्य कल्याण हो। मैं कामगुणों का प्रार्थी नहीं हूँ। काम विष तुल्य है, अनन्त दोषों से भरे हैं। नारक, प्रेत तथा पशु, पक्षियों की योनि में गिराने वाले हैं। विद्वानों द्वारा निन्दित हैं और अनार्य हैं। पके हुए कफ के पिण्ड के समान मैंने उन्हें थूक दिया है।[2] काम पेड़ में लगे पके फलों के समान पतनशील हैं। आकाश में स्थित मेघों के समान चलनशील हैं, पवन के समान अस्थिर और चंचल हैं। सब शुभों को बिखरा देने वाले हैं छलने वाले हैं। काम प्रथम तो न मिलने पर जलाते हैं और मिलने पर भी तृप्ति नहीं देते। जब ये काम बढ़कर अनियन्त्रित हो जाते हैं, तब कामी को ही खाना प्रारम्भ कर देते हैं और उसे अतिशय पीड़ा देते हैं।[3] हे राजन्, देवलोक और मनुष्यलोक दोनों को ही काम एक साथ प्राप्त होने पर भी, मनुष्य को तृप्ति नहीं देते, बल्कि उसकी तृष्णा को और बढ़ा देते हैं।[4] हे राजन्, जो शान्त, विनीत, आर्य एवं अनाश्रव अर्थात् निर्मल चित्तवाले धर्मज्ञ हैं, जो ज्ञान से तृप्त हैं वे ही वस्तुतः तृप्त हैं, कामगुणों से कभी तृप्ति नहीं होती। क्योंकि काम भोगयुक्त इस मायामय जगत का कहीं अन्त नहीं है। जैसे खारा पानी पीने से कभी तृषा शान्त नहीं होती, उसी प्रकार काम-भोगों के भोग से भी तृष्णा शान्त नहीं होती।[5]

ललितविस्तरकार ने एक अन्य स्थल पर मारकन्याओं के प्रलोभन का उत्तर देते हुए, तथागत बोधिसत्त्व के मुख से, इसी प्रकार के वचनों का निबन्धन किया है। उनके अनुसार काम विवादरूप हैं, कलह रूप हैं, कलेशयुक्त हैं और

---

१. ल० वि० १५५, पं० १२-२० (वैद्य)
२. वही, श्लोक ७६५, ७६६ (शास्त्री)
३. वही, श्लोक ७६७, ७६८
४. वही, श्लोक ७६९, तुलनीय—न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति, हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते। मनु० २.९४
५. ल० वि०, श्लोक ७७०-७७१ (शास्त्री)

भयकारक हैं। इनका सेवन मूढ़जन ही करते हैं बुद्धिमान जन् नहीं।[1] इसी प्रकरण में तथागत पुनः कहते हैं कि काम तो तृणाग्र बिन्दु के समान चपल, शारदीय मेघ के समान अस्थिर एवं पन्नगी के रोष के समान भयावह हैं।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ललितविस्तर में वैराग्य अपनी सीमा तक प्रतिष्ठित है तथा अपने प्रतिद्वन्द्वी राग का, काम निरन्तर तिरस्कार करता है। इतना ही नहीं लेखक ने तो मारघर्षण परिवर्त नाम से एक पूरा का पूरा प्रकरण ही निबद्ध कर डाला है, जिसमें वैराग्य-भावना की दिव्य प्रतिष्ठा हुई है।

सर्वदुःखमयता

(सर्व दुःखम्)—बौद्ध दर्शन की सबसे मुख्य मान्यता है समस्त विश्वप्रपञ्च को दुःखमय समझना। शाक्यमुनि गौतम बुद्ध ने संबोधि में जिन चार आर्य-सत्यों का साक्षात्कार किया है, उनमें सकल विश्व-प्रपञ्च को दुःखमय समझना सर्वप्रथम है। 'सर्व दुःखम्' के सिद्धान्त को ललितविस्तर में अनेक स्थलों पर विस्तार पूर्वक निबद्ध किया गया है। एक स्थल पर कवि छन्दक को सम्बोधित करते हुए बोधिसत्त्व से कहलाते हैं—"हे छन्दक, इस जगत् को मैं दुःखी, शोक के निर्जन वन में आई हुई बाढ़ में फंसा हुआ, क्लेशरूपी विषधरों से भरे हुए, नैराश्य के प्रवाह द्वारा बहाकर ले जाया जाता हुआ समझता हूँ। यह जगत् विना शरण का, विना सहारे का, मोह और अविद्या के अंधकार में जरा और मृत्यु के भय से पीड़ित जन्म, मरण के कलेश की मार से प्रताडित और शत्रुओं से आक्रान्त देखता हूँ।[3] यह संसार शोक और जन्म, मरण रूपी निर्जन वनों वाला, रोषरूपीलहरों वाला, राग रूपी मगर-मच्छोंवाला, वैररूपी भंवरों से क्षुब्ध, दुस्तर संसार रूपी ओघ (बाढ़) के समान है।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ललितविस्तर काव्य में सकल-दुःखनिवृत्ति रूप निर्वाण को प्रधान प्राप्तव्य स्वीकार करते हुए, उसकी प्राप्ति के उद्देश्य से, कवि ने साधना के विविध पक्षों का तथा उसके मूल में प्रतिष्ठित बौद्ध दर्शन की प्रायः सभी दार्शनिक समस्याओं का विवरण प्रस्तुत किया है। ग्रन्थकार ने इन दार्शनिक सन्दर्भों को निदान, समुत्साह, लिपिशाला, संचोदना, दुष्करचर्या,

---

१. ल० वि० श्लोक १०४६ (शास्त्री)
२. वही, श्लोक १०५५
३. वही पृ० १५५, पं २२;२५ (वैद्य)
४. वही, पृ० १५५, पं २६

भारघर्षण, अध्येषणा, अभिसंबोधि, धर्मचक्रप्रवर्तन आदि परिवर्तों में विशेषरूप से वर्णित किया है। यद्यपि अन्य परिवर्तों में भी इस विषय की सामग्री पर्याप्त मात्रा में बिखरी हुई है।

कर्म, कर्माशय एवं पुनर्जन्म

भारतीय दर्शन की प्रायः सभी शाखाओं में कर्म और सुख-दुःख का परस्पर हेतु-कार्य का संबंध मानते हुए, उन पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया है। न्याय-वैशेषिक परम्परा में धर्म-अधर्म और संस्कार के रूप में, मीमांसा शास्त्र में याग और उसके प्रयोजन स्वर्ग आदि की प्राप्ति के बीच सम्बन्ध के रूप में विशेष विचार किया गया है। इस विषय पर सबसे अधिक गम्भीर विचार हुआ है योग-दर्शन में।

योग दर्शन में किये गये विवेचन के अनुसार, कर्म, जिसके अर्जित समूह को कर्माशय कहा गया है, प्रथमतः दो प्रकार के हैं क्लेश फलवाले और अक्लेश फलवाले। इनमें विचारणीय प्रथम अर्थ-क्लेशफलवाले (क्लेशमूल) कर्म ही हैं। इसके प्रथमतः दो भेद हैं—(१) दृष्टजन्मवेदनीय एवं (२) अदृष्टजन्मवेदनीय।[1] इनमें प्रथम का फल इसी जन्म में भोगना है एवं द्वितीय का इस जन्म से भिन्न जन्म में। दृष्टजन्मवेदनीय कर्म के पुनः तीन प्रकार हैं—प्रारब्ध, संचित और निरुद्ध। अदृष्टजन्मवेदनीय सभी कर्माशय संचित कर्म के अन्तर्गत ही समाहित माना जाता है। इनमें प्रारब्ध कर्म वे हैं जिनका भोग प्रारम्भ हो चुका है और इसी समय इसी जन्म में यथा समय भोग द्वारा उनका क्षय हो जाना है। संचित कर्म वे हैं जो कर्म किये जा चुके हैं, उनका भोग उचित अवसर पर यथासमय होगा। निरुद्ध कर्म वे कहे जाते हैं जिनका भोग अब कभी नहीं होगा, जिन्हें ज्ञानाग्नि के द्वारा अथवा विविध साधनाओं के द्वारा दग्धबीज के समान किया जा चुका है।[2]

प्रारब्ध कर्म के भोग तीन प्रकार के फलवाले होते हैं, जन्म, आयु और भोग—'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'[3] कुछ कर्मों के द्वारा प्राणी के जन्म का निश्चय होता है और वह मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि के रूप में जन्म ग्रहण करता है। कुछ कर्म आयु का निर्धारण करते हैं। कुछ कर्म-भोग

---

१. क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। योगसूत्र २.१२

२. ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा। गीता

३. योगसूत्र, २.१३

प्रदान करते हैं । कुछ कर्म जन्म, आयु और भोग तीनों के कारण बनते हैं और कुछ केवल दो अथवा एक के कारण बनते हैं । साथ ही इन जन्म, आयु और भोग के निर्धारण में अनेक कर्मों का समूह कारण होता है । सामान्यतः मनुष्य जो कर्म करता है वह कर्माशय के रूप में संचित होता रहता है और अनुकूल परिस्थिति में उनका भोग होता रहता है । किन्तु किये हुए कर्म का भोग इसी जन्म में हो अथवा जन्मान्तर में ही हो ऐसा कोई एक नियम नहीं है, उनके करने के प्रसंग में भावनात्मक उग्रता आदि के आधार पर, उनका भोग अविलम्ब अथवा विलम्ब से होता रहता है ।

ललितविस्तर में कर्म का संबंध जन्म से विविध योनियों की प्राप्ति से है या नहीं, इस विषय पर चर्चा की गयी है । यहाँ एक स्थान पर कर्म-विपाक की चर्चा करके आठ प्रकार के भयों का उल्लेख हुआ है राजसंक्षोभ भय, चौर संक्षोभ भय, व्याल संक्षोभ भय, दुर्भिक्ष-कान्तार-संक्षोभ भय, अन्योन्य-कलह-विवाद-विग्रह-संक्षोभ-भय, देव-संक्षोभ भय. नाग-संक्षोभ भय, यक्ष-संक्षोभ-भय एवं सर्वोपद्रव संक्षोभ-भय ।[१] अभिसंबोधन परिवर्त्त में दिव्यचक्षु-लाभ के अनन्तर बोधिसत्त्व ने प्राणियों को कर्मानुसार भोग भोगते हुए सुगत, दुर्गत एवं उत्तम हीन रूप में देखा[२] तथा अपने और दूसरे प्राणियों के अनेक प्रकार के पूर्वजन्मों (पूर्वनिवासों) का स्मरण किया ।[३] इस ग्रन्थ में सुख-दुःख की प्राप्ति के प्रसंग में शुभकर्मों के प्रभाव को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है । उदाहरण के रूप में हम गर्भावक्रान्ति परिवर्त्त में देख सकते हैं बोधिसत्त्व के माता के गर्भ में आने मात्र से समय से मेघ-समूह जल बरसाते थे, समय से विविध प्रकार की हवायें बहती थीं, समय से ऋतु और नक्षत्रों में परिवर्तन होते थे एवं सभी प्रकार के योग, क्षेम और सुभिक्ष से राज्य संपन्न होते थे[४]—'कालेन देवा वर्षन्ति स्म । कालेन वायवो वान्ति स्म । कालेन-ऋतवो नक्षत्राणि च परिवर्तन्ते स्म । क्षेमं च राज्यं सुभिक्षं च सुमना-कुलमनुभवति स्म । सर्वे च कपिलाह्वये महापुरवरे शाक्या अन्ये च सत्त्वाः खादन्ति स्म, पिबन्ति स्मः, (रमन्ते स्म) क्रीडन्ति स्म, प्रविचारयन्ति स्म, दानानि च ददन्ति स्म, पुण्यानि च कुर्वन्ति स्म, कौमोद्यामिव, चातुर्मास्यामेकान्तरे क्रीडासुखविहारैः विहरन्ति स्म ।'

---

१. ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० ३१८, पं० ५-१०

२. वही, पृ० २५० पं० २०,२१

३. वही, पृ० २५० पं० २५ एवं पृ० २५१ पं० १-७

४. वही, पृ० ५३, पं० २२-२६

ललितविस्तर के नाम से ही स्पष्ट है कि यह बोधिसत्त्व के जीवन के ललित अर्थात् सुखद और कल्याणप्रद प्रसंगो का विस्तार है ।[१]

यद्यपि इसी ग्रन्थ में ललितविस्तर रूप इस धर्मपर्याय के श्रवण, संपरिग्रह आदि विविध कर्मों के अनेक प्रकार के फलों की चर्चा भी इसी ग्रन्थ में की गयी है । उदाहरणार्थ हम देखते हैं कि ग्रन्थ-क्रम के अनुसार इस धर्म-पर्याय के श्रवण मात्र से दृढ़तर वीर्य की प्राप्ति, अनुत्तर संबोधि में महाधर्म वर्षा-वेग की उत्पत्ति, मारपक्ष का निग्रह, सभी पर प्रवादियों का निरोध इत्यादि फलों की प्राप्ति,[२] सादर ग्रहण मात्र से उत्कृष्ट रूप, उत्कृष्ट बल, उत्कृष्ट परिवार, उत्कृष्ट प्रतिमान, उत्कृष्ट नैष्क्रम्य, उत्कृष्ट चित्तपरिशुद्धि, उत्कृष्ट समाधि एवं उत्कृष्ट प्रज्ञा का अवभासन रूप आठ फलों की प्राप्ति इन आठ उत्कृष्ट धर्मों की प्राप्ति,[3] इस धर्म-पर्याय के अभिभाषक के प्रति साधुकार के फलस्वरूप आठ प्रकार की वाक्परिशुद्धि,[४] धर्म-पर्याय की पुस्तक को लिखकर धारण करने, सत्कार करने, पूजा करने, वर्णन करने आदि कर्मों के फल के रूप में आठ महा-निधानों की प्राप्ति,[५] सुप्रवर्त्तित करके धारण रूप कर्म से आठ संभारों की प्राप्ति,[६] अन्य-जनों को विस्तारपूर्वक समझाने से कुशलमूल आठ महापुण्यों की प्राप्ति,[७] श्रवण से आठ प्रकार की चित्तनिर्मलता आदि की चर्चा की गयी है ।[८]

---

१. (क) ल० नि० (शास्त्री) श्लोक ११५८-११६३

(ख) The detailed narration (the sport of the Buddha) corresponds to Mahāyānistic ideas, The life and work of the Buddha on the earth is thus termed "the sport" (calita) of a supernatural being. W.M.HIL Vol. II, p. 248, As regards the Title, see lefman, Translation p. 70 ff. edition Vol. II, P. Vif, Foucaux, Trans. II, p. 3 and Winternitz. WZKM 26, 1912, p. 244.

२. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ३१६, पं० ७-१०

३. वही, पृ० ३१६, पं० १३, पृ० ३१७ पं० २

४. वही, पृ०, ३१७, पं० ३-१०

५. वही, पृ० ३१७, पं० ११-१७

६. वही, पृ० ३१७, पं० १७-२५

७. वही, पृ० ३१७, पं० २६

८. वही, पृ० ३१७, पं०२७-२६ एवं पृ० ३१८ पं ३ तक

दस प्रकार के कुशल कर्मों का वर्णन लेखक ने अनेकों स्थानों पर किया है वे कर्म शरीर के द्वारा तीन प्रकार के हैं, वाणी के द्वारा चार प्रकार के और मन से तीन प्रकार के सुशोभित चरित्रवाले हैं।[1] सुकृतों को छोड़कर कोई न साथ देता है न पीछे जाता है। संस्कृत अर्थात् इस बनावटी दुनियाँ का साथी मित्र, जाति-भाई, परिवार आदि कोई नहीं है।[2] बोधिसत्त्व ने कहा मुझमें जो कुछ भी ऋद्धि, प्रतिभा, ज्ञान तथा गुण देख रहे हो वह सब शुभकर्म के कारण है तथा शील, विद्या (श्रुत) और अप्रमाद के कारण है।[3]

शान्तिभिक्षुशास्त्री ने आठ प्रकार के असमय या योनियों का वर्णन किया है।[4]

दार्शनिक तत्त्व

ललितविस्तर में परम पुरुषार्थ निर्माण

ललितविस्तर ग्रन्थ, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, बोधिसत्त्व की लीलाओं का वर्णन करनेवाला ग्रन्थ है उनके जीवन-चरित से संबंधित है दार्शनिक अथवा ऐतिहासिक नहीं। जैसा कि ग्रन्थकार ने स्वयं कहा है यह उनके जीवन-चरित के माध्यम से धर्म का उपदेश करनेवाला ग्रंथ है, यह बोधिसत्त्वयान[5] का

---

१. ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० ८, पं० ११,१२

२. न च संस्कृते सहाया न मित्रज्ञातीजनो च परिवाराः।
अन्यत्र कर्म सुकृतादनुबन्धति पृष्ठतो याति॥
—ल० वि० (शास्त्री) श्लोक ६।

३. या काचि ऋद्धि मह्य पश्यत प्रतिभां च ज्ञानगुणतां च।
सर्वशुभकर्महेतोः शीलेन श्रुतेन चाप्रमादेन॥
—ल० वि० (शास्त्री) श्लोक ६५

४. यथा नरकयोनि, प्रेतयोनि, तिर्यग्योनि, दीर्घायुष देवयोनि, मिथ्यादृष्टि, बुद्धानुत्पाद, म्लेच्छता, तथा मूकता की अवस्था को प्राप्त हुए दुर्गति में पड़े हुए सत्त्वों को देखो—
किं चापि देवनयुताः श्रुत्वा धर्मं न ते वितृष्यन्ते।
अथ च पुनर अक्षणगतानपायसंस्थानपेक्षस्व॥
—ल० वि० (शास्त्री) श्लोक २१, पृ० ४२

५. निर्वाण की प्राप्ति के तीन मार्ग हैं—
(क) श्रावकयान (ख) प्रत्येक बुद्धयान
(ग) बोधिसत्त्वयान

ग्रन्थ है, जिसको पढ़कर बोधिसत्त्वों की भाँति कुशल मूल कर्मों की उद्भावना हो सके। इसमें भगवान् तथागत को तुषितलोक के श्रेष्ठ भवन में बुलाने, सोच-विचारकर गर्भावक्रांति की लीला का, गर्भ के स्थान की विशेषताओं का, अभिजात अर्थात् महापुरुष के जन्म की भूमि के प्रभाव का, विशेष गुणों में, सकल बाल चरितों में बोधिसत्त्व की विशिष्टता का समस्त लौकिक विषयों, शिल्पविषयों, कर्मविषयों, लिपियों, संख्याओं में, सामुद्रिक शास्त्र में, गणित-शास्त्र में, खड्ग-संचालन, धनुर्विद्या, भल्लविद्या आदि में, बोधिसत्त्व की अतिविशिष्टता को बतानेवाला, अन्तःपुर में कर्त्तव्य का संदर्शक, और अन्य बोधिसत्त्वों की लीलाओं इत्यादि का वर्णन करते हुए, अनुपम, अपरिमेय बुद्ध के धर्मों का विस्तार किया गया है।[1] अतः इस ग्रंथ में शुद्ध दार्शनिक संदर्भों का दार्शनिक भाषा में अनुसंधान करना तो उचित न होगा। किन्तु विविध प्रसंगों में, बौद्धधर्म के विविध सिद्धांतों का चित्रण करते हुए, अथवा वार्तालाप के प्रसंग में अथवा केवल मानसिक चिंतन के सोच को प्रस्तुत करते हुए, बौद्ध दर्शन की प्रायः सभी विलीन समस्याओं पर विचार प्रस्तुत किये गये हैं। जिसको आधार के रूप में स्वीकार करके, इस काव्य-ग्रंथ का दार्शनिक अध्ययन करना अनुचित न होगा। इस अध्ययन के क्रम में न तो बौद्धदर्शन की सभी समस्याओं पर ललितविस्तरकार की मान्यता आरोपित करना उचित होगा और न किसी समस्या पर ललितविस्तरकार के तद्विषयक समस्त सन्दर्भों को उपस्थित करना उचित होगा। ऐसा करने का प्रयत्न प्रस्तुत ग्रंथ को अनन्त विस्तार प्रदान करनेवाला होगा।

प्रस्तुत अध्याय में हम ललितविस्तर के आधार पर बौद्ध दर्शन की कुछ विशिष्ट समस्याओं पर निष्पक्ष अर्थात् बिना किसी आग्रह के तटस्थतापूर्वक ग्रंथकार के विचार प्रस्तुत करेंगे। मध्य-मध्य में उन-उन समस्याओं पर, बौद्ध-दर्शन के सामान्य सिद्धांतों को, बिना किसी विवाद के अर्थात् शाखा-भेद (संप्रदाय-भेद) में बिना गये पृष्ठभूमि के रूप में निबद्ध किया जाएगा।

सिद्धार्थ गौतम बुद्ध के उपदेशों का उद्देश्य दार्शनिक तर्कजाल प्रस्तुत करना नहीं था। उन्होंने बहुत सीधी-सादी भाषा में, दुःखमय इस विश्व प्रपंच से मुक्ति प्राप्त करने के लिए, कुछ आदर्श, कुछ जीवनचर्या संबंधी नियम समाज के समक्ष प्रस्तुत किये थे। उनके इन उपदेशों के पीछे गहन चिंतन था, एक दर्शन था, जीवन-दर्शन था किन्तु भाषा का जंजाल नहीं था, तर्क का जाल नहीं था।

---

१. ललितविस्तर, परि० १, पृ० ३, ४

यह तो ब्राह्मण-दर्शन अथवा वैदिक दर्शन के अनुयायियों द्वारा, भगवान् बुद्ध के उपदेशों के खण्डन करने, उन्हें निस्सार सिद्ध करने के उद्देश्य से किये गये आक्रमणों-प्रत्याक्रमणों का परिणाम है, जिसके कारण बौद्ध-तर्कशास्त्र का स्वतंत्ररूप से विकास हो गया। और यह विकास इस स्तर पर हुआ कि ब्राह्मण-दर्शन के अनुयायियों को अपने तर्कशास्त्र को पुनः विकसित करना पड़ा। इसे एक संयोग कहा जाए, अथवा भगवान् बुद्ध के चिंतन और उनके अनुवर्त्तियों की निष्ठा कि बौद्ध तर्कशास्त्र इतना प्रौढ़ होता गया कि आज भी भारतीय अथवा पाश्चात्य तर्कशास्त्र, उसके तर्कों के समक्ष स्थिर नहीं रह पाते।

ललितविस्तर-काव्य में दार्शनिक तत्त्वों का अनुसंधान करते हुए, उस तर्कशास्त्र का अनुसंधान करना न संभव है न उचित ही। अतः आगामी पृष्ठों में हम क्रमशः एक-एक समस्या को लेकर ही सामान्य सिद्धांतों का वर्णन करेंगे।

इस प्रसंग में एक बात और स्मरण रखनी चाहिए कि सिद्धार्थ गौतम बुद्ध का चिंतन दुःखनिवृत्ति की साधना के उद्देश्य से है। भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं में भी दुःखनिवृत्ति के उद्देश्य से ही अनेक प्रकार का चिंतन किया गया है। कपिलमुनिकृत सांख्यदर्शन—'त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः' स्पष्ट शब्दों में दुःखनिवृत्ति के उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुआ है। न्याय-दर्शन भी निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए ही प्रवृत्त होता है। 'प्रमाणप्रमेय···तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।'[1] कणादकृत वैशेषिकशास्त्र[2] जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है उसे ही धर्म मानकर धर्म की जिज्ञासा प्रस्तुत करता है। पतञ्जलि योगशास्त्र में विश्व के समस्त प्रपञ्च को और उससे प्राप्त होने वाले दुःखों के मूल के रूप में अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश को स्वीकार करते हैं और इसीलिए वे उन्हें क्लेश की संज्ञा देते हैं।[3] क्योंकि ये अविद्या आदि चित्त की वृत्तियाँ हैं अतः क्लेश की निवृत्ति के लिए वे

---

१. (क) सांख्यसूत्र०, १. १. (ख) सांख्यकारिका, का० १, पृ० ८१. (प्रो० चतुर्वेदी)

२. प्रमाणप्रमेय···। न्यायसूत्र १.१.१., तर्कभाषा, पृ० ३, ४, (प्रो० श्री निवास शास्त्री)

३. यतोऽभ्युदनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः १.१.२
—प्रशस्तपादभाष्य, परिशिष्ट, पृ० २६५, (प्रो० श्री निवास शास्त्री)

४. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः, पञ्च क्लेशाः। —यो० सू० २. ३.

चित्त की वृत्तियों का निरोध आवश्यक मानकर[1], उसके लिए अष्टांग-योग का निर्देश करते हैं।[2] जिसकी साधना के फलस्वरूप साधक कैवल्य को प्राप्त करता है।[3] और उसके फलस्वरूप उसके दुःख की निवृत्ति होती है।

इन समस्त भारतीय दर्शन की शाखाओं में योग दर्शन एक ऐसी दर्शन शाखा है जिसमें दुःखनिवृत्ति के लिए साधना का अर्थात् कुछ विशिष्ट आचरणों का निर्देश किया गया है। अतः बौद्ध और योग दर्शन के चर्या पक्ष में अत्यधिक साम्य है। इस विशिष्ट साम्य को देखकर पाश्चात्य विद्वान् पूसें का कहना है कि एक बात जो बड़े महत्त्व की है, असंदिग्ध है, वह यह कि बौद्ध धर्म योग की एक शाखा है। योग में ब्रह्मचर्य, यम, नियम, धारणा, ध्यान, समाधि, नासाग्र-भ्रूमध्यादि का दर्शन, कायस्थैर्य, मन्त्रजप, प्राणायाम, तालु में जिह्वा का धारण महाभूतों का ध्यान, भूतजप, अणिमा आदि अष्ट ऐश्वर्यों की प्राप्ति और लोकोत्तर ज्ञान संग्रहीत है। योग की इस प्रक्रिया का धार्मिक जीवन और शील से कोई संबंध नहीं है, किन्तु इसका उनसे योग हो सकता है।'[4] योग की बौद्ध धर्म में स्वीकृति उसकी कोई अपनी विशेषता नहीं है। लोकायत (चार्वाक) और मीमांसकों को छोड़कर सभी दर्शन किसी न किसी रूप में योग की शिक्षा देते हैं। जैन और नैयायिक भी योगाभ्यास की नितान्त आवश्यकता मानते हैं।[5]

ललितविस्तर में भी, बौद्ध-परंपरा में भगवान बुद्ध द्वारा प्रवर्तित, साधना के पक्ष पर, साधना की विधियों पर, जीवन में आचरणीय धर्म पर मुख्य रूप से विवरण प्रस्तुत किया गया है, जिसे हम दार्शनिक विवेचन के प्रकरण में, अग्रिम पृष्ठों में देखेंगे।

अधिकारी -

ललितविस्तर में जहां सम्यक् संबोधि को, समस्त दुःखों को, जरा एवं मरण सदृश दुःखों को भी दूर करने वाला स्वीकार किया गया है, वहीं इसे अतिशय दुष्प्राप्य भी माना गया है। ललितविस्तरकार के अनुसार सम्बोधि का लाभ उन्हें

---

१. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ यो० सू० १.२.

२. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥
—यो० सू०, २.२९.

३. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ —यो० सू०, ३.५५.

४. बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० २८२

५. वही, पृ० २९९

ही हो सकता है जो एक विशेष गुणराशि से अलंकृत हों। ग्रन्थकार ने इस गुण-राशि के निम्नलिखित तीन सौ अड़तालीस गुणों का नामतः परिगणन किया है। जिनमें प्रत्येक गुण विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखता है। साथ ही इन गुणों में से प्रत्येक गुण के अर्जन के लिए कठोर साधना की अपेक्षा होती है।

इन कुछ विशिष्ट गुणों के होने के कारण ही ग्रन्थकार के अनुसार भगवान बुद्ध के लिए विविध यौगिक विशेषण प्रचलित हो गये थे। ये विशेषण ललित-विस्तर में एक-एक करके संकलित किये गये हैं। ये विशेषण बुद्ध के गुणों की सूचना देने के लिये पर्याप्त हैं। ग्रन्थकार इन संज्ञाओं के हेतु का भी विस्तार-पूर्वक संकेत करते हैं। ये यौगिक विशेषण निम्नलिखित हैं:—

(१) तथागत (२) सम्यक् सम्बुद्ध (३) स्वयंभू (४) धर्मस्वामी (५) नायक (६) विनायक (७) परिणायक (८) सार्थवाह (९) सर्वधर्मवशवर्ती (१०) धर्मेश्वर (११) धर्मचक्रप्रवर्त्तक (१२) धर्मदानपति (१३) यज्ञस्वामी (१४) सुयष्टयज्ञ (१५) सिद्धिव्रत (१६) पूर्णाभिप्राय (१७) देशिक (१८) आश्वासक (१९) क्षेमंकर (२०) शूर (२१) रणंजय (२२) विजितसंग्राम (२३) उच्छ्रितछत्रध्वज-पताक (२४) आलोककर (२५) प्रभंकर (२६) तमोनुद (२७) उल्काधारी (२८) महावैद्यराज (२९) भूतचिकित्सक (३०) महाशल्यहर्त्ता (३१) वितिमिरज्ञान-दर्शन (३२) समस्तदर्शी (३३) समन्त विलोकित (३४) समन्तचक्षु (३५) समन्तभद्र (३६) समन्तप्रभा (३७) समन्तालोक (३८) समन्तमुख (३९) समन्त-प्रभाकर (४०) समन्तचन्द्र (४१) समन्तप्रासादिक (४२) अप्रतिष्ठानायूहा-निर्यूह (४३) धरणीसम (४४) शैलेन्द्रसम (४५) सर्वलोकश्री (४६) अनव-लोकितमूर्ध (४७) समुद्रकल्प (४८) धर्मरत्नाकर (४९) वायुसम (५०) असङ्ग-बुद्धि (५१) अवैवर्तिकधर्म (५२) तेजःसम (५३) अप्सम (५४) आकाशसम (५५) अनावरणज्ञानविमोक्षविहारी (५६) सर्वधर्मधातुप्रसूताकाम (५७) उत्तम-सत्त्व (५८) असङ्गसत्त्व (५९) अप्रमाणबुद्धि (६०) लोकोत्तरधर्मदेशिक (६१) लोकाचार्य (६२) लोकवैद्य (६३) लोकाभ्युद्गत (६४) लोकधर्मानु-पलिप्त (६५) लोकनाथ (६६) लोकज्येष्ठ (६७) लोकश्रेष्ठ (६८) लोकेश्वर (६९) लोकमहित (७०) लोकपरायण (७१) लोकपारंगत (७२) लोकप्रदीप (७३) लोकोत्तर (७४) लोकगुरु (७५) लोकार्थकर (७६) लोकानुवर्त्तक (७७) लोकवित् (७८) लोकाधिपतेयप्राप्त (७९) महादक्षिणीय (८०) पूजार्ह (८१) महापुण्यक्षेत्र (८२) महासत्त्व (८३) अग्रसत्त्व (८४) वरसत्त्व (८५) प्रवरसत्त्व (८६) उत्तमसत्त्व (८७) अनुत्तरसत्त्व (८८) असमसत्त्व (८९) असदृशसत्त्व (९०) सततसमाहित (९१) सर्वधर्मसमताविहारी (९२) मार्गप्राप्त (९३) मार्ग-

दर्शक (९४) मार्गदेशिक (९५) सुप्रतिष्ठितमार्ग (९६) मारविषय समतिक्रान्त (९७) मारमण्डलविध्वंसकर (९८) अजरामर शीतीभाव (९९) विगततमोन्धकार (१००) विगतकण्टक (१०१) विगतकाङ्क्ष (१०२) विगतक्लेश (१०३) विनीतसंशय (१०४) विमति समुद्घटित (१०५) विरक्त (१०६) विमुक्त (१०७) विशुद्ध (१०८) विगतराग (१०९) विगतदोष (११०) विगतमोह (१११) क्षीणाश्रव (११२) निःक्लेष (११३ वशीभूत (११४) सुविमुक्तचित्त (११५) सुविमुक्तप्रज्ञ (११६) आजानेय (११७) महानाग (११८) कृतकृत्य (११९) कृतकरणीय (१२०) अपहृतमार (१२१) अनुप्राप्तस्वकार्थ (१२२) परिक्षीणभवसंयोजन (१२३) समताज्ञानविमुक्त (१२४) सर्वचेतोवशिपरमपारमिताप्राप्त (१२५) दानपारग (१२६) दानपारग (१२७) शीलाभ्युद्गत (१२८) क्षान्तिपारग (१२९) वीर्याभ्युद्गत (१३०) ध्यानाभिज्ञप्राप्त (१३१) प्रज्ञापारंगत (१३२) सिद्धप्रणिधान (१३३) महामैत्रविहारी (१३४) महाकरुणाविहारी (१३५) महामुदिताविहारी (१३६) महोपेक्षाविहारी (१३७) सत्त्वसंग्रहप्रयुक्ते (१३८) अनावरणप्रतिसंवित्प्राप्त' (१३९) प्रतिशरणभूत (१४०) महापुण्य (१४१) महाज्ञानी (१४२) स्मृतिमतिगतिबुद्धि संपन्न (१४३) स्मृतिउपस्थानसम्यक्प्रहाण-ऋद्धिपादेन्द्रिय-बल-बोध्यङ्ग समर्थविदर्शनालोकप्राप्त (१४४) उत्तीर्णसंसारार्णव (१४५) पारग (१४६) स्थलगत (१४७) क्षेमप्राप्त (१४८) अभयप्राप्त (१४९) मर्दितक्लेशकण्टक (१५०) पुरुष (१५१) महापुरुष (१५२) पुरुषसिंह (१५३) विगतभयलोमहर्षण (१५४) नाग (१५५) निर्मल (१५६) त्रिमलमलप्रहीण (१५७) वेदक (१५८) त्रैविद्यानुप्राप्त (१५९) चतुरोघोत्तीर्ण (१६०) पारग (१६१) क्षत्रिय (१६२) ब्राह्मण (१६३) एकरत्नछत्रधारी (१६४) वाहितपारधर्म (१६५) भिक्षु (१६६) भिन्न-अविद्याण्डकोश (१६७) श्रमण (१६८) अर्थसंगपथसमतिक्रान्त (१६९) श्रोत्रिय (१७०) निःसृतक्लेश (१७१) बलवान् (१७२) दशबलधारी (१७३) भगवान् (१७४) भावितकाय (१७५) राजातिराज (१७६) धर्मराज (१७७) वरप्रवरधर्मचक्रप्रवर्त्यनुशासक (१७८) अकोप्यधर्मदेशक (१७९) सर्वज्ञज्ञानाभिषिक्त (१८०) असङ्गमहाज्ञानविमल-विरुक्तपट्टाबद्ध (१८१) सप्तबोध्यंगरत्नसमन्वागत (१८२) सर्वधर्मविशेषप्राप्त (१८३) सर्वार्यश्रावकामात्या-वलोकितमुखमण्डल (१८४) बोधिसत्त्व (१८५) महासत्त्व पुत्रपरिवर (१८६) सुविनीतविनय (१८७) सुव्याकृतबोधिसत्त्व (१८८) वैश्रवणसदृश (१८९) सप्तार्यधन विश्राणितकोश (१९०) त्यक्तत्याग (१९१) सर्वसुखसंपत्ति समन्वागत (१९२) सर्वाभिप्रायदाता (१९३) सर्वलोकहितसुखानुपालक (१९४) इन्द्रसम (१९५) ज्ञानबलवज्रधारी

(१९६) समन्तनेत्र (१९७) सर्वधर्मानावरणज्ञानदर्शी (१९८) समन्तज्ञानविकुर्वण (१९९) विपुलधर्मनाटक दर्शनप्रविष्ट (२००) चन्द्रसम (२०१) सर्वजगदतृप्त-दर्शन (२०२) समन्तविपुलविशुद्धप्रज्ञ (२०३) प्रीतिप्रामोद्यकरप्रभ (२०४) सर्वसत्त्वाभिमुखदर्शनाभास (२०५) सर्वजगच्चित्ताशयभाजन प्रतिभासप्राप्त (२०६) महाव्यूह (२०७) शैक्षाशैक्षसज्योतिर्गणपरिवार (२०८) आदित्यमण्डल-सम (२०९) विधूतमोहान्धकार (२१०) महाकेतुराज (२११) अप्रमाणानन्तरश्मि (२१२) महावभाससंदर्शक (२१३) सर्वप्रप्रश्न व्याकरणनिर्देशासंमूढ (२१४) महाविद्यान्धकारविध्वंसनकर (२१५) महाज्ञानालोकविलोकितबुद्धिर्निर्विकल्प, (२१६) महामैत्रीकृपकरुणासर्वजगत्समरश्मि प्रमुक्तप्रमाणविषय (२१७) प्रज्ञापारमितागम्भीरदुरासददुर्निरीक्षमण्डल (२१८) ब्रह्मसम (२१९) प्रशान्ते-र्यापथ (२२०) सर्वेर्यापथचर्याविशेषसमन्वागत (२२१) परमरूपधारी (२२२) असेचनकदर्शन (२२३) शान्तेन्द्रिय (२२४) शान्तमानस (२२५) शामथसंभार-परिपूर्ण (२२६) उत्तमशमथप्राप्त (२२७) परमदमशमथप्राप्त (२२८) शमथ-विदर्शनापरिपूर्णसंभार (२२९) गुप्त (२३०) जितेन्द्रिय (२३१) सुदान्त (२३२ ह्रद हव अच्छो अनाविलो (२३३) विप्रसन्न (२३४) सर्वकलेशवासनावरण-सुप्रहीण (२३५) ३२ महापुरुष के लक्षणों से युक्त (२३६) परमपुरुष (२३७) अशीति-अनुव्यञ्जनपरिवारविचित्ररचितगात्र (२३८) पुरुषर्षभ (२३९) दशबल-समन्वागत (२४०) चतुर्वैशारद्यप्राप्तानुत्तरपुरुषदम्यसारथि (२४१) शास्ता (२४२) अष्टादशामवेणिकबुद्धधर्मपरिपूर्ण (२४३) अनिन्दितकायवाङ्मनस्क-र्मान्त (२४४) सर्वाकाखरोपेत सुपरिशोधितज्ञानदर्शनमण्डल-शून्यता विहारी (२४५) प्रतीत्य समुत्पादसमताभिसंबोधाद्-अनिमित्त विहारी (२४६) अप्रणि-हितविहारी (२४७) अनभिसंस्कार गोचर (२४८) भूतवादी (२४९) अवितथ-अनन्यथावादी (२५०) अरण्यधर्मसुप्रतिलब्ध (२५१) समतासर्वधर्मविहारित्वा-मोघदर्शनश्रवण (२५२) अमोघपदविक्रमी (२५३) उत्क्षिप्तपरिखेद (२५४) स्थापितसंक्रम (२५५) निर्जितमारकलेशप्रत्यर्थिक (२५६) उत्तीर्णकामपंक (२५७) पातितमानध्वज (२५८) उच्छ्रितप्रज्ञाध्वज (२५९) सर्वलोकविषय-समतिक्रान्त (२६०) महाद्रुम (२६१) उदुम्बरपुष्पसदृश (२६२) चिन्तामणिर-त्नमणिराजसम (२६३) सुप्रतिष्ठितपाद(२६४)विचित्रस्वस्तिकनन्द्यावर्तसहस्तार चक्राङ्कितपादतल (२६५) शरणागतों का रक्षक होने से आयतपार्ष्णि (२६६) दीर्घाङ्गुली (२६७) बहुजनत्राता(२६८) मृदुतरुणहस्तपाद (२६९) जालाङ्गुली-हस्तपाद (२७०) उच्छुगपाद (२७१) ऊर्ध्वाङ्गदक्षिणावर्तसेमकूप (२७२) एणेयजंघ (२७३) कोशोपगतबस्तिगुह्य (२७४) प्रलयम्बबाहु (२७५) न्यग्रोध-

परिमण्डल (२७६) मृदुतरुणसूक्ष्मच्छवि (२७७) सुवर्णच्छवि (२७८) एकैक-निचितरोमकूप (२७९) सप्तात्संध (२८०) सिंहपूर्वार्धकाय (२८१) चितान्त-रांश (२८२) सुसंवृत्त स्कन्ध (२८३) सिंहहनु (२८४) चित्वारिंशत् समदन्त (२८५) सुशुकलदन्त (२८६) अविरलदन्त (२८७) रस-रसाग्रवान् (२८८) ब्रह्मस्वर (२८९) अभिनीलनेत्र (२९०) गोपेक्षनेत्र (२९१) प्रभूतचिह्न (२९२) उष्णीषानवलोकितमूर्ध (२९३) भ्रूमध्ये सुजातप्रदक्षिणावर्त्त-उत्तप्तविशुद्धवर्णा-भासोर्ण (२९४) महास्वामप्राप्त (२९५) महानारायण (२९६) सर्वपरप्रमर्दक (२९७) दशतथागत बलोपेत (२९८) स्थानज्ञानबलोपेत (२९९) अतीतअनागत प्रत्युत्पन्नसर्वकर्मसमादानहेतुविपाकज्ञानबलोपेत (३००) सर्वसत्त्वेन्द्रियवीर्य विमात्रताज्ञानबलोपेत (३०१) अनेकधातुनानाधातुलोकप्रवेशज्ञानबलोपेत (३०२) अनेकअधिमुक्ति नानाधिमुक्ति सर्वनिरवशेष अधिमुक्तिज्ञानबलोपेत (३०३) सर्वत्रगामिनीप्रतिपज्ज्ञानबलोपेत (३०४) सर्वध्यानविमोक्षसमाधिसमापत्ति-संक्लेश-व्यवदान व्यवस्थापन ज्ञानवलोपेत (३०५) अनेकविधपूर्वनिवासानुस्मृति-असङ्गज्ञानबलोपेत(३०६) निरवशेषसर्वरूपानावरण-दिव्यदर्शन दिव्य चक्षुज्ञानब-लोपेत (३०७) सर्ववासनानुसन्धिगत निरवशेषसर्वाश्रवक्षयज्ञानबलोपेत (३०८) निरवशेषसर्वधर्माभिसंप्रबुद्ध प्रतिज्ञारोहण सदेवलोकेऽनभिभूत प्रतिज्ञावैशारद्य-प्राप्त (३०८) सर्वसांक्लेशिक आन्तरायिक धर्मान्तिरायकरणानिर्वाणस्येति तत् प्रतिज्ञारोहणसदेवके लोकेऽनाच्छेद्य प्रतिज्ञा वैशारद्यप्राप्त (३०९) नैर्याणिकीं प्रतिपदं प्रतिपद्यमानः निर्वाणमाराद् आगमिष्यति इति, प्रतिज्ञारोहण सदेवके लोकेऽप्रतिचोद्य प्रतिज्ञा वैशारद्यप्राप्त (३१०) सर्वाश्रवक्षयज्ञानप्रहाणज्ञा नप्रतिज्ञा रोहण सदेवके लोके अविवर्त्त्य प्रतिज्ञा वैशारद्यप्राप्त (३१२) अस्खलितपदधर्मदेशक (३१३) असतअनभिलाप्य धर्मस्वभावानुबु (३१३) अविरत (३१४) सर्वसत्त्वरुत अप्रमाण बुद्धधर्मरुत निर्घोषाधिष्ठान समर्थ (३१५) अमुषितस्मृति (३१६) नानात्वसंज्ञाविगत(३१७) सर्वचित्तसुसमाहित (३१८) सुसमाहित (३१९) अप्रति संख्यासमुपेक्षक (३२०) छन्दसंस्कार समाधि अपरिहीन (३२१) वीर्य-संस्कार समाधि अपरिहीन (३२२) अपरिहीन स्मृति (३२३) अपरिहीनप्रज्ञ (३२४) अपरिहीनविमुक्ति (३२५) अपरिहीनविमुक्तिज्ञानदर्शन (३२६) सर्वकायकर्मवा-क्कर्ममनस्कर्मज्ञान पूर्वंगम-ज्ञानानुपपरिवर्त्ति ज्ञानसमन्वागत (३२७) त्र्यध्वासङ्ग अधिष्ठितसर्व -अप्रतिहत ज्ञान-दर्शन समन्वागत (३२८) अनावरण विमोक्षप्रति-लब्ध (३२९) सर्वसत्त्वचरितप्रवेश कौशल्यावस्थित (३३०) यथाप्रत्यर्हधर्मदेशना कुशल (३३१) सर्वस्वराङ्गमण्डलपरमपारमिताप्राप्त (३३२) देव-नाग यक्ष-गन्धर्व असुर गरुड किन्नर महोरगरुत (३३३) ब्रह्मस्वररुतरवितनिर्घोष (३३४) कलविङ्करुतस्वर (३३५) दुंदुभिसंगीतिरुतस्वर (३३६) धरणीतलनिनदिनिर्घोष-

स्वर (३३७) सागर नागेन्द्रमेघस्तनितगर्जितघोषस्वर (३३८) सिंहवृषभित अभि-गर्जित-निर्घोषस्वर (३३९) सर्वसत्त्वरुतरविता नुचरणसंतोषणस्वर (३४०) असङ्ग-अनावरण-सर्व पर्षन्मण्डलाभिराधनस्वर (३४१) एकरुतात् सर्वरुत संप्रायनस्वर (३४२) ब्रह्मेन्द्रपूजित (३४३) देवेन्द्रसत्कृत (३४४) नागेन्द्रनमस्कृत (३४५) यक्षेन्द्रावलो कितमुख मण्डल (३४६) गन्धर्वेन्द्रोपगीत (३४७) सक्षसेन्द्र प्रसन्नेन्द्रिय अनिर्नि-मिषानयनसंप्रेक्षित (३४८) असुरेन्द्र-अभिप्रणत (३४९) गरुड़ेन्द्र-अविहिं साप्रेक्षित (३५०) किन्नरेन्द्र अभिष्टुत (३५१) महोरगेन्द्र अभिल षित-दर्शन (३५२) मनुजेन्द्र अभिसंपूजित (२५३) अहर्गणसेबित (३५४) सर्वबो-धिसत्त्व समादायक समुत्तेजक संप्रहर्षक (३५५) निरामिष धर्मदेशक (३५६) अक्षुण्ण-पदव्यञ्जनवन्ध्य धर्मदेशक (३५७) कालानतिक्रमणधर्मदेशक[1] इत्यादि ।

भगवान् बुद्ध के लिए प्रयुक्त उपर्युक्त सभी तीन सौ अट्ठावन विशेषण उन गुणों की ओर संकेत करते हैं जिनके धारण करने से ही तथागत गौतम को महासम्बोधि की प्राप्ति हो सकी है, और वे बुद्धत्व को प्राप्त कर सके। इन विशेषणों में प्रत्येक विशेषण, उन-उन गुणों से युक्त व्यक्ति को अलोक सामान्य सिद्ध करता है। इनमें से कुछ विशेषणों के प्रयोग के हेतु का निदेश भी ग्रन्थ-कार ने स्पष्ट निर्दिष्ट किया है। उदाहरणार्थ ग्रन्थकार के अनुसार उन्हें 'महा-द्रुम' इसलिए कहा गया, क्योंकि उनका मूलशरीर धर्मकाय स्वरूप एवं ज्ञान शरीर रूप रहा है।[2] क्योंकि अनन्त गुणरत्नों से अलंकृत। ज्ञानरूपी कुसुम इनमें खिला था, जिससे विमुक्तिरूप फल उत्पन्न हुआ अर्थात् अनन्त गुणों से विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करके, उन्होंने मुक्ति प्राप्त की थी, इसलिए उन्हें उदुम्बर कहा गया। यह अकेला एक गुण ही किसी साधक को लोकोत्तर बना देता है। उन्हें 'कोशोपगुप्तबस्तिगुह्य' विशेषण से विशिष्ट मानने का कारण यह है कि उन्होंने चिर काल तक अनेक लम्बी लम्बी रातों में जागरण करके, श्रद्धापूर्वक धर्म को सुना, उसे ग्रहण किया, उसे जीवन में अपनाया, उसके उपदेश के लिए प्रशस्ततम शब्दावली का चयन किया और धर्मदशना के द्वारा असद् विचारों को सम्पूर्णतया मिटाया, साथ ही उन्होंने व्याधि-जरा-मरण से ग्रस्त लोगों को त्रिशरण का उपदेश देते हुए, धर्मदेशना की थी। उन्हें 'प्रलम्ब-बाहु' इसलिए कहा गया कि ब्रह्मचर्य आदि व्रतों की चर्या में न केवल स्वयं को दीक्षित किया बल्कि श्रमण-ब्राह्मण तथा सभ्य जनों को भी, ब्रह्मचर्य का पालन

---

१. ल०वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० ३०७-३१३
२. वही, ,, ,, पृ० ३१०

सिखाकर, उनका सभी प्रकार से परिष्कार किया था तथा परदारा गमन का परित्याग कर ब्रह्मचर्य आदि गुणों का पालन अतिविशिष्ट कार्य किये थे। उनके लिए 'एकैकनिचितरोमकूप' का कारण प्राणिमात्र की हिंसा का विरोध (निषेध) सभी के प्रति मैत्री-भावना, योग-साधना, क्षमा, वैर का त्याग, तथा चैत्य आदि के लिए अनन्त संपत्ति का दान, उन्होंने किया था। उन्होंने सर्वस्व त्याग कर भिक्षावृत्ति को ग्रहण किया था, निकट आये हुए लोगों को सम्मान देना, उनके साथ निश्छल व्यवहार, सभी की मनोकामना को पूर्ण करना, आदि अद्भुत गुणों से सपन्न थे, इसी कारण उन्हें 'चत्त्वारिंशत्समदन्त' विशेषण से सम्मानित किया जाता था। इन सबको देखते हुए, यह स्पष्ट होता है कि ग्रन्थकार के अनुसार सम्बोधि प्राप्त करने के अधिकारी वे साधक ही हो पाते हैं, जिनमें अनन्त, अलौकिक गुणों का निवास होता है।[1]

ग्रन्थकार के अनुसार धर्मचक्र के प्रवर्त्तन से पूर्व भगवान् तथागत ने उपदेश्यजनों की योग्यता या सुपात्र पर भी गम्भीरता से विचार किया था और इस प्रसंग में रुडक रामपुत्र, आराडकालाप तथा पांच भदवर्गीयों के गुणों की चर्चा विस्तारपूर्वक की है। उसके अनुसार 'धर्मदेशना' प्राप्त करने के लिए मुख्य योग्यता है 'शुद्धस्वभाव का होना, अभज्ञाकारिता, अपने विचारों को भली प्रकार प्रकट करने का सामर्थ्य, विचार करने की क्षमता, राग-द्वेष और मोह का अतिशय मन्द होना तथा दूरदर्शी होना।[2] एक अन्य प्रसंग में ग्रन्थकार ने संबोधि प्राप्त करने की योग्यता का संकेत करके तीन प्रमुख गुणों की चर्चा की है, ये गुण हैं—शरीर का शुद्ध होना, वाणी का शुद्ध होना, तथा चित्त का शुद्ध होना। ग्रन्थकार का कहना है कि शरीर की शुद्धि अतिशय पुण्यकर्मों तथा ज्ञान के द्वारा हुआ करती है। वाणी की शुद्धि का हेतु निरन्तर व्रत, तप, सत्य एवं धर्म के आचरण से हुआ करती है, तथा चित्त की शुद्धि के साधन हैं—ह्री (लज्जा), धैर्य, करुणा और मैत्री।[4] जिस व्यक्ति ने निरन्तर पुण्यकर्म एवं शुद्ध ज्ञान का अर्जन किया है, व्रत, तप, सत्य और धर्म को अपनाया है तथा जिसमें ह्री (लज्जा), धैर्य, करुणा और मैत्री की प्रतिष्ठा है। उसके शरीर, वाणी और

१. ल०वि० (वैद्य) पृ० ३११

२. 'कतमः सत्त्वः शुद्धः स्वाकारः सुविनेयः सुविज्ञापकः सुविशोधको मन्दराग-दोषमोहोऽपरोक्षविज्ञानो' —वही, पृ० २९५ पं० ५, ६

३. ल०वि० (शास्त्री) श्लोक ९११

मन तीनों ही पूर्ण शुद्ध हो जाते हैं, तथा वह स्वतः संबोधि प्राप्त करने के योग्य हो जाता है।

ग्रन्थकार के अनुसार रुद्रक रामपुत्र पर्याप्त शुद्ध स्वभाववाला, अभिव्यक्ति की प्रशस्त क्षमतावाला विचारक, राग, द्वेष एवं मोह से रहित तथा दूरदर्शी रहा है तथापि उनकी अपेक्षा आराद्र कालाप की ओर उनका ध्यान गया। आराद्र कालाप भी रुद्रक रामपुत्र के समान शुद्ध आकारवाला था, साथ ही वह धर्मदेशना पर विचार करने में समर्थ था, प्रत्यक्षदर्शी था, साथ ही उसके राग-द्वेष और मोह भी मन्द हो गये थे। इतने पर भी उसे धर्मदेशना के लिए उपयुक्त न मानकर अन्य उचित अधिकारी या सुपात्र की खोज तथागत ने की।

अन्त में उनका ध्यान भद्रवर्गीय पांच व्यक्तियों के प्रति गया। वे उपर्युक्त गुणों से संपन्न तो थे ही, साथ ही सुविज्ञापकता अर्थात् सम्यक् विचारों की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य, सुविशोधक अर्थात् उपदेश की परीक्षा का सामर्थ्य, राग-द्वेष और मोह की मन्दता तथा अपरोक्ष-विज्ञान आदि गुण थे। फलतः उन्होंने यह निश्चय किया कि वे उपदिष्ट धर्म को समझने का सामर्थ्य रखते हैं, उपदेश का तिरस्कार करने की प्रवृत्ति उनमें नहीं है। फलतः उन्होंने (तथागत) उन्हें प्रथमतः धर्मदेशना का अधिकारी माना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मदेशना को प्राप्त करने की योग्यता पर विचार करते हुए। ग्रन्थकार ने सात गुणों को अनिवार्य माना है—(१) शुद्ध होना (२) प्रशस्त आकार अर्थात् व्यक्तित्व का होना (३) सम्यग् विनेयता अर्थात् उपदेश को ग्रहण और धारण करने का सामर्थ्य (४) सम्यक् प्रकार से अपने विचारों को प्रकट करने की योग्यता अर्थात् उपदेश को ग्रहण करके उसे प्रचारित करने का सामर्थ्य (५) भली प्रकार विशोधन अर्थात् विश्लेषण करने की क्षमता (६) राग-द्वेष एवं मोह का अतिशय मन्द होना और (७) अपरोक्ष ज्ञान युक्त होना अर्थात् वर्त्तमान को भली प्रकार समझने की योग्यता। इन गुणों में से एक-दो का भी अभाव व्यक्ति को धर्मदेशना प्राप्त करने का अनधिकारी बना देता है। रुद्रक रामपुत्र और आराद्रकालाप में इनमें से अधिकांश गुण थे, किन्तु कुछ गुणों का अभाव रहा है, अतः उन्हें ग्रन्थकार के अनुसार तथागत ने धर्मदेशना के उपयुक्त नहीं समझा तथा भद्रवर्गीय पांच जनों में इन गुणों को एक साथ देखकर, उन्हें ही धर्मदेशना का अधिकारी माना और उन्हें उपदेश प्रदान किया।

इन उपर्युक्त गुणों के मूल में तीन मुख्य गुण रहा करते हैं—प्रथम है चरित्र। इसके अतिरिक्त सुपरिमण्डित शुक्लधर्मता अर्थात् भली प्रकार समझते

हुए केवल सद्धर्म का आचरण करनेवाला होना, तथा मोक्षमार्गाभिमुख होना। दो अन्य मुख्य गुण हैं—जो व्यक्ति मोक्षमार्ग का अभिलाषी नहीं है, जिसमें दु:खों से छूटने की कामना नहीं है, वह इस धर्मदेशना को सुनने का अधिकारी हो भी कैसे सकता है ?[1]

अभिसम्बोधि और उसकी प्राप्ति का क्रम

अभिसम्बोधि प्राप्ति के प्रसंग में अधिकारी और उसके मार्ग में आनेवाले अन्तरायों की चर्चा पहले की जा चुकी है। अभिसम्बोधि प्राप्ति के लिए जिन गुणों और योग्यताओं की चर्चा की गयी है उसके अनुसार अनेकानेक कल्पों में कभी कोई तथागत बोधिसत्त्व जैसे दृढ़ साधक अनेक जन्म जन्मान्तर में निरन्तर साधना करके, अर्हत बन सकते हैं।

उपर्यक्त समस्त योग्यता संपन्न साधक दृढ़ संकल्प के साथ, ध्यान में प्रवृत्त होते हैं तो एक-एक करके ध्यान की उत्तरोत्तर उत्तम कोटियों को प्राप्त करते हुए, आगे बढ़ते हैं। वे सर्वप्रथम ध्यान की उस प्रथम स्थिति में पहुँचते हैं, जिसकी तीन मुख्य कोटियां हैं—सवितर्क, सविचार एवं विवेकज प्रीतिसुखात्मक। इन स्थितियों का योगसूत्रकार पतञ्जलि ने सम्प्रज्ञात समाधि के नाम से स्मरण किया था।[2] इस ध्यान के प्रारम्भ में वितर्क की स्थिति बनी रहती है किन्तु धीरे-धीरे 'वितर्क' का विलय होने पर भी 'विचार' का वेग बना रहता है। ध्यान (समाधि) की निरन्तर भावना करने पर 'विचार' का भी विलय हो जाने पर एक विशिष्ट आनन्द की अनुभूति होती है, जिसे यहां 'प्रीति सुख' के नाम से स्मरण किया गया है।[3] यह आनन्द (प्रीतिसुख) विवेकज ज्ञान के फलस्वरूप साधक को प्राप्त होता है।[4] इसका भी निरोध अभ्यास द्वारा करने पर साधक आध्यात्म प्रसाद प्राप्त करता है। आध्यात्म प्रसाद के प्राप्त होने पर साधक ध्यान की द्वितीय कोटि में पहुँचता है जहां वितर्क, विचार अथवा विवेकज ज्ञान-जन्य आनन्द का लेश भी नहीं रहता। इससे पूर्व की स्थिति को योगसूत्रकार पतञ्जलि ने 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' की स्थिति

---

१. यन्न्वहं पञ्चकेभ्यो भद्रवर्गीयेभ्य: सर्वप्रथमं धर्मं देशयेयम्। ते हि मम सर्वप्रथमं धर्मं देशितमाज्ञास्यन्तो तत्कस्य हेतो: ? चरिताविनो हि ते भिक्षव: सुपरिपण्डितशुक्लधर्माणो मोक्षमार्गाभिमुखा: निबन्धापनीता:।
—ल०वि० (वैद्य) पृ० २६६ पं० ५-८

२. वितर्कविचारानन्दाऽस्मितारूपानुगमात्संप्रज्ञाता: —यो,०सू० १,१७

३. 'सवितर्कं सविचारं विवेकजं प्रीतिसुखं।' —ल० वि० पृ० २५०पं० ३-४

४. ······विवेकजं ज्ञानम्।

के रूप में स्वीकार किया है।[1] इस प्रज्ञा का संस्कार पूर्व समस्त संस्कारों का प्रतिबन्धक होता है।[2] फलतः वितर्क आदि का पूर्ण विलय अनायास हो जाता है, और वह निर्बीज समाधि की स्थिति में पहुँच जाता है।[3] इसे द्वितीय ध्यान कहा जाता है, इस समाधि की स्थिति में एक अद्भुत लोकोत्तर आनन्द का अनुभव साधक को होता है।[4] इस अवस्था में उसमें सुख के प्रति, प्रीति के प्रति भी पूर्ण विराग उत्पन्न होकर उसके प्रति उपेक्षा अर्थात् अनासक्ति हो जाती है। ग्रन्थकार ने इस स्थिति को ध्यान की तृतीय कोटि कहा है।[5] उपेक्षा अर्थात् अनासक्ति के कारण ध्यान की इस अवस्था में सुख दुःख, सौमनस्य दौर्मनस्य, का पूर्णतया विलय हो जाता है, स्मृति भी क्रमशः विलीन हो जाती है। इसे ध्यान की चतुर्थ अवस्था कहा जाता है।[6] योग-सूत्रकार पतञ्जलि ने इस स्थिति को असम्प्रज्ञात समाधि के नाम से स्मरण किया है, जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी पूर्णतया विलीन रहती है।[7] यह अवस्था ध्यान (समाधि) की अंतिम अवस्था है। इस अवस्था में साधक को सर्वज्ञता की प्राप्ति हो जाती है। इस अवस्था में प्राप्त ज्ञान को न्यायशास्त्र में अलौकिक अथवा योगज प्रत्यक्ष कहा है।[8] नैयायिकों के अनुसार योगिभेद से योगज प्रत्यक्ष दो प्रकार का है, युञ्जान योगी को विषय का स्मरण करने पर हस्तामलकवत् स्मृतविषय का संपूर्ण रूप से साक्षात्कार होता है। इससे भिन्न युक्त अर्थात् सिद्ध योगियों को समस्त लौकिक अलौकिक पदार्थों का साक्षात्कार सदा ही हुआ करता है।[9] इस अवस्था में पहुँचने पर तथागत बोधिसत्त्व को जो लोकोत्तर ज्ञान प्राप्त हुआ है वही संबोधि अथवा अभिसंबोधि के नाम से बौद्ध-परम्परा में माना जाता है।

---

१. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। —यो० सू० १४८
२. तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी। —यो० सू० १.५०
३. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः। —यो०सू० १.५१
४. ल० वि० पृ० २५० पं० ४-५
५. वही, पृ० २५०, पं० ८
६. वही (वैद्य) गद्यभाग, पृ० २५०, पं० ८,९
७. यो० सू०, I० ५१
८. (क) तर्कभाषा (सां० डा० श्रीनिवास शास्त्री) मेरठ, १९७५ पृ० ६३
(ख) योगिना द्विविधा युक्तयुञ्जानभेदतः। युक्तस्य सर्वदाभानं चिन्ता-सहकृतो परः। भाषा-परिच्छेद
९. ल० वि०, पृ०, २५०, प० १३-२१

ललितविस्तरकार के अनुसार तथागत बोधिसत्त्व ने जो अभिसंबोधि का स्वरूप अनुभव किया, उसका स्वरूप नीचे की पंक्तियों में अंकित है ।

अभिसंबोधि

अभिसंबोधि की स्थिति के ज्ञान को हम चार भागों में रख सकते हैं— प्रथम खण्ड में प्राप्त बोध लोकविषयक अथवा सांसारिक प्राणियों की स्थिति के संबन्ध में हुआ करता है, और द्वितीय खण्ड में संसार-चक्र के मूल के संबन्ध में हुआ करता है । तृतीय स्थिति दुःखहीन का बोध है और चतुर्थ स्थिति है हानोपाय की । इसे ही बौद्ध परम्परा में चार आर्यसत्य के नाम से स्मरण किया गया है ।

इसके अनुसार विश्व में विद्यमान प्राणियों की दो स्थितियां हैं—कुछ सुवर्ण हैं और कुछ दुर्वर्ण हैं । कुछ की अवस्था उत्तम होती है (सुगत) और कुछ की बुरी (दुर्गत) । कुछ हीन अवस्था में रहते हैं कुछ प्रणीत अवस्था । विश्व के जिन प्राणियों के पूर्वकर्म सुचरित हैं जिन्होंने मन, वचन और कर्म से प्रशस्ति धर्म किये हैं आर्यजनों का अपवाद नहीं किया है, जिनकी दृष्टि सम्यक् है वे सुवर्ण, सुगत और प्रणीत हैं । जिन्होंने निन्द्य कर्मों का आचरण किया है, आर्यजनों का अपवाद करते हैं और मिथ्यादृष्टि संपन्न हैं वे दुर्वर्ण, दुर्गत और हीन हैं तथा नरक में कष्ट पाते हैं ।[1] इन दोनों ही स्थितियों में विद्यमान जन एक, दो या तीन, चार ही नहीं, हजारों, लाखों, करोड़ों जन्मों में भटकते हुए, जरा, मृत्यु आदि की पीड़ा का अनुभव करते हैं । इस स्थिति में उन्हें अपने पूर्व जन्म की सभी सुखद घटनाओं के सुखदपूर्ण भोग का और उसके कारणों का भी सम्यक् बोध होता है । वह यह भी अनुभव करता है कि एक सामान्य मनुष्य इस जरा, व्याधि और मृत्यु से सम्पृक्त इस दुःखस्कन्ध से निकलने का उपाय नहीं जानता है इसलिए वह इस दुःखपरम्परा से निकल नहीं पाता है ।[2]

संबोधि की द्वितीय स्थिति में दुःखों के मूल का बोध होता है । इसके अनुसार जरा और मृत्यु का कारण जन्म है । जन्म का कारण भवप्रत्यय है । भवप्रत्यय का मूल उपादान प्रत्यय है । उपादान प्रत्यय तृष्णा से उत्पन्न होता है तृष्णा का जन्म वेदना से होता है । वेदना का मूल स्पर्श है । स्पर्श की उत्पत्ति षडायतन से होती है । षडायतन नामरूप से उत्पन्न होता है । नामरूप का

१. ल० वि० (वैद्य) पृ० २५०, पं० १३ से २१
२. वही, पृ० २५०, पं० २७ से पृ० २५१ पं० १ से १४ तक

हेतु विज्ञान प्रत्यय है। विज्ञान की उत्पत्ति संस्कार से होती है और संस्कार का मूल अविद्या है।[1]

इस प्रकार अविद्या से निम्नलिखित क्रम से समस्त दुःखस्कन्ध की उत्पत्ति होती है।

अविद्या—संस्कार—विज्ञान—नामरूप—षडायतन—स्पर्श—वेदना—तृष्णा—उपादान—भव—जाति (जन्म) जरा-मरण-शोक परिदेवन—दुःख दौर्मनस्य, आदि दुःख। इस प्रकार समस्त दुःखस्कन्द का मूल अविद्या है।[2]

इस बोध के साथ उसे यह बोध भी होता है कि यदि जन्म (जाति) का निरोध किया जा सके तो दुःख का निरोध स्वतः हो जाएगा। जाति-निरोध के लिए भव का निरोध, भव का निरोध करने के लिए उपादान का निरोध, उपादान निरोध के लिए तृष्णानिरोध, तृष्णानिरोध के लिए वेदना का निरोध, वेदना का निरोध करने के लिए स्पर्श का निरोध, स्पर्श का निरोध करने के लिए षडायतन का निरोध, षडायतन का निरोध करने के लिए नामरूप का निरोध, नामरूप का निरोध करने के लिए विज्ञान का निरोध, विज्ञान का निरोध करने के लिए संस्कार का निरोध तथा संस्कार का निरोध करने के लिए अविद्या का निरोध करना आवश्यक होता है। अविद्या का निरोध होने पर संस्कार निरोधपूर्वक क्रमशः जन्म का निरोध हो जाने पर जरा, व्याधि और मरण आदि दुःखस्कन्द की स्वयं निवृत्ति हो जाती है।[3]

इस क्रम में उसे दुःखादिरूप आस्रव, आस्रवसमुदय, आस्रवनिरोध और आस्रवनिरोधगामिनी प्रतिपद का सम्यक् संबोध होता है। आस्रव चार प्रकार के हैं—काम-आस्रव, भव-आस्रव अविद्या-आस्रव, और दृष्टि-आस्रव। यहां अविद्या नामक आस्रव में अविद्या से उत्पन्न होने वाले संस्कार आदि से जरा, मरण आदि पर्यन्त सभी सम्मिलित समझे जाते हैं। अतः संस्कार, संस्कार समुदय, संस्कार निरोध एवं संस्कार निरोधगामिनी प्रतिपदा, विज्ञान, विज्ञान-समुदय, विज्ञाननिरोध एवं विज्ञाननिरोधगामिनी प्रतिपदा, नामरूप, नामरूप-समुदय, नामरूपनिरोध एवं नामरूप-निरोधगामिनी प्रतिपदा, षडायतन, षडायतनसमुदय, षडायतननिरोध एवं षडायतननिरोधगामिनी प्रतिपदा।

---

१. ल०वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २५१ पं० १५ से पृ० २५२ से पं० ५ तक

२. वही, पृ० २५२, पं० ७-११

३. वही, पृ० २५२, पं० १६-२१

स्पर्श, स्पर्शसमुदय, स्पर्शनिरोध एवं स्पर्शनिरोधगामिनी प्रतिपदा। वेदना, वेदनासमुदय, वेदनानिरोध एवं वेदनानिरोधगामिनी प्रतिपदा। तृष्णा, तृष्णासमुदय, तृष्णानिरोध एवं तृष्णानिरोधगामिनी प्रतिपदा। उपादान, उपादानसमुदय, उपादाननिरोध एवं उपादाननिरोधगामिनी प्रतिपदा भव, भवसमुदय, भवनिरोध एवं भवनिरोधगामिनी प्रतिपदा जाति, जातिसमुदय, जातिनिरोध एवं जातिनिरोधगामिनी प्रतिपदा। जरा, जरासमुदय, जरानिरोध एवं जरानिरोधगामिनीप्रतिपदा। मरण, मरणसमुदय, मरणनिरोध एवं मरणनिरोधगामिनीप्रतिपदा। शोकपरिदेवन, दुःखदौर्मनस्य, उपायास इनका समुदाय, निरोध एवं निरोधगामिनीप्रतिपदा को भी उपर्युक्त अविद्या आस्रव के अन्तर्भक्त समझा जाये।[1] इनका सम्यग्बोध होने से दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध एवं दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपदा का बोध हो जाता है।[2] इस उपर्युक्त समस्त विवरण का ज्ञान होने पर क्योंकि समस्त ज्ञातव्य ज्ञात हो जाता है, समस्त बोद्धव्य सम्यक् अवबुद्ध हो जाता है, समस्त प्राप्तव्य प्राप्त हो जाता है, साक्षात्करने योग्य साक्षात्कृत हो जाता है। इस प्रकार इस एक अनुत्तर सम्यक्-संबोधिरूप प्रज्ञा से सभी विद्यायें अधिगत हो जाती हैं, यह समझना चाहिए।[3]

अभिसम्बोधि का फल

उपर्युक्त प्रकार की सम्बोधि प्राप्त होने पर जहां समस्त धर्मों का ज्ञान हो जाता है, अविद्या की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है, वहीं संसाररूपी मार्ग का छेदन हो जाता है। रजोगुण अथवा उसके यत्किंचित् संश्लेष मे उत्पन्न होने वाली प्रवृत्तियां शान्त हो जाती हैं। सभी प्रकार के आस्रव सूख जाते हैं। वे पुनः किसी परिणाम का स्रवण करने (जन्म-प्रवाह को प्रवाहित करने) के योग्य नहीं रह जाते, तथा संसाररूपी मार्ग (वर्त्म) का छेदन हो जाने पर दुःखों का अन्त हो जाता है।[4] इस स्थिति का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार का कहना है कि 'अभिसम्बोधि' प्राप्त होते ही तमोन्धकार समाप्त हो जाता है, तृष्णा का विशोधन हो जाता है दृष्टि बदल जाती है।[5] क्लेश-परम्परा विक्षुब्ध हो जाती

१. ल० वि० वैद्य, पृ० २५२ पं० २४ पृ० २५३ प० १५
२. वही, पृ० २५३ पं० १२-१४
३. वही पृ० २५३, पं० १८-१९
४. वही, श्लोक ११३९
५. कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैच्छत आवृत्तचक्षुः अमृतत्वमैच्छन्।

है पीड़ादायी शल्य निकल जाते हैं, सभी ग्रन्थियां खुल जाती हैं, मान (अहंकार) रूपी ध्वज गिर जाता है धर्मध्वज आरोपित हो जाता है, अनुशय खुल जाते हैं,[1] धर्म का तथात्व ज्ञात हो जाता है, भूतसमूह का ज्ञान हो जाता है, धर्मधातु का भी बोध हो जाता है, सत्वधातु की स्थापना हो जाती है, सम्यक्त्व की पूर्ण प्रतीति हो जाती है, मिथ्यात्व का विवरण हो जाता है, अनियत सत्त्वधातु का परिग्रह हो जाता है, इन्द्रियां सत्त्वभाव में व्यवस्थित हो जाती हैं। सत्त्वचरित और सत्त्वव्याधियों का बोध हो जाता है सत्त्वसमुत्थानरूपी सिद्ध अमृतस्वरूप औषधि का मानो प्रयोग प्रारम्भ हो जाता है। समस्त दुःखों से मुक्ति प्रदान करके, निर्वाण सुख में स्थापित करने वाला वैद्यराज उत्पन्न हो गया हो, मानो तथागत को गर्भ में स्थिति मिल गयी हो, मानो तथागत की महाधर्मराज के आसन में स्थिति हो गयी हो, विमुक्ति का पक्ष सुस्थिर हो गया हो, सर्वज्ञता के नगर में प्रवेश हो गया हो, सभी बुद्ध निकट आ गये हों, बोधि के साथ ही धर्म-धातु का प्रसार प्रारम्भ हो गया हो।[2] ललितविस्तरकार ने इस प्रकार 'अभिसम्बोधि' को जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि के रूप में वर्णित किया है, जिसकी प्राप्ति के बाद कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता।

निर्वाण

बौद्ध दर्शन का प्रथम उन्मेष भगवान् बुद्ध के मानस में, चार आर्यसत्यों के रूप में हुआ है। ये चार आर्य सत्य हैं दुक्ख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध और दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा।[3] (चत्तारि अरियसच्चानि— दुःख अरियसच्चं, दुःख-समुदयं अरियसच्चं, दुःख निरोधं अरियसच्चं, दुक्खनिरोधगामिनी प्रतिपदा अरियसच्चं) अर्थात् समस्त विश्वप्रपंच दुःख है, दुःख का उदय होता है अर्थात् दुःख उत्पन्न हुआ है, नित्य नहीं है, दुःख का निरोध संभव है तथा दुःखनिरोध के उपाय हैं।

इन चार आर्यसत्यों के साक्षात्कार के बाद दुःखनिरोध के उपाय के रूप में, आठ अंगों से युक्त मार्ग या उपाय का बोध उन्हें हुआ था, जिसमें सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यग्व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक्वाक्, सम्यक्कर्मान्त। सम्यग् आजीव, तथा सम्यक् समाधि—इन सबका एकमात्र

---

१. तुलनीय —भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे। इत्यादिश्रुतेः
—वेदान्तसार, पृ० १६७

२. ल० वि० पृ० २५३, पं० ३० पृ० २५४ पं० ६ तक

३. अभिधम्मत्थ सङ्गहो, ७४०, पृ० १३७

फल निर्वाण है । पालि-बुद्ध-वचन में अभिधम्म के अन्तर्गत वर्ण्य-विषयों में जो चार हैं, उनमें निर्वाण अन्यतम है ।[1] 'तत्थवुत्ताभिधमत्था चतुधा परमत्थतो । चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा ।' अभिधम्म के अनुसार निर्वाण लोकोत्तर संख्यात, चतुर्विध स्रोतापत्तिमार्ग-सकृदागामि मार्ग, अनागामिमार्ग और अर्हत मार्ग के ज्ञान एवं आचरण से मार्गफलों का आरम्भण रूप, तृष्णा आदि का हान, निर्वाण कहा जाता है । यह विगत तृष्णा-पद च्युतिरहित, अन्तरहित, कर्म आदि से असंख्यात और लोकोत्तर पद है ।[2] (निब्बानं पन लोकुत्तरसंख्यातं चतुमग्ग ञाणेन सच्छिकातब्बं मग्गफलानामारम्भणभूतं वानसंख्याताय तण्हाय निक्खन्तता निब्बानं ति पवुच्चति ।··· "पदमच्चुतमच्चन्तं असंखतमनुत्तरं । निब्बानमिति भासन्ति वानमुक्तामहेसयो) इस पद में राग-द्वेष आदि का अभाव होता है, अतः कभी इसे शून्यपद कह सकते हैं । राग आदि प्रणिधियों के अभाव के कारण अप्रणिहित भी कह सकते हैं । इस प्रकार यह निर्वाण तीन प्रकार का हो जाता है (१) शून्यनिर्वाण (२), अनिमित्त निर्वाण एवं (३) अप्रणिहित निर्वाण । इसके अतिरिक्त (१) उपाधिशेष और (२) अनुपाधिशेष के आधार पर इसके दो प्रकार भी माने जा सकते हैं, जब कि वस्तुतः स्वभाव से यह एक प्रकार का ही है ।[3] (तदेतं सभावतो एकविधम्पि सउपाधिसेस निब्बानधातु अनुपाधिसेस निब्बानधातु चेति दुविधं होति कारणपरियायेन, तथा सुञ्ञतं अनिमित्तं अपणिहितं चेति तिविधं होति आकारभेदेन) ।

निर्वाण के संबंध में भगवान् बुद्ध के वचनों की बौद्ध-धर्म-दर्शन की विविध शाखाओं से भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है । फलतः प्रत्येक शाखा में निर्वाण का स्वरूप कुछ-कुछ भिन्न सा प्रतीत होता है । यद्यपि इतना निर्विवाद रूप से सभी स्वीकार करते हैं कि निर्वाण संसार दुःख का अत्यन्त निरोध है, संसार से निस्सरण है और इसी कारण उपादेय भी है । बौद्ध-दर्शन में आत्म-प्रतिषेध, ईश्वर-प्रतिषेध, सहेतुक और क्षणिक सत्ता के सिद्धान्त की स्वीकृति के कारण निर्वाण निरोधमात्र अर्थात् अभावमात्र हो सकता है । रीजडेविड्स इस अभावरूपता के साथ-साथ इसे श्रामण्य भी मानना चाहते हैं । क्योंकि शिष्यों के प्रश्नों के उत्तर में भगवान् बुद्ध ने निर्वाण को स्थापनीय प्रश्न कहकर इसका व्याकरण (व्याख्यान) नहीं किया है ।

---

१. अभिधम्मत्थसङ्गहो, १.१, पृ० १
२. वही, ६.३०, पृ० १२४,-१२५
३. वही, ६.३०, पृ० १२४

अभिधम्म में चित और रूप दोनों को नैरात्म्य माना गया है, वहां आत्मा का भी प्रतिषेध है, तथा निर्वाण का लक्षण करते हुए 'दुःखहान', 'विराग' और 'रागक्षय' आदि शब्दों से इसका परिचय दिया गया है। अतः निर्वाण ऐहिक सुख है, यह भी कल्पना की जा सकती है, किन्तु उस स्थिति में यह परम सुख नहीं हो सकता। कुछ सूत्रान्तों में इसे अजात, अमृत और अनन्त भी कहा गया है।[1] पूसे के अनुसार बुद्ध योगी थे और अवाच्य की अभिज्ञा रखते थे, जो न भाव है और न अभाव। यह प्रपञ्चातीत है। उनके अनुसार यह समझना कठिन है कि बौद्ध निर्वाण को अमृत, योगक्षेम और अच्युत क्यों कहते हैं। ये शब्द अभाव के समानार्थक स्वीकार नहीं किये जा सकते। रीजडेविड्स के अनुसार 'अमृत' आर्यों का आहार है और निर्वाण वीतराग पुरुष की सम्यक्-प्रज्ञा।[2]

सौत्रांतिकों के अनुसार निर्वाण अभावमात्र है जबकि सर्वास्तिवादी निर्वाण को परमार्थसत् द्रव्य अभिधम्म मानते हैं। उनके अनुसार भगवान् बुद्ध तृतीय आर्यसत्य अर्थात् सर्वदुःख-निरोध के रूप में निर्वाण को स्वीकार करते हैं। यह लक्षण धर्म है। दुःख का निरोध है और दुःखनिरोध का अर्थ वस्तु-सत्य भी है अर्थात् उसका विषय असन्मात्र विरोधमात्र नहीं है किन्तु द्रव्यसत् है।[3] यह दुःख का निरोध अर्थात् तृष्णा का क्षय, तृष्णा से विमुक्त है किन्तु अभावमात्र नहीं है। इस प्रसंग में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं:—

१. यदि यह अभाव मात्र होता तो यह आर्यसत्य कैसे होता? जिनकी सत्ता नहीं है वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता।

२. अभाव को तृतीय सत्य कैसे अवधारित करते?

३. अभाव संस्कृत और असंस्कृत में अग्र कैसे होता?

४. यदि तृतीय आर्यसत्य का विषय द्रव्यसत् नहीं है तो उसके उपदेश से क्या लाभ?

५. यदि निरोध निवृत्तिमात्र है, तो उच्छेददृष्टि सम्यक् दृष्टि होगी।

अंगुत्तर निकाय में निर्वाण को सुख, शान्त, और प्रणीत कहा गया है, जो उसे दुःखवत् देखता है उसके लिए मोक्ष सम्भव नहीं है।[4] मिलिन्द प्रश्न में निर्वाण-

---

१. बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० १७६

२. वही, पृ० २६०

३. वही, (कथावस्तु से उद्धृत), पृ० २६०

४. वही, (अंगुत्तर-निकाय से उद्धृत ४.४४२) पृ० २६६

धातु को अत्थिधम्म, एकान्तसुख और अप्रतिमास (ग) कहा गया है। इसके अनुसार निर्वाण का लक्षण स्वरूपतः नहीं बतलाया जा सकता किन्तु गुणतः दृष्टान्त के रूप में कुछ कहा जा सकता है, जैसे जल पिपासा को शांत करता है वैसे ही निर्वाण त्रिविध तृष्णा का निरोध करता है।[1]

ललितविस्तर में निर्वाण को, दुःखनिरोध को, तृष्णा-निरोध के रूप में स्वीकार किया है। इस अवस्था में अशेष विराग की स्थिति होती है।[2] इसमें शाक्यमुनि गौतम बुद्ध के प्रारम्भिक जीवन से सम्बद्ध कथानक के माध्यम से, निर्वाण और उसकी पृष्ठभूमि की भूमिका दी गई है। इस प्रसंग में नवयौवन से तरुण शाक्यवंशीय गौतम बुद्ध (सिद्धार्थ जब नगर-भ्रमण की इच्छा से घर से बाहर निकलते हैं। वह देखते हैं संपूर्ण नगर और उद्यान- भूमि को हर प्रकार से सुसज्जित किया गया है। दोनों ही रंग-बिरंगे चंदोवों, छतरियों, ध्वजापताकाओं से सुसज्जित है। फूलों और गंधद्रव्यों से उसे मनोरम बनाया गया है। सेवकवर्ग भी सब प्रकार से अलंकृत है और बोधिसत्त्व पूर्व-द्वार से निकलते हुए उद्यान भूमि में प्रवेश करते हैं।[3] असंख्य मनोरम भोग साधनों का उपभोग करने पर भी अकस्मात् उनकी दृष्टि पड़ती है ऐसे व्यक्ति पर जो जराजीर्ण वृद्ध है, समस्त शरीर पर स्नायुओं का जाल दिखाई पड़ रहा है। मुख के सभी दांत गिर जाने से पोपला मुख, झुरियों से भरी देह, पके श्वेत केश, उसको सर्वथा श्रीहीन किये हुए हैं। पीठ पर निकला कूबड़, मेहराब की तरह आगे को झुका हुआ शरीर, लाठी लेकर उसके सहारे चलने का प्रयत्न किन्तु बार-बार थककर रुकना, थर-थर शरीर का कांपना उसकी पीड़ा को घोषित सा कर रहे हैं।[4] बोधिसत्त्व

---

१. बौद्धधर्म-दर्शन, (अगुत्तर-निकाय से उद्धृत, ४.४४२) पृ० २९६

२. संक्षेपात् पञ्चोपादानस्कन्धा दुःखम्। इदमुच्यते दुःखम्। तत्र कतमो दुःखसमुदयः? येयं तृष्णा पौनर्भविकी नन्दीरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी अयमुच्यते दुःखसमुदयः। तत्र कतमो दुःखनिरोधः? योऽस्या एव तृष्णायाः पुनर्भविक्या···अशेषोविरागोनिरोधः अयं दुःखनिरोधः। तत्र कतमा दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्। एष एवार्याष्टाङ्गमार्गः। तद्यथा सम्यग् दृष्टिर्यावत् सम्यक्-समाधिरिति इदमुच्यते दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदार्थसत्यमिति। इमानि भिक्षवः चत्वार्यार्यसत्यानि।

—ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, परि० २६, पृ० ३०३, पं० ११-१७

वही, पृ० २८६, पं० २-७, वही, (शास्त्री) श्लोक १३८४

३. वही, १४, पृ० १३६

४. वही, पृ० १३६

उसे देखकर उसकी पीड़ा का अनुमान करते हैं, और अपने अनुमान की पुष्टि के लिए सारथी से प्रश्न करते हैं 'यह क्यों इस प्रकार चल रहा है ?'[१] सारथि उत्तर देता है—'कुमार यह पुरुष जरा से अभिभूत है, इसी कारण, जरा के कारण, ही इसकी सभी इन्द्रियां शिथिल हैं, बल-पौरुषहीन है अतएव असमर्थ है, साथ ही बंधुओं द्वारा त्याग दिये जाने से अनाथ हो गया है।'[२] उन्हें जब पता चलता है कि प्रत्येक प्राणी की यह स्थिति होती है, तब उन्हें 'जरा' एक महान् कष्ट के रूप में प्रतीत होती है और उसकी कष्टमयता मानस में स्थिर हो जाती है।[3]

इसी प्रकार कालान्तर में एक दिन दक्षिण-मार्ग से उद्यान-भूमि की ओर से निकलते हुए, उनकी दृष्टि ऐसे व्यक्ति पर पड़ती है, जिसका शरीर व्रणों से विवर्ण है, इन्द्रियों से क्षीण है, श्वास ठीक प्रकार से नहीं ले सकता, पेट की व्याधि से आकुल मलमूत्र में सना पड़ा है, जिसे देखते ही प्रत्येक व्यक्ति को घृणा होने लगती है।[४] सारथी से पूछने पर पता चलता है कि 'यह व्यक्ति व्याधि-ग्रस्त है। व्याधि (रोग) के कारण ही यह ग्लान, तेजरहित, मरणासन्न और असहाय हो रहा है।'[५] इसका परिणाम यह होता है कि बोधिसत्त्व के मन में व्याधि (रोग) भी एक महान् कष्ट के रूप में स्थिर बन जाता है।

कुछ काल पश्चात् वे पश्चिम द्वार से उद्यान भूमि की ओर जा रहे थे, तब उनकी दृष्टि ऐसे दृश्य पर पड़ती है 'जहां एक निश्चेष्ट मनुष्य मंच पर लेटा है, उसका शरीर ढका हुआ है. ऊपर चंदोवा भी लगा है। उसके कुटुंब और बिरादरी के लोग उसे घेरे हुए विलाप कर रहे हैं। विलाप करते हुए मनुष्यों के केश बिखर गये हैं, उनके सिर पर धूल पड़ी है। रोते हुए वे अपनी छाती पीट रहे हैं। निश्चेष्ट व्यक्ति से युक्त मंच आगे बढ़ता है और लोग नाना प्रकार से विलाप करते हुए उसके पीछे चल रहे हैं।'[६] पूछने पर पता चलता है कि मंच पर निश्चेष्ट पड़े व्यक्ति का स्वर्गवास हो गया है। मृत्यु ने इसे समाप्त कर दिया है। अब यह अपने माता-पिता, स्त्री-पुत्र तथा अन्य कुटुम्बियों को कभी

---

१. ल० वि० (शास्त्री), परि० १४, श्लोक ५४५

२. वही, श्लोक ५४६

३. वही, श्लोक ५४८-५४९

४. वही, (वैद्य), पृ० १३६; (शास्त्री) श्लोक ५५०

५. वही, श्लोक ५५१

६ वही० (वैद्य), पृ० १३६ (शास्त्री) श्लोक ५५३

न देख सकेगा । यह अपने रम्य शरीर को भी छोड़कर परलोक सिधार गया है । यह शरीर रखने पर सड़ जाएगा, दुर्गन्ध फैलाएगा, इसलिए सब लोग इसे श्मशान ले जा रहे हैं और इसका अंतिम संस्कार कर देंगे ।[1] इस घटना को देखकर बोधिसत्त्व को मृत्यु भी एक महान् कष्ट के रूप में दिखाई पड़ने लगती है ।[2] फलतः वे यौवन, आरोग्य, जीवन और भोग-विलास की प्रवृत्ति को धिक्कारते हैं और इन सभी कष्टों से छूटने का उपाय सोचने लगते हैं ।[3] इसी बीच किसी अन्य दिन उत्तरीय मार्ग से उद्यान-भूमि के लिए प्रस्थान करने पर एक दिन अकस्मात् एक प्रव्रजित व्यक्ति के दर्शन करते हैं, जिसका चित्त पूर्ण प्रशान्त है, धीर गंभीर है ।[4] परिचय पूछने पर सारथी से पता चलता है कि यह व्यक्ति राग-द्वेष से पूर्णतया मुक्त है आत्मतत्त्व की खोज में लगा हुआ है ।[5] बस यहीं से बोधिसत्त्व का मन प्रव्रज्या के लिए उत्सुक हो जाता है ।[6] विश्व के प्रति वैराग्य हो जाता है ।

ललितविस्तर के अनुसार बोधिसत्त्व की मोक्ष की कामना स्वयं अकेले मोक्ष-प्राप्ति की नहीं है । उन्होंने पूर्वजन्म में ही कामना की थी कि 'मैं बोधि (तत्त्वज्ञान) प्राप्त करके स्वयं तो अजर-अमर पद प्राप्त करूंगा ही, जगत् को भी समस्त क्लेशों से मुक्ति प्रदान करूंगा ।[7] वे महाअभिनिष्क्रमण के समय इस तथ्य को छन्दक के समक्ष प्रकट भी करते हैं 'प्राणियों के मोक्ष के लिए, प्राणियों के हित के लिए मेरा निश्चय अटल है न बदलने वाला, दृढ़ है, उतना ही दृढ़ है जितना सुमेरु अपने स्थान पर दृढ़ होता है ।'[8] उनका यह दृढ़ निश्चय सर्वविदित है, इसीलिए बोधि प्राप्ति हेतु अभिनिष्क्रमण के लिए सपूर्ण संचोदना परिवर्त्त में, देवताओं ने भी, उनको स्मरण दिलाकर, प्रार्थना करते हुए, उन्हें प्रेरणा दी है कि वे अभिनिष्क्रमण के लिए प्रस्तुत हों और बोधि प्राप्त करके, सकल ब्रह्माण्ड को क्लेशों से मुक्ति प्रदान करें ।[9] अन्य प्रसंगों में भी अनेक बार इस प्रण को दुहराया गया है ।

---

१. ल० वि०, (शास्त्री) श्लोक ५५४
२. वही, श्लोक ५५५
३. वही, श्लोक ५५६
४. वही, श्लोक ५५७
५. वही, श्लोक ५५८
६. वही, श्लोक ५५९
७. वही, श्लोक ६४३
८. वही, श्लोक ६३९
९. वही, श्लोक ३८६-५४४

इन अनेक प्रसंगों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि संसार के समस्त प्राणियों के क्लेश को समझकर, उस क्लेश से संपूर्ण रूप से मुक्ति दिलाना ललितविस्तर के कथानायक का मुख्य उद्देश्य रहा है।

इस परम उद्देश्य की पूर्ति के लिए तथागत ने अविद्या का नाश और इसके लिए धर्मदेशना को उपाय के रूप में स्वीकार किया और संकल्प लिया है कि मैं धर्मदेशना करूंगा।

"भौमादेवास्तस्यां वेलायां अन्तरीक्षेभ्यो देवेभ्यो घोषमुदीरयन्तिस्म, 'शब्द-मनुश्रावयन्ति स्म'—अद्य मार्षा तथागतेनार्हता सम्यक्-संबुद्धेन धर्मचक्र-प्रवर्तनायै प्रतिश्रुतम्"[1]

धर्मदेशना अथवा किसी भी उपदेश को ग्रहण करने के लिए उसका अधिकारी होना आवश्यक होता है। इस दृष्टि से ललितविस्तर के कवि ने धर्मदेशना के लिए योग्य अधिकारी का अनुसंधान किया है। उसके अनुसार सामान्यतः मनुष्यों के तीन प्रकार हैं, हीन, मध्य और प्रणीत। इन्हें ही दूसरे शब्दों में नीच, मध्य और उच्च कह सकते हैं। इनमें से कुछ सुन्दर विचारों वाले भली प्रकार विचार करते हैं ये मध्यम हैं। कुछ बुरे विचारों वाले हैं जो उलटा ही सोचते हैं, ये नीच हैं और कुछ के प्रज्ञाचक्षु सदा खुले रहते हैं। इन्हें ही दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि मनुष्यों का एक वर्ग है जो मिथ्यात्व में नियत है अर्थात् मिथ्यादृष्टि पर ही उनका आग्रह है। दूसरे प्रकार के प्राणी सम्यक्त्व दृष्टिवाले हैं, जिन्हें सत्य-असत्य का पूर्ण बोध है। इन दोनों को ही धर्मदेशना करना निरर्थक है क्योंकि प्रथम उसे ग्रहण नहीं करना चाहता है। वह क्लेश को ही आनन्द समझता है और उससे निकलने की उसकी कोई कामना नहीं है, जबकि दूसरे प्रकार के मनुष्य को सम्यक् ज्ञान पहले से ही है, उसके लिए धर्मदेशना की अपेक्षा नहीं है। तीसरे प्रकार के मनुष्य हैं 'अनियत' अर्थात् उनका मिथ्यादृष्टि पर आग्रह नहीं है वे क्लेशमय संसार को यथार्थ मानकर, उसमें ही रमे रहने का आग्रह नहीं करते हैं और न उन्हें सम्यक्त्व का बोध है। वे उसे ग्रहण करने को तत्पर हैं, जिसका उन्हें उपदेश दिया जाये। वे आग्रह युक्त नहीं हैं, इसीलिए ग्रन्थकार ने उन्हें 'अनियत' कहा है।[2] तथागत ने इन तीनों में मध्यकोटि मनुष्य को, जो

१. ल० वि० (वैद्य), परि० २५, पृ० २९३, पं ९-११

२. तथागतः सर्वावन्तं लोकं बुद्धचक्षुषा व्यवलोकयन् सत्त्वान् पश्यति स्म—हीन-मध्यप्रणीतानुच्चनीचमध्यमान् स्वाकारान् सुविशोधकान् दुराकारान् दुर्विशोधकान् उद्घाटितज्ञानविपञ्चितज्ञान पदपरमांस्त्रीन् सत्त्वराशीनेकं मिथ्यत्व-नियतमेकं सम्यक्त्वनियतमेकमनियतम् ।······तथागतोऽनियत-राशिव्यवस्थितान् सत्त्वानारभ्य महाकरुणामवक्रामयति स्म।
—ल० वि० (वैद्य), पृ० २९२

अनियतराशि के रूप में व्यवस्थित है, उसे ही धर्मदेशना को ग्रहण करने वाला अधिकारी माना है।

इस प्रसंग में ललितविस्तरकार ने व्याधि, जरा-मरण से मुक्ति के लिए तथा आवश्यक बोधिप्राप्ति के लिए भी अधिकारी की चर्चा की है। उसके अनुसार जिसने हाथ, पैर आदि शरीर के अंग-प्रत्यंग, पुत्र, स्त्री, राज्य, धन, सुवर्ण' रत्नों से परिपूर्ण रथ, हाथी, घोड़े आदि का दान (त्याग) किया है, जिसने शील की रक्षा की है, क्षमा की भावना की है, वीर्य-वर-ध्यान एवं प्रज्ञा में रमा रहा है, वही मंगलमयी, शान्ति बोधि का अनुभव कर, जरा-मरण के पंजर में पड़े प्राणियों को मुक्त कर सकता है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि मोक्ष या निर्वाण के मूल सम्यक् संबोधि के लिए त्याग अर्थात् सांसारिक पदार्थों से वैराग्य, शील की रक्षा, क्षमा की भावना, त्रिविध ध्यान का अभ्यास, एवं प्रज्ञा की उपासना नितान्त आवश्यक है।

इस प्रसंग में स्मरणीय है कि मोक्ष प्रदान करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए, व्यक्ति को स्वयं मुक्त होना अनिवार्यतः आवश्यक है। ग्रन्थकार के अनुसार जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति दूसरे को मार्ग नहीं दिखा सकता, उसी प्रकार वह व्यक्ति जो स्वयं बन्धन में पड़ा हुआ है वह दूसरे को कभी मुक्त भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार चक्षुष्मान् प्राणी, जिसने मार्ग का साक्षात्कार किया है, वही दूसरे का मार्ग प्रदर्शन कर सकता है उसी प्रकार जो व्यक्ति स्वयं मुक्त हो चुका है, वही दूसरे को भी मुक्त कर सकता है।[2]

निर्वाण का स्वरूप

मोक्ष अथवा अमृतत्त्व का अर्थ क्या है, अथवा मोक्ष का स्वरूप क्या है ? इस प्रश्न पर दार्शनिकों में पर्याप्त विवाद है। ललितविस्तर के कवि ने इस प्रसंग में अपने अभिमत को बहुत स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग में उसने दो स्थानों पर चर्चा की है एक स्थल पर संक्षिप्त तथा अन्यत्र विस्तारपूर्वक। संक्षिप्त-चर्चा में इतना ही कहा जा सकता है कि जो प्राणी जरा-व्याधि, मरण, शोक, परिदेवना (विलाप), दुःख, दौर्मनस्य, तथा उपायास अर्थात् क्षोभ से पीड़ित है उनका इन जरा, व्याधि आदि

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ६२३

२. न हि बद्ध मोचयाती न चान्धपुरुषेन दर्शयति मार्गः ।
मुक्तस्तु मोचयाती सचक्षुषा दर्शयति मार्गः ॥
ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ५२७

प्रत्येक ने छुटकारा पा जाना पूर्ण रूप से मोक्ष है ।[1] एक अन्य स्थल पर उन्होंने विस्तारपूर्वक मोक्ष के स्वरूप का विवरण दिया है। उसके अनुसार—'वह गम्भीर शान्त, प्रशान्त, उपशान्त, प्रणीत (उत्तम) दुर्दश, दुरनुबोध, अवितक-विचार, अलमार्य, पंडितों एवं विज्ञों द्वारा ही जानने योग्य है क्योंकि उसमें सब प्रकार की उपाधियों का पूर्णरूप से परित्याग है। वह आवेदित होकर भी अनिवेदित है, उसमें सब प्रकार की वेदनाओं का निरोध हो जाता है। वह परमार्थ अनालय, अशीतीभाव, अनादान, अनुपादन, अविज्ञाप्त एवं अज्ञापनीय है। वह असंस्कृत मन और इन्द्रियों के विषयों से परे अकल्प, अविकल्प, अनभिलाप्य, अरुत, अघोश, अनुदाहर, अनिदर्शन, अप्रतिघ, सब प्रकार के आलम्बनों से अतीत, शामथ, धर्मोपच्छेद, शून्यता—अनुपलम्भ अर्थात् शब्द प्रपंच से शून्य, उपलब्धि के योग्य, देश और, काल से अतीत, तृष्णाक्षय रूप विरागरूप, सर्वदुःखनिरोध रूप निर्वाण है।[2]

निर्वाण के इसी स्वरूप का कुछ संक्षेप से विवरण ग्रन्थकार ने पुनः उपस्थित किया है कि "वह गम्भीर, सूक्ष्म, निपुण और दुर्बोध है। वह तर्क की सीमा से परे, तर्क की गतिविधि से परे, पंडितों और विशेषज्ञों द्वारा ही जानने योग्य है। वह लोक-मार्ग से विपरीत दुर्दृश्य सर्वोपाधिनिसर्ग है अर्थात् इसके लिए संपूर्ण संग्रहराशियों का पूर्णतया त्याग करना होता है। इस स्थिति में समस्त संस्कार शान्त हो जाते हैं। समस्त तम और अविद्या का वहां नाश हो जाता है। वह शून्यता मय अर्थात् शब्द-प्रपञ्च की सीमा से परे है। उपलब्धि के योग्य देश और काल का वहां अभाव है, संपूर्ण रूप से तृष्णाक्षय, समस्त विषयों के प्रति विराग, समस्त क्लेशों का निरोध रूप वह निर्वाण है।[3]

---

१. एवं जराव्याधिमरणशोकपरिदेवदुःखदौर्मनस्योपायासेभ्य परिमोक्षन्ते । ···संसारपंजरचारकावरुद्धानां क्लेशबन्धनबद्धानां बन्धननिर्मोक्षं करिष्यति । —ल० वि० (वैद्य), पृ० ७४

२. गम्भीरो बतायं मया धर्मोऽधिगतोऽभिसंबुद्धः शान्तः प्रशान्त उपशान्तः प्रणीतो दुर्दृशो दुरनुबोधोऽतर्कोऽवितर्कावचरः । अलमार्यः पण्डितविज्ञवेदनीयो यदुत सर्वोपधिनिःसर्गोऽवेदितोऽनिवेदितः सर्ववेदितनिरोधः । परमार्थोऽनालयः । शीतीभावोऽनादानोऽनुपादानोऽविज्ञापतोऽविज्ञापनीयोऽसंस्कृतः षड् विषयसम तिक्रांतः अकल्पोऽविकल्पोऽनभिलाप्यः ।···तृष्णाक्षय विरागो निरोधोनिर्वाणम् । —ल० वि० (वैद्य), पृ० २८६

३. गम्भीरःखल्वयं मया धर्मोऽभिसबुद्धः सूक्ष्मो निपुणो दुरनुबोधः अतर्कोऽतर्कावचरः । पण्डितविज्ञवेदनीयः सर्वलोकविप्रत्यनीको दुर्दृशः सर्वोपधिनिःसर्गः······निर्वाणम् । —ल० वि० (वैद्य), पृ० २८९

ललितविस्तर में बिना विशेष विवरण दिये हुए विमोक्ष के तीन प्रकारों का संकेत हुआ है। इनके अनुसार वे प्रकार हैं—शून्यविमोक्ष, अनिमित्तविमोक्ष और अप्रणिहित विमोक्ष ।[1] शान्तिभिक्षु शास्त्री के अनुसार शून्यविमोक्ष में आलम्बन अनात्मविपश्यना होती है, अनिमित्त विमोक्ष में आलम्बन अनित्य-विपश्यना होती है तथा अप्रणिहित विमोक्ष में आलम्बन दुःखविपश्यना होती है ।[2]

इस सकल क्लेश निरोधरूप लोकोत्तर निर्वाण की प्राप्ति अनेक जन्म-जन्मान्तर में अर्जित पुण्य के परिपाक के फलस्वरूप ही हुआ करती है। वस्तुतः पुण्य विपाक अर्थात् जन्म-जन्मान्तर में अर्जित पुण्य के प्रभाव से एक साधक निर्वाण-पथ का पथिक बनता है। अपार-पुण्य के प्रभाव से निर्वाण की, क्लेशनिवृत्त-कामना जब उसके हृदय में जगती है तब पुनः की गयी अनन्त साधना के प्रभाव से न केवल समस्त विषयों से. इन्द्रियों और मन का निरोध करता है अपितु मार पर भी विजय प्राप्त करता है। विजय प्राप्त होने पर धर्मबोधि अर्थात् तत्त्व का साक्षात्कार होता है। उसके सभी मनोभाव शान्त हो जाते हैं, तब कहीं वह निर्वाण की प्राप्ति कर पाता है ।[3]

इसीलिए ग्रन्थकार की मान्यता है कि मनुष्य को चाहिए कि यदि वह अपने कल्याण की कामना करता है तो पुण्यकर्मों को करने में, अमृतमय धर्म को सुनने में, एकान्त वन में विहार करने अर्थात् साधना करने में तथा परोपकार करने में कभी तृप्ति का अनुभव न करे अर्थात् इन कर्त्तव्यों का निरन्तर आचरण करे ।[4]

मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति के लिए शील और उत्तम भावों से पूर्ण आचार

---

१. ये चागता धरणिसिंह इवा नदन्तः शून्यानिमित्तप्रणिधीरवमुञ्चमानाः ।
—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक, ९१९

२. ल० वि० (शास्त्री), टिप्पणी, पृ० ५३६

३. पुण्यविपाकु सुख सर्वदुःखापनेती
अभिप्रायु सिध्यति च पुण्यवतो नरस्य ।
क्षिप्रं च बोधि स्पृशते विनिहत्य मारं
शान्तापथो गच्छति च निर्वृतिशीतिभावम् ॥
—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक, ११५५

४. तस्मात्कपुण्यकरणे न भवेत् तृप्तः शृश्वश्च धर्मममृतं भवि को वितृप्तः ।
विजने वने च विहरं भवि को वितृप्तः कः सत्त्व अर्थकरणे न भवेद्धि तृप्तः ॥
—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक, ११५६

का पालन नितान्त आवश्यक है ऐसा ग्रन्थकार निर्विवाद रूप से स्वीकार करता है। यही कारण है ग्रन्थकार के अनुसार भेरी आदि वाद्यों की ध्वनियों में भी, मोक्षार्थी के लिए आचरणीय कर्मों की प्रेरणा देनेवाले ही शब्द निकल रहे थे। इनका तात्पर्य था कि उदार इच्छा, उदार भाव, उत्तमभाव एवं प्राणियों के प्रति करुणा से उत्तम बोधि के लिए चित्त उत्पन्न, होता है।[1] श्रद्धा, प्रसाद, अधिमुक्ति, परिपृच्छा, कुशल धर्म की खोज और अनुस्मृति, दान, दम, संयम, शील क्षमा, वीर्य, ध्यान, सिद्धि एवं समाधि की साधना बोधि का उपाय है।[2] मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, अभिज्ञा चार संग्रहवस्तुओं के विशेष रूप से निश्चय के द्वारा प्राणियों का धर्ममार्ग दृढ होता है।[3] स्मृत्युपस्थान के भेद-प्रभेद, सम्यक् प्रहाण ऋद्धिपाद, पञ्चेन्द्रिय, बल के पांच प्रभेद इत्यादि बोधि के अंग हैं।[4] अष्टांगिक मार्ग के अंग शमथ विपश्यना (तत्त्वदर्शन), अनित्यभाव, सभी कुछ दुःख है यह भाव आर्त्ति एवं अनात्मभाव का बोध बोधि के अंग हैं।[5] विराग, विवेक, क्षयज्ञान, अनुत्पाद, अनिरोध, और अनालय का बोध निर्वाण का उपाय है।[6] भेरी आदि वाद्यों से निर्गत ये शब्द स्वयं बोधिसत्त्व को प्रेरणा कर रहे थे क्योंकि वे अपने पिता राजा शुद्धोदन के एवं अपने राष्ट्र कपिलवस्तु के प्रिय हैं। अतः पिता और राष्ट्र दोनों के कल्याण के लिए घर से अभिनिष्क्रमण करके, मोक्षमार्ग की स्थापना करते हुए, जिस प्रकार धातुविद चिकित्सक चिरकाल से रोग-पीड़ित व्यक्ति के रोग को दूर कर रोगी को सुख प्रदान करता है, उसी प्रकार चिरकाल से पीडित प्राणिवर्ग को धर्मरूपी औषधि प्रदान करके, निर्वाण सुख प्रदान करना चाहिए।[7]

ललितविस्तर के अनुसार क्लेशविमोक्ष रूप निर्वाण तीन प्रकार का होता है :—(क) शून्यताविमोक्ष (ख) अनिमित्तविमोक्ष और (ग) अप्रणिहितविमोक्ष, जिसे ज्ञान-दीप की सहायता से अविद्या का विनाश करके प्राप्त किया जाता है।[8]

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ५१६
२. वही, श्लोक ५१८-५१६
३. वही, श्लोक ५२०
४. वही, श्लोक ५२२
५. वही, श्लोक ५२१
६. वही, श्लोक ५२३
७. वही, श्लोक ५३४-५३६
८. (क) त्रिविधमोक्षसुखज्ञानवतौषधिसंप्रयोगेण चोपायप्रज्ञाज्ञानसंप्रयुक्तेन सर्वाविद्यान्धकारतमोहतं महत्तिमिरपटलकालुष्यमपनीय प्रज्ञाचक्षुर्विशोधयेयम् ॥ ——ल० वि० (वैद्य), पृ० १४८
(ख) ——ल० वि०, (शास्त्री) श्लोक १२७२

निर्वाण प्राप्ति के उपाय

ललितविस्तर के अनुसार उपर्युक्त मोक्ष-प्राप्ति के दो उपाय हैं—(१)दुर्दम चित्त को वश में करना तथा (२) मार पर विजय प्राप्त करना।[1] यद्यपि मार पर विजय की प्राप्ति चित्त को वश में कर लेने पर स्वतः हो जाती है। तथापि क्योंकि अध्यात्मसाधकों के इतिहास में अनेक बार ऐसे विवरण मिलते हैं तपस्वी, योगी भी मार का आक्रमण होने पर पथभ्रष्ट हो गये। अतः यहां मार-विजय, धर्षण का पृथक् परिगणन कर दिया गया है।

चित्त की वृत्तियों का निरोध निर्वाण प्रदान तो करता ही है, साथ ही इसके द्वारा साधक को अन्य आनुषङ्गिक सिद्धियां भी ठीक उसी प्रकार प्राप्त हो जाती हैं, जिस प्रकार किसी अभीष्ट स्थान पर जाते समय मार्ग में स्थित मनोरम नदी, पर्वत, नगर आदि के दर्शन अनायास होते हैं। इस प्रकार की उपलब्धियों में 'सकल लोक का आश्चर्यान्वित होना, तीर्थिकों के घमण्ड का विनाश होना, पर-पक्ष के प्रवादियों का परास्त होना, देवताओं से भी आदर-भाव प्राप्त करना, निष्कर्मण्य जनों में सत्कर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न करने की क्षमता होना, पुण्य और ज्ञान की प्रप्ति होना, ध्यान के अंगों का विभाजन तथा शरीर बल में स्थिरता का प्राप्त होना आदि मुख्य है।[2] महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्तवृत्तिनिरोध रूपी योग के सिद्ध होने पर साधक दृष्टा के स्वरूप में स्थिर हो जाता है।[3] उसके अनुसार चित्तवृत्ति निरोध, जिसे वहां समाधि के नाम से स्मरण किया जाता है, के अनेक स्तर हैं, उनमें से उच्चतम स्तर तक पहुंचने पर साधक को विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है जिसमें बिना क्रम के सर्व-विषय विषयक बोध उत्पन्न होता है जो कि संसार से पार करके कैवल्य अर्थात् मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त करता है।[4] उनके अनुसार भी साधना के क्रम में, मार्ग में

१. ल० वि० (वैद्य), श्लोक ३

२. बोधिसत्त्वो लोकस्याश्चर्यसंदर्शनार्थं तीर्थिकानां च परप्रवादिनां च निग्रहार्थं देवानां चावर्जनार्थं······पर्यङ्कमाभुज्य निषीदतिस्म। निषद्य च स्वकायं चेतसा निगृह्णीते स्म, निष्पीडयतिस्म।

—ल० वि० (वैद्य), पृ० १८४

३. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

—यो० सू०, १, २-३

४. तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्, सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।

—यो० सू०, ३.५४-५५

अनन्त सिद्धियां प्राप्त होती हैं समस्त प्राणियों में वैरत्याग[1] सर्वविध रत्नों की प्राप्ति[2], अपूर्वशक्ति की उपलब्धि[3], जन्म-जन्मान्तर के विवरण का बोध[4], समस्त क्रियाओं में अनिवार्यतः सफल होना[5] इष्टदेवों का स्वाधीन होना[6], चित्त की एकाग्रता[7] अतीत-अनागत सभी काल की घटनओं का बोध[8], समस्त प्राणियों की भाषा का बोध[9], दूसरे के चित्तगत भावों का ज्ञान[10] अन्तर्धान हो सकना[11], निकटस्थ और दूरस्थ व्यवहित विषयों का ज्ञान[12] सभी भुवनों, तारामंडल कायव्यूह[13] आदि का ज्ञान, क्षुधा-पिपासा की निवृत्ति[14], अपने चित्त का पर-शरीर में प्रवेश[15], इच्छानुसार शरीर से आत्मा की उत्क्रान्ति[16], दिव्य इन्द्रियों की प्राप्ति[17] अणिमा महिमा लघिमा गरिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशित्त्व और वशित्व आदि सिद्धियों की प्राप्ति[18]। पतञ्जलि के अनुसार मोक्षमार्ग के पथिक के समक्ष इस प्रकार की अनन्त सिद्धियां प्रगट होती हैं, किन्तु योगी उनकी निरन्तर उपेक्षा करता है क्योंकि वह जानता है कि ये सभी सिद्धियां व्युत्थान चाहने वालों की दृष्टि से हैं, समाधि की इच्छा रखने वालों के लिए तो ये सिद्धियां न होकर मार्ग के उपसर्ग अर्थात् विघ्न हैं।[19]

---

१. यो० सू०, २.३५
२. वही, २.३७
३. वही, २.३८, ३. २३, २४
४. वही, २.३९
५. वही, २.३६
६. वही, २.४४
७. वही, ३.१२
८. वही, ३.१६
९. वही, ३.१८, १२
१०. वही, ३.१९
११. वही, ३.२१
१२. वही, ३.२५
१३. वही, ३.२६-२९
१४. यो० सू०, ३.३०
१५. वही, ३.३८
१६. वही, ३.३९
१७. वही, ३.३८, ४०
१८. वही, ३.४५
१९. ते समाधावुपसर्गाः व्युत्थाने सिद्धयः। —यो० सू०, ३.३७

मोक्ष साधना के क्रम में पतञ्जलि ने यम और नियमों के पालन को अनिवार्य मानते हुए, इन्हें योग के प्रथम और द्वितीय अंग के रूप में स्वीकार किया है। पतञ्जलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को यमों में परिगणित करते हुए, इनके पालन को अनिवार्य माना है। ललित विस्तर में एक स्थल पर साधना के प्रसंग में व्रत, तप, संयम, क्षमा, दम, मैत्री आदि का पालन चिर काल तक करने को कहा है।[1] तथा अन्यत्र दुष्कर तपश्चर्या, आस्फानक ध्यान आदि की साधना से चतुर्थ प्रकार के ध्यान[2] तथा प्राणायाम के तीन स्तरों की चर्चा की गयी है। जिसमें प्रथम में स्वेद-प्रवाह, द्वितीय स्तर में श्वास-प्रश्वास के निरोध के साथ, कानों से ऊंची ध्वनि का निकलना, तथा तृतीय में नासिका एवं कानों से भी वायु-निरोध होने पर प्राणों के शिरःकपाल में ठोकर लगाना आदि का विवरण निबद्ध है।[3]

साधना के क्रम में ललित विस्तर में ध्यान की चर्चा सर्वाधिक हुई है। एक विवरण के अनुसार स्वयं शाक्यकुमार बोधिसत्त्व पर्यङ्कबन्ध अर्थात् पद्मासन में बैठकर, ध्यान-साधना में प्रवृत्त हुए थे। यह साधना उन्होंने जम्बू वृक्ष के नीचे भूमितल पर बैठकर प्रारम्भ की थी।[4] इस ध्यान की साधना में वे पर्वत की भांति स्थिर होकर बैठ गये थे।[5] ललित विस्तर के अनुसार ध्यान की साधना उस काल के अनेक साधकों की परम्परा में प्रचलित थी। प्रथम प्रकार के ध्यान को आकिञ्चन नाम से कहते हैं। आराड कालाप वैशाली के निकट तीन सौ

---

१. व्रततपसगुणेन संयमेन क्षमदममैत्रबलेन कल्पकोट्यः ।
अथ कृतु लघु कायचित्त नेता तस्य जवस्य विशेषतांश्रृणोथ ।।
—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ३६४

२. एवं चिन्तयित्वा षड्वर्षिकं महाधीरं व्रततपः सुदुष्करातमुदुष्करां दुष्कर-चर्यामालभते स्म।—केन कारणेनोच्यते आस्फानकमिति ? स चतुर्थ ध्यानमादित एव समापद्यमान आश्वासप्रश्वासानुपरोधयति अकल्पं तद् ध्यानमविकल्पमनिञ्जनमपनीतमस्पन्दनं सर्वत्रानुगतं च सर्वत्र चानिश्रितम् ।। —ल० वि० (वैद्य), पृ० १८३, पैरा ३,

३. ल० वि०, गद्यभाग, पृ० १८४, पैरा ३, ४, ५

४. अवतीर्य मेदिनि तले च प्रतिष्ठिहित्वा, पश्यन्ति शाक्यतनयंतहिजम्बुमूले ।
जम्बूनदार्चिसदृशं-प्रवतेजरश्मिं पर्यङ्कबन्धु तद ध्यापतु बोधिसत्त्वं ।।
—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ३२८

५. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ३२०

अपने शिष्यों को आकिंचन्यायतन ध्यान का ही उपदेश करते थे।[1] स्वयं बोधिसत्त्व के लिए इस ग्रन्थ में चार प्रकार के ध्यान की साधना का उल्लेख किया गया है।[2] इस ध्यान के क्रम में ग्रन्थकार ने चार स्थितियों का उल्लेख किया है—जिसमें प्रथम स्थिति में वे 'कामवासनाओं से अलग हो गये, उनके अशुभ पापधर्म अलग हो गये। इस स्थिति में उनमें वितर्क, विचार एवं विवेकज प्रीतिसुख का अनुभव बना रहा।[3] महर्षि पतञ्जलि ने वितर्क, विचार और आनन्द से अनुगत चित्त की एकाग्रता रूप समाधि का सम्प्रज्ञात समाधि नाम से स्मरण किया है।[4] ध्यान (समाधि) की द्वितीय अवस्था में ललितविस्तर के अनुसार वितर्क और विचार की निवृत्ति हो जाती है किन्तु समाधि की अवस्था का प्रीतिसुख अर्थात् आनन्द बना रहता है।[5] ध्यान की तृतीय अवस्था प्रीतिसुख के प्रति विराग उत्पन्न होने पर, हुआ करती है। इस अवस्था में साधक में स्मृति विद्यमान रहती है।[6] ध्यान की चतुर्थ अवस्था वह है जब सौमनस्य और दौर्मनस्य अस्त हो जाते हैं, दुःख, सुख, उपेक्षा और स्मृति भी चित्त में नहीं रहते। चित्त समस्त विकारों से रहित हो जाता है।[7]

---

१. आराड कालापो वैशालीमुपनिसृत्य···शिष्येभ्य आकिंचन्यायतन सहव्रतायै धर्मं पेशयति स्म ॥ —ल० वि० (वैद्य), पृ० १७४

२. (क) ल० वि०, (वैद्य) गद्यभाग, पृ० ९०, पं० ४-११
(ख) सो जम्बुधापमुपगम्य विनीतचित्तो, तृणकानि गृह्य स्वयं संस्तरु संस्तरित्वा पर्यङ्कमाभुजिय उज्जु करित्वकाणं, चत्वारि ध्यानशुभध्यादिस बोधिसत्त्वः —ल० वि० (वैद्य), परि० २ श्लोक १९
(ग) ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २५०, पं १-६

३. आसाद्य च विविक्तं कामैर्विविक्तं—प्रथमं ध्यानमुपसंपद्य विहरति स्म। —ल० वि० (वैद्य), पृ० ९० पैरा I

४. वितर्कविचारानन्दाऽस्मितानुगमात्संप्रज्ञातः ॥ —यो० सू० १.१७

५. स वितर्कविचाराणां व्युपशमादध्यात्मसंप्रसादाच्चेतसः···द्वितीयं ध्यानमुपसंपद्य विहरति स्म ॥
—ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ९०, पैरा I पं० ६,७

६. स प्रीतेः विरागादुपेक्षको विहरति स्म स्मृतिमान संप्रजानन्···उपेक्षकः स्मृतिमान् सुखविहारी निष्प्रीतिकं तृतीयं ध्यानं उपसंपद्य विहरति स्म। —ल० वि० (वैद्य), पृ० ९० पं० ८,९

७. स सुखस्य च प्रहाणाददुःखस्य च प्रहाणाद पूर्वमेव च सौमनस्यदौर्मनस्ययोरस्तंगमाद् दुखसुखमुपेक्षास्मृतिपरिशुद्धं चतुर्थं ध्यानमुपसंपद्य विहरति स्म ॥
—वही, पृ० ९०

ध्यान की इन चार अवस्थाओं की ओर संकेत ललितविस्तर में अनेक बार हुआ है। नैरञ्जना परिवर्त्त में एक स्थान पर बोधिसत्त्व विचार करता हुआ दिखाया गया है, जिसमें वे बोधिमार्ग पर विचार करते हुए प्रथम और चतुर्थ ध्यान का नामतः स्मरण करते हैं।[1] यहां पर भी केवल प्रथम एवं चतुर्थ ध्यान का नामतः निर्देश है तथा विवरण प्रथम ध्यान का ही है जो वितर्क, विचार एवं विवेकज आनन्द से युक्त बताया गया है।

इन उपर्युक्त चार ध्यान प्रकारों के अतिरिक्त ललितविस्तरकार ने रामपुत्र रुद्रक नामक तपस्वी को 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतन' नामक ध्यान का उपदेश करने वाला बताया है।[2] किन्तु उसे ग्रन्थकार ने प्रशस्त ध्यान अर्थात् निर्वाण तक पहुंचाने वाला नहीं माना है।[3] नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यान के सम्बन्ध में कुछ विवरण ग्रन्थकार ने नहीं दिया है, तथापि इसके नाम में 'संज्ञान' और 'असंज्ञायन' अर्थात् विवेकज एवं लौकिक दोनों प्रकार के बोध के अभाव की चर्चा को देखकर इसे अमनस्कयोग के निकट समझा जा सकता है।[4]

एक अन्य स्थल पर ग्रन्थकार ने आस्फानक ध्यान की चर्चा की है, जिसमें बोधिसत्त्व प्राण-निरोध पूर्वक कुछ काल तक रहे।[5] ललित विस्तर के अनुसार आस्फानक ध्यान उत्कृष्ट कोटि का ध्यान है। इसकी साधना से चतुर्थ ध्यान

---

१. यदहं वितुरूद्याने जम्बुच्छायायां निषण्णो विविक्तं कामैर्विविक्तं पापकैर-कुशलैः धर्मैः सवितर्कं सविचारं विवेकजं प्रीतिसुखं प्रथमं ध्यानमुपसंपद्य व्याहार्षं यावच्चतुर्थध्यानमुपसंपद्य व्याहार्षम्, स्यात् स मार्गो बोधेर्जातिज-रामरणदुःखसमुदायानामसंभवायास्तंगमायेति ॥

—ल० वि० (वैद्य), पृ० १६३, पं ५-८

२. स तेभ्यो नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसहव्रतायै धर्मं देशयति स्म।

—वही, पृ० १८०, पं १, २

३. नैष मार्ष मार्गो निर्वृत्तये न विराणाय न निरोधाय नोपशमाय नाभिज्ञायै न संबोधये व श्रामणाय न ब्राह्मणाय न निर्वाणाय संवर्तते।

—वही, पृ० १८१, पं १, २

४. अमनस्क-योग के विवरण के लिए डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी द्वारा सम्पादित 'अमनस्कयोग' ग्रन्थ और उसकी भूमिका देखें।

५. यन्वहमास्फानकं ध्यानं ध्यायेयम्।···आस्फानकं ध्यानं ध्यायतो मुखतो नासिकातश्चाश्वासप्रश्वासा उपनिरुद्धावभूताम्।

—वही०, पृ० १८४, पं० १३, १४

प्रारम्भ से ही लगने लगता है, प्राणायाम से सिद्धि मिल जाती है। इस अवस्था में स्थूल एवं सूक्ष्म कल्पनाएं शारीरिक एवं मानसिक चंचलता, यहां तक की स्पन्दन क्रिया भी रुक जाती है। इस अवस्था में चित्त बिना किसी अवलम्ब के स्थिर हो जाता है।[1]

अमनस्क-योग साधना के एकमात्र उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थ 'अमनस्क-योग' में गुरु होने योग्य सिद्ध योगी के सम्बन्ध में यह स्थिति बताई गयी है कि इस अवस्था में पहुंचे हुए योगी की दृष्टि के प्राण बिना प्रयत्न के तथा चित्त बिना अवलम्बन के स्थिर हो जाता है।[2]

आसन—जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट साधना-पद्धति के अनेक अंगों का ललितविस्तर में विस्तार पूर्वक वर्णन हुआ है। पतञ्जलि-स्वीकृत तृतीय योगाङ्ग 'आसन' में से अन्यतम 'पर्यङ्कबन्ध' नामक आसन, जिसका योगसूत्र के भाष्यकार, व्यास ने बारह अन्य आसनों के साथ उल्लेख किया है, ललित विस्तर में अनेक बार चर्चा हुई है। बोधिसत्त्व जब भी प्राणायाम अथवा ध्यान के लिए बैठते हैं, तब पर्यङ्कबन्ध की स्थिति में ही बैठते हैं।[3] इसी प्रकरण में यह भी स्मरणीय है कि ललितविस्तर में बोधिसत्त्व को एक-एक सप्ताह पर्यन्त पर्यङ्कबन्ध में बैठा हुआ दिखाया है।[4]

---

१. केन कारणेनोच्यते आस्फानकमिति ? स चतुर्थध्यानमादित एव समापद्यमान आश्वासप्रश्वासानुपरोधयति संनिरोधयति अकल्पं तद् ध्यानमविकल्पमनिञ्जनमप्नीतमस्पन्दनं सवत्रानुगतम् च सर्वत्र चानिश्रितं।
—ल० वि० (वैद्य), पृ० १८३

२. दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यात्
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नात्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बात्
स एव योगी स गुरुः स सेव्यः॥ —अमनस्कयोग २.४५

३. (क) सप्ताहु धरणिमण्डे जिना न भिन्दन्ति पर्यङ्कम्॥
—ल० वि० (वैद्य), श्लोक १३००

(ख) पर्यङ्क माभुज्य उजु करित्व कायं
चत्वारि ध्यान शुभ ध्यापि स बोधिसत्त्व॥— वही, श्लोक ३२५

(ग) पर्यङ्कमाभुज्य तस्मिंस्तृणसंस्तरे न्यषीदत्।
वही, गद्यभाग, पृ० २१०, पं० १६

(घ) ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १२९४-१२९५-१२९६

४. वही, श्लोक १३००

इतना ही नहीं अपितु वे उस काल में स्मरण भी करते हैं कि मैंने अपनी पूर्ण सफलता, जरा-मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेने से पूर्व तक, पर्यङ्कबन्ध भंग न करने के कारण प्राप्त की यह उन्होंने घोषणा की थी।[1]

स्मरणीय है कि बोधिमण्डगमन परिवर्त्त में बोधिसत्त्व पूर्व-दिशा की ओर मुख करके पर्यङ्कबन्ध में सुस्थिर शरीर को सीधा रखते हुए बैठे थे और निश्चय किया था कि भले ही इस आसन पर मेरा शरीर सूख जाए। चर्म, हड्डी और मांस गल जाए, किन्तु मैं बोधि प्राप्त किये बिना इस आसन से हिलूंगा भी नहीं।[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि ललितविस्तर में पतञ्जलि के अष्टांग-योग में एक अंग आसन को अत्यन्त महत्त्व के साथ स्वीकार किया है।

यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि आसन के प्रसंग में भले ही हठयोग के ग्रन्थों में चौरासी अथवा चौरासी लाख आसनों की चर्चा की गयी हो किन्तु साधना की दृष्टि से कोई भी एक आसन सिद्ध कर लेना पर्याप्त है। उदाहरण के लिए हम दत्तात्रेय योगशास्त्र को देख सकते हैं, जहां स्पष्ट कहा गया है कि आसनों में अकेले पद्मासन का अभ्यास कर लेना ही पर्याप्त है।[3] समस्त प्राणायाम, प्रत्याहार आदि की साधना पद्मासन में ही संपन्न की जा सकती है। यह भी स्मरणीय है कि योगसूत्र के भाष्यकार व्यास ने केवल तेरह आसनों के नाम लिए हैं, पर्यङ्कबन्ध उनमें अन्यतम है।[4]

---

१. या भाषिता च वाग् मे मारस्येहागतस्य ससैन्यस्य।
भेत्स्यामि न पर्यङ्कं अप्राप्य जरामरणपारं॥
भिन्न मया ह्यविद्या दीप्तेन ज्ञानकठिनवज्रेण।
प्राप्तं च दशबलत्वं तस्मात् प्रभिनद्मि पर्यङ्कम्॥
—ल० वि० (शास्त्री) श्लोक १२९३, १२९४

२. इहासने शुष्यतु मे शरीरं, त्वमस्थिमांसं प्रलयं च यातु।
अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां, नैवासनात्कायमतश्चलिष्यते॥
—ल० वि० (वैद्य), परि १९ गद्यभाग पृ० २१०, श्लोक ५७

३. चतुरशीतिलक्षेषुआसनेशूत्तमंश्रृणु, आदिनानेन सम्प्रोक्तम्।
इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्॥
—दत्तात्रेय योगशास्त्र ६७-७६

४. स्थिरसुखमासनम्। यो० सू० २.४६ तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यङ्कं क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि॥
—व्यासभाष्य, पृ० २६९

प्राणायाम—साधना के क्रम में प्राणायाम साधना का भी बहुत अधिक महत्त्व है। पतञ्जलि ने इसे योग के चतुर्थ अंग के रूप में स्वीकार किया है।[१] दत्तात्रेय योगशास्त्र में इसे साधना की पृष्ठभूमि स्वीकार करते हुए कहा गया है कि इसमें सफलता मिलने के बाद ही, प्रत्याहार, धारणा आदि साधनाएँ सम्पन्न होती हैं।[२] और इसकी साधना करके साधक को जीवन्मुक्त होना स्वीकार किया है।[३]

ललितविस्तर में प्राणायाम अथवा उसके किसी प्रकार के भेद का नाम लिये बिना ही प्राणायाम साधना की स्थिति का, उसके परिणामों का बहुत आदर पूर्वक उल्लेख प्राप्त होता है। एक स्थान पर दुष्करचर्या-परिवर्त्त में बोधिसत्त्व की तपश्चर्या के प्रकरण में आस्फानक ध्यान के लिए, पर्यङ्कबन्ध में विराजमान बोधिसत्त्व के शरीर से हेमन्त की आठ रात्रियों में निरन्तर स्वेद-प्रवाह की चर्चा हुई है। उस समय उनके दोनों बाहुमूलों से भी पसीना टपकता था, माथे से भी पसीना टपकता था, वह भूमि पर इस प्रकार गिर रहा था, मानो ओस पड़ रही हो।[४] स्वेद के प्रवाह को प्राणायाम की साधना के क्रम में पहली सिद्धि के रूप में स्वीकार किया जाता है।[५]

साधना के इसी क्रम में ललितविस्तरकार ने अग्रिम स्थिति में श्वास-प्रश्वास के पूर्णरूप से रुक जाने की चर्चा की है।[६] प्राणायाम साधना की एक स्थिति होती है। प्राणों का कुण्डलिनी का जागृत होना और सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट होकर, प्राणों का सहस्रार चक्र अर्थात् चेतना के मूलकेन्द्र मस्तिष्क तक पहुँच जाना—इस क्रम में भ्रूमध्य से ऊपर वायु का पहुँचना और वहां कुछ काल (पांच घटी पर्यन्त) धारण करने को आकाश-धारणा कहा जाता है।[७]

बोधिसत्त्व भी जब इस प्रकार दुष्कर साधना में लगे थे तथा ललितविस्तर

---

१. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
—योगसूत्र, २.२९

२. द० यो० २१९-२२१

३. वायु निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद् ध्रुवम्। —वही, २४६

४. ल० वि०, पृ० १८४, पं० ८-१२

५. 'प्रस्वेदो जायते पूर्वम्' दत्ता यो० १४८

६. ल० वि०, पृ० १८४, पं० १४-१७

७. भ्रूमध्यादुपरिष्टात्तु धारयेत्पञ्चनाडिका:, वायुं योगी प्रयत्नेन सेयमाकाश-धारणा॥ —दत्तात्रेय योगशास्त्र, २३५-२३६

कार के अनुसार 'मुख और नासिका से श्वास-प्रश्वास का निरोध हो जाने पर, वायु सिर के कपाल पर ठोकर मारती थी, जैसे कोई व्यक्ति कुण्ठित बरछी से सिर के कपाल पर ठोकर दे रहा हो ।[1] इन उपर्युक्त विवरणों को देखकर, यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि ललितविस्तर के अनुसार योगदर्शन में वर्णित प्राणायाम साधना को बहुत महत्त्व के साथ, उस काल में स्वीकार किया गया है।

यह भी स्मरणीय है कि जिस प्रकार पतञ्जलि एवं दत्तात्रेय के अनुसार, प्राणायाम साधना के माध्यम से ही धारणा ध्यान, और समाधि को साधना में सिद्धि मिलती है ।[2] ललितविस्तर में भी उसी प्रकार उपर्युक्त प्राणायाम की चर्चा आस्फानक नामक ध्यान की साधना के क्रम में, उसकी पूर्वपीठिका के रूप में ही स्वीकार की गयी है ।

पतञ्जलि के योगसूत्र में प्राणायाम साधना को, धारणा आदि की सिद्धि के लिए सोपान के रूप में स्वीकार किया है, इसकी चर्चा ऊपर की पंक्तियों में की गयी है । वहां पर धारणा, ध्यान और समाधि की समष्टि को अन्तरङ्ग साधना के रूप में विशेष महत्त्व दिया गया है ।[3] इसका तात्पर्य यह है कि साधक परम्परा में इन तीनों को एक समष्टि के रूप में ही देखा गया है । यही कारण है इस साधना के क्रम में, धारणा और समाधि के मध्यवर्ती ध्यान शब्द का प्रयोग प्रायः इन तीनों की समष्टि के लिए परवर्ती काल में होने लगा है । वर्तमान काल में भी सम्भवतः इसी कारण धारणा एवं समाधि के अभ्यास की बात न करके ध्यान के अभ्यास की बात की जाती है, यद्यपि यहां ध्यान पद से अभीष्ट तीनों की समष्टि का बोध होता ही रहता है । अन्यथा चित्त के स्थिरीकरण रूप धारणा के बिना चित्त की प्रत्यैकतानता रूप ध्यान का हो सकना संभव नहीं है ।[4] अतः साधना के क्रम में तीन में से किसी एक के नाम का उल्लेख होने पर,

---

१. ल० वि०, पृ० १८४, पं १६-२१

२. (क) ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् धारणासु च योग्यता मनसः ।

—योगसूत्र २.५२-५३

(ख) समभ्यसेत्तदा ध्यानं घटिकाः षष्ठिमेव च ।
वायुं निरुध्य ध्यायेत्तु देवतामिष्टदायिनीम् ।।

—दत्ता० यो० शा० २४३-२४४

३. त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः । यो० सू० ३,४

४. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा, तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम् ।

—यो० सू० ३.१-२

योग की अन्तरङ्ग साधना के क्रम में तीन में से किसी एक के नाम का उल्लेख होने पर, योग की अन्तरङ्ग साधना के तीनों अंगों की समष्टि की साधना समझना चाहिए। इनमें धारणा में सरूप ध्यान किया जाता है और ध्यान में अरूप ध्यान अतः जहां सरूप ध्यान का कथन हो वहीं धारणा समझनी चाहिए। षडङ्गयोग में पांचवां अंग ध्यान है। बौद्ध दर्शन के अनुसार ध्यान चार प्रकार का होता है। आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन आकिचन्यायतन और नैवसंज्ञाना-संज्ञायतन। पतञ्जलि ने ध्यान का कोई विभाजन नहीं किया है।

ललितविस्तर में ध्यान के नाम से इस अन्तरङ्ग योग-साधना की चर्चा की गयी है। ध्यान के प्रकारों में आस्फानक ध्यान का उल्लेख अनेक बार हुआ है। योग-दर्शन में ध्यान की अथवा समस्त अष्टांग-योग की साधना का उद्देश्य कैवल्य की प्राप्ति स्वीकार किया गया है।[1] बौद्धदर्शन की ध्यान साधना की समस्त प्रवृत्ति का उद्देश्य भी समस्त सांसारिक दुःखों से निवृत्ति स्वीकार किया गया है, और उसकी उपलब्धि को निर्वाण के नाम से अन्तिम पुरुषार्थ माना गया है। किन्तु ललितविस्तर में ध्यान के प्रयोजन के रूप में निर्वाण अर्थात् जरा-मरण आदि दुःखों की निवृत्ति ही नहीं, कभी-कभी अत्यन्त तुच्छ लौकिक फल भी माना गया है। ललितविस्तर का लेखक एक स्थान पर बोधिसत्त्व द्वारा किये जा रहे ध्यान-साधना का प्रयोजन 'लोक को आश्चर्यान्वित करना, तीर्थिकों के घमण्ड को चूर करना, पर-पक्ष के प्रवासियों को परास्त करना और देवताओं को अपनी ओर आकृष्ट करना या झुकाना' आदि स्वीकार करता है।[2]

इसी प्रकरण में लौकिक प्रशस्त कर्म का सम्पादन कर सकना भी ध्यान-साधना का उद्देश्य है, ऐसा लेखक स्वीकार करता है। इन प्रयोजनों में जिन प्राणियों की कर्म-भावना नष्ट हो गयी है, उन्हें कर्म में प्रेरित कर सकना, पुण्य-फल को उत्पन्न करना, ज्ञान का फल प्रदर्शित करना, ध्यान के अंगों को विभक्त करना, शारीरिक बल की स्थिरता का प्रदर्शन करना, चित्तशूरता को उत्पन्न करना आदि भी ध्यान-साधना के फल के रूप में कवि स्वीकार करता

---

१. 'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धि-साम्ये कैवल्यम्'। —यो० सू० ३.५५

२. बोधिसत्त्वो लोकस्याश्चर्यसंदर्शनार्थं तीर्थिकानां च दर्पनिर्घातनार्थं परप्रवादिनां च निग्रहार्थं देवानां चावर्जनार्थम्······कायबलस्थामसंदर्शनार्थं चित्तशौर्य-संजननार्थम् च-असंस्कृतायां पृथिव्यां पर्यङ्कमाभुज्य निषीदति स्म ॥

—ल० वि० (वैद्य), पृ० १८४, पं ३,४ एवं ६

है।[1] यद्यपि ललितविस्तर के लेखक के अनुसार जब बोधिसत्त्व ध्यानस्थ थे, तब अन्य दर्शक यही सोच रहे थे कि—'ये अपने हित के लिए ध्यान नहीं कर रहे हैं, ध्यान का रस चखने के लिए ध्यान नहीं कर रहे हैं, सुख के भाव से ध्यान नहीं कर रहे हैं, बल्कि दूसरों पर कृपा भाव से, लोकहित करना है, इसलिए ध्यान कर रहे हैं।'[2]

ललितविस्तरकार के अनुसार ध्यान-साधना के क्रम में साधक में इतनी शारीरिक, मानसिक एवं चेतना संबंधी स्थिरता आ जाती है कि उसके शरीर के प्रति अन्य लोग चाहे जैसी क्रिया करें। उसे सताने के लिए उस पर कुछ भी फेंकते रहें, साधक को उसका पता ही नहीं चलता, वह शरीर से इतना स्थिर हो जाता है कि वह न श्वास-प्रश्वास क्रिया करता है और न सर्दी-गर्मी का अनुभव करता है।[3] वह न हिलता-डुलता है और न चलता-फिरता है।[4] न मलमूत्र

---

१. (क) कर्मक्रियाप्रणष्टानां कर्मक्रियावतारणार्थं पुण्यफलोद्भावनार्थं ज्ञानफल-संदर्शनार्थं ध्यानाङ्गविभजनार्थं कायबलस्थामसंदर्शनार्थं चित्तशौर्य-संजननार्थं··· । —ल०वि० (वैद्य), पृ० १८४, पं० ४-६

(ख) निहताः परप्रवादा ध्यामीकृत तीर्थिका मतिविहीनाः कर्मक्रिया च दर्शित या प्रोक्ता काश्यपे वाचा ॥

—ल० वि० वैद्य, श्लोक ८१८

२. न केवलमात्मार्थं न ध्यानस्वादनान्न सुखबुद्धया ।
अन्यत्र करुणबुद्धया करिष्यत्यर्थं विपुल लोके ॥

—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ८१७

३. (क) कल्पं नो न विकल्पं न चेञ्जनं, नापि मन्येन प्रचारं ।
आकाशधातुस्फरणं ध्यायत्यास्फानकं ध्यानं ॥

—वही, ८०७

(ख) न च आतपातु धायां छायाया नातापं गतश्चासौ ।
मेकरिव निष्प्रकम्प्यो ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ॥

—वही, ८०८

(ग) न च वातवृष्टिच्छदनं न दंशयशकासरीसृपा त्राणं ।
अविकोपितया चर्या ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ॥

—वही, ८०९

४. असुचीना च किरन्ते विविधास्ते कारणाश्च कारेन्ति ।
न च इञ्जते भ्रमति वा ध्यायत्यास्फानकं ध्यानम् ॥

—वही, ८१२

का विसर्जन करता है, न शब्दों को सुनकर चौंकता या डरता है, न दूसरों को देखता है।[1] तपश्चर्या के क्रम में उसके शरीर का मांस सूख जाता है केवल चर्मस्नायु और हड्डियां शेष रह जाती हैं। रीढ़ की हड्डी वेणी की भाँति प्रतीत होती है, तब भी वह कष्ट का अनुभव नहीं करता।[2]

ध्यान साधना (योग साधना) यद्यपि साधक की अपनी साधना है। अपने समस्त (त्रिविध) दुःखों से निवृत्ति के लिए की जाने वाली साधना है तथापि दर्शक समाज पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। वे न केवल साधक के प्रति आदर भाव रखते हैं उसकी पूजा करते हैं बल्कि वे यह भी संकल्प करने लगते हैं कि वे भी उसी प्रकार हो जाएं, अर्थात् साधना में प्रवृत्त होकर क्रमशः आगे बढ़ें।

ललितविस्तर में एक स्थल पर आस्फानक ध्यान क्या है ? यह प्रश्न उठाकर समाधान के रूप में कहा गया कि इसमें श्वास-प्रश्वास का पूर्ण निरोध होता है। इसमें स्थूल अथवा सूक्ष्म किसी प्रकार की न कल्पना होती है, न इंजना अर्थात् चंचलता, न किसी प्रकार की चित्त की क्रिया, न किसी प्रकार का स्पन्दन। यह ध्यान बिना किसी आलम्बन के सर्वव्यापक होता है। आस्फानक शब्द का अर्थ है स्थूल भावरहित अस्फरण अर्थात् फड़कन रहित, अकरण अर्थात् क्रिया रहित, अविकरण अर्थात् विकार रहित। स्फरण अर्थात् आकाश के समान व्यापक होने से यह इसकी अन्वर्थ संज्ञा है।[3]

---

१. न च नमति नो विनमते न काय परिरक्षणा स्पृशति।
किं चिन्तोच्चारप्रसवंशब्देषु न संत्रसी न परप्रेक्षी॥
—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ८१३

२. संशुष्क मांसरुधिरं चर्मस्नाय्वस्थिकाश्च अवशिष्टा।
उदाराच्च पृष्ठिवंशो विदृश्यते वर्तिता यथा वेणी॥
—वही, ८१४

३. केन कारणेनोच्यते आस्फानकमिति ? स चतुर्थध्यानमादित एव समापद्यमान आश्वासप्रश्वासानुरोधयति संनिरोधयति। अकल्पं तद् ध्यानमविकल्पमनिञ्जनमपनीतमस्पन्दनं सर्वत्रानुगतं च सर्वत्र चानिश्रितम्। न च तद् ध्यानं जातु केनचित्समापन्नं पूर्वं शैक्ष्येण वा अशैक्ष्येण वा प्रत्येक बुद्धेन वा चर्याप्रतिपन्नेन वा बोधिसत्त्वेन। अतश्चास्फानकं नामोच्यते। आकाशमस्फरणमकरणमविकरणं तच्च सर्वं स्फरतीति ह्याकाशसमं तद् ध्यानम्। तेनोच्यते आस्फानकमिति।
—ल० वि० (वैद्य), पृ० १८३ पं० २५—२७, पृ० १८४ पं० १.२

साधना के क्रम में चित्त की वृत्तियों का निरोध होने पर, चित्त की स्थितियों को योगदर्शन की पारिभाषिक भाषा में समापत्ति कहा गया है। पतञ्जलि ने इसका 'तदस्थतदञ्जनता' शब्द से परिचय दिया है।[1] उनके अनुसार समापत्ति सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, निर्विचारा आदि भेदों से अनेक प्रकार की हो सकती है।[2] थोड़ा भेद होते हुए भी इन समापत्तियों को समाधि के समानान्तर माना जा सकता है। ये समापत्तियां अथवा समाधि की स्थिति विशेष साधक की सिद्धियां हैं। पतञ्जलि के अनुसार ये सिद्धियां कुछ लोगों को पूर्व जन्म की साधना के फलस्वरूप जन्म से ही प्राप्त होती हैं।[3] जबकि अन्य साधकों को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति एवं समाधिप्रज्ञा (विवेकख्याति) के कारण प्राप्त होती हैं।

ललितविस्तर के अनुसार रामपुत्र रुद्रक ने 'नैवसंज्ञानासंज्ञानायतन' समापत्ति के मार्ग का साक्षात्कार किया था। बोधिसत्त्व भी पुण्यविशेष तथा पूर्वजन्म के सुचरित के प्रभाव से सभी समाधियों के ज्ञाता थे। चित्त के वशीभूत होने के कारण, ध्यान प्रधान सभी लौकिक और अलौकिक समापत्तियों का, उनके भेद-प्रभेदों का अनुभव करते थे।[4] किन्तु बोधिसत्त्व के अनुसार इन समापत्तियों का साक्षात्कार होने से निर्वृत्ति, वैराग्य, निरोध, उपशम, अभिज्ञा, संबोधि इत्यादि फल प्राप्त नहीं होते और न उससे निर्वाण की ही प्राप्ति हो पाती है।[5] अतः बोधिसत्त्व इन लौकिक समापत्तियों को न केवल निरर्थक मानते हैं बल्कि निस्सार भी स्वीकार करते हैं। इस निस्सारता को प्रकट करने के उद्देश्य से ही उन्होंने रुद्रक रामपुत्र का शिष्यत्त्व ग्रहण किया था।[6]

समाधि—ललितविस्तर में साधना के क्रम में समाधि को सर्वाधिक उन्नत स्थान दिया गया है। ग्रन्थकार के अनुसार समाधि के अनेक प्रकार हैं। यद्यपि उन अनेक प्रकार की समाधियों का स्वरूप क्या है? इस प्रसंग में ग्रन्थकार प्रायः मौन है। समाधि के उन प्रकारों के नामों से भले ही उनके स्वरूप की

---

१. यो० सू० १.४१

२. वही, १.४२, ४३, ४४

३. भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।' —वही, १.१९

४. ल० वि० (वैद्य), पृ० १८०, पं १५-२०

५. बोधिसत्त्व आह-नैष मार्ष मार्गो निर्वृत्तये न विरागाय न निरोधाय नोपशमाय नाभिज्ञायै न संबोधये न श्रामणाय न ब्राह्मणाय न निर्वाणाय सवर्तते ॥ —वही, पृ० १८१, पं० १,२

६. वही, पृ० १८०, पं० ८-१०

कुछ कल्पना की जा सके। इतना अवश्य है कि ग्रन्थकार के अनुसार समाधि चित्त की एकाग्रता की स्थिति है। इसीलिए सिद्धार्थ तथागत के बुद्धालंकार व्यूह समाधि में स्थिर होने पर, उनके कपाल-तल से निष्क्रान्त ज्योति के प्रभाव से महेश्वर आदि सभी देवपुत्र समाधिस्थ हो गये, ऐसा ललितविस्तरकार स्वीकार करते हैं।[1]

ग्रन्थकार के अनुसार समाधि के कितने प्रकार हैं यह भी स्पष्टतः नहीं कहा जा सकता, किन्तु वे प्रसंगतः तेरह समाधि के नामों का परिगणन करते हैं। इन तेरह नामों में वे दस नाम तो एक ही प्रसंग में गिनाते हैं, जिन समाधि की अवस्थाओं को प्राप्त करके तथागत जरा, मरण आदि समस्त दुःखों से मुक्त हो सके थे।[2] इस एक ही प्रकरण में गिनायी गई समाधि के निम्नलिखित प्रकार हैं, स्मृतिविमल समाधि,[3] अशुभ समाधि,[4] अप्रणिहित समाधि,[5] शून्यता समाधि[6] अनिमित्त समाधि,[7] ज्ञान गुण समाधि,[8] विमोक्षसमाधि,[9]

---

१. ल० वि०, (वैद्य) पृ० ३

२. सर्वभवबन्धनानि च मुक्तानि मयेह तानि सर्वाणि।
प्रज्ञाबलेन निखिला त्रिविधमिह विमोक्षमागम्य ॥
—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १२७२

३. इह मे हतो ह्यशेषश्चित्तचरिरिपुर्भवानुगतवैरी।
प्रज्ञासिना बलवता स्मृतिविमलसमाधिमागम्य ॥ —वही, श्लोक १२६६

४. इह पञ्चगुणसमृद्धाः षडिन्द्रियहया सद मदोन्मत्ताः।
बद्धा मया ह्यशेषाः समाधिमशुभं समागम्य ॥ —वही, श्लोक १२६८

५. इह अनुनयप्रतिघानां कलहविवाद-प्रहाण-पर्यन्तः।
प्राप्तो मया ह्यशेषो अप्रणिहित-समाधिमागम्य ॥
—वही, श्लोक १२६९

६. इह ममियता च सर्वे आध्यात्मिक बाहिरा परिक्षीणा।
कल्पितविकल्पितानि च शून्यमिति समाधिमागम्य ॥ —वही, श्लोक १२७०

७. इह लालयिता सर्वे मर्त्या दिव्या भवाग्रपर्यन्ताः।
त्यक्ता मया ह्यशेषा आगम्य समाधिम् अनिमित्तं ॥ —वही, श्लोक १२७१

८. इह रुदितक्रन्दितानां शोचितपरिदेवतान पर्यन्तं।
प्राप्तं मया ह्यशेषं ज्ञानगुणसमाधिमागम्य ॥ —वही, श्लोक १२५६

९. सर्वभवबन्धनानि च मुक्तानि मयेह तानि सर्वाणि।
प्रज्ञाबलेन निखिला त्रिविधमिह विमोक्षमागम्य ॥
—वही, श्लोक १२७२

ध्यानसमाधि,[1] सत्यनयसमाधि,[2] अनिवर्त्तसमाधि[3]। इनके अतिरिक्त अन्य प्रसंगों में वे एक स्थान पर प्रीत्याहार व्यूहसमाधि,[4] ललितव्यूह-समाधि[5] महाव्यूह समाधि,[6] अलंकारव्यूह[7] नामक समाधियों की चर्चा करते हैं। इन समाधियों का उसकी दृष्टि से क्या स्वरूप है इस विषय में ललितविस्तरकार सर्वथा मौन है।

इन समाधियों में स्तर-भेद के क्रम का निर्धारण करना भी सहज नहीं है। क्योंकि वह बुद्धालंकार व्यूहसमाधि की चर्चा प्रथम परिवर्त्त में करता है और वहां-वहां उनके ऊपर मूर्धा से ज्योति निकली, जिससे कुछ गाथाएं प्रगट हो रही थीं, इस कथन के अतिरिक्त कोई चर्चा नहीं करता।[8] लेखक महाव्यूह-समाधि का उल्लेख गर्भावक्रान्ति परिवर्त्त में करता है। उसके अनुसार बोधिसत्त्व की इस महाव्यूह-समाधि के प्रभाव (अनुभाव) से भिन्न-भिन्न ग्रहों में माया देवी का दर्शन लोगों को हो रहा था।[9] इन दोनों स्थलों में ये समाधियां मानों

---

१. इह हेतुदर्शनाद् वै जिता मया हेतुकास्त्रयः।
संज्ञा नित्यानित्ये संज्ञा सुख-दुःख चाऽऽत्मनात्मनि च॥
—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १२७३

२. ओघा च योगग्रन्थाः शौकाशल्या मद प्रमादाश्च।
विजिता मयेह सर्वे सत्यनयसमाधिमागम्य॥
—वही, श्लोक १२५७

३. इह लालयिता सर्वे मर्त्या दिव्या भवाग्रपर्यन्ताः।
त्यक्ता मया ह्यशेषा आगम्य समाधिमनिवर्तम्॥
—ल० वि० (वैद्य), परि० २४ श्लोक ४३

४. ध्यानप्रीत्याहारः सुखप्रतिसंवेदी सप्तरात्रं बोधिवृक्षमूलेऽभिनामयति स्म।
—वही, (परि० २४, पृ० २६९

५. ललितव्यूहस्थ बोधिसत्त्वसमाधेरनुभावेन…।
—वही, परि० १९, पृ० २१०

६. बोधिसत्त्वो महासत्त्वो महाव्यूहस्य समाधेरनुभावेन।
—वही, परि० ६, पृ० ४६

७. इमं बुद्धालंकारव्यूहं नाम समाधिमथ…।
—वही, परि० I, पृ० २

८. वही, परि० I पृ० २

९. वही, परि० ६, पृ० ४६

चमत्कार प्रगट करने के लिए ही निबद्ध की गयी हैं, साधना के क्रम में नहीं। ग्रन्थकार बोधिमण्डगमन परिवर्त्त में ललितव्यूह नामक समाधि की चर्चा करता है इसे वह बोधिसमाधि अथवा बोधिसत्त्वसमाधि कहता है। ग्रन्थकार के अनुसार इस समाधि में बैठते ही अनेक प्रकार से प्रगट हुए शुभलक्षणों वाले शरीर से बोधिसत्त्व अनेक बोधिवृक्षों के नीचे (सर्वेषु च तेषु बोधिवृक्षमूलेषु), सिंहासनों पर विराजमान दिखाई पड़ रहे थे। इस प्रकार ग्रन्थकार इस समाधि के साथ भी अलौकिक चमत्कार का ही वर्णन करता है।[1]

बोधिसत्त्व तपश्चर्या के अनन्तर जब नेत्र खोलते हुए अनिमेष नयन एक आसन पर ही बैठे रहे, तब समन्त कुसुम नामक देवपुत्र तथागत के चरणों में प्रणाम कर उनसे ही पूछता है कि यह कौन-सी समाधि है? जिसमें इस प्रकार आप एक सप्ताह बैठे रहे; और तथागत ने उसे प्रीत्याहारव्यूह नामक समाधि है, ऐसा बताया है। इस प्रसंग में ग्रन्थकार इस समाधि में व्यक्ति की मनः स्थिति की कल्पना करके समाधि के स्वरूप का निर्धारण करता है। यह स्थिति कुछ इस प्रकार हो सकती है। जब व्यक्ति सो कर जागता है और अभी उसके चित्त में तृप्ति-सुख के अतिरिक्त भावना की कोई अन्य तरङ्गें विद्यमान ही न हों। अमनस्कयोग में इस भावना रहित स्थिति की मन के विषय में उपमा देते हुए, इसे योग की एक विशेष प्रशस्त स्थिति स्वीकार किया गया है।[2] यह स्थिति निद्रा के पूर्व और पश्चात् दोनों ही स्थितियों में एक समान रहा करती है।[3] डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी के अनुसार इस अवस्था में चित्त विषयों की सन्निधि में रहकर भी उनसे सर्वथा असम्पृक्त रहता है।[4]

---

१. बोधिसत्त्वश्च ललितव्यूहं नाम समाधिं समापद्यते स्म। समनन्तर समापन्नस्य च बोधिसत्त्वस्येमं ललितव्यूहं नाम बोधिसत्त्वसमाधिम्, अथ तत्क्षणमेव बोधिसत्त्वः सर्वेषु च तेषु बोधिवृक्षमूलेषु सिंहासने संनिषण्णः···संदृश्यते स्म। —ल० वि० (वैद्य), परि० १९, पृ० २१०

२. यथा सुप्तोत्थितः कश्चिद् विषयान्प्रतिपद्यते।
जाग्रत्येव तथा योगी योग निद्रा-क्षणे तथा॥ —अमनस्कयोग २.६६

३. निद्रादौ जागरस्यान्ते यो भाव उपजायते।
तं भावं भावयन् योगी निश्चितं मुक्त एव स॥ —वही, २.६५

४. जिस प्रकार सो कर उठा हुआ कोई व्यक्ति विषयों के प्रति सर्वथा असम्पृक्त रहकर ही उनका साक्षात्कार करता है···उसी प्रकार योगी भी विषयों के प्रति असम्पृक्त रहकर जागता है। —वही,

अन्य समाधियों के प्रसङ्ग में ग्रन्थकार, उनको प्राप्त कर, प्राप्त हुए फल की ही एक क्रम से चर्चा करते हैं। स्वरूप के सम्बन्ध में कोई सूत्र नहीं देते। त्रपुषभल्लिक परिवर्त्त में इन समाधियों का फल सहित वर्णन इस प्रकार हुआ है कि इन स्थितियों को वोधिसत्त्व ने क्रमशः प्राप्त किया है। ग्रन्थकार के अनुसार सर्वप्रथम प्राप्त ज्ञानगुण समाधि से वोधिसत्त्व रुदित-क्रन्दित अवस्थाओं को पार कर सके थे। द्वितीय सत्यनय समाधि से उन्होंने योग के विघ्नों तथा शोक, मद और प्रमाद आदि मनोभावों पर विजय प्राप्त की थी। इस स्थिति में पहुंचने पर उन्हें विशिष्ट ज्ञान प्राप्त हुआ था, जिससे उन्होंने विविध बाधाओं को पार किया था। इस क्रम में तृतीय समाधि स्मृति-विमल समाधि है, जिसे प्राप्त कर वे चित्त में विचरने वाले, जन्म-मृत्यु के हेतुभूत भाव रूपी रिपुओं पर विजयी हुए।[1] ललितविस्तर में इस क्रम में वर्णित चतुर्थ समाधि सशुभ समाधि है, जिसे प्राप्त कर बोधिसत्त्व इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर सके थे।[2] यहाँ वर्णित पंचम समाधि अप्रतिहत समाधि है, जिसे प्राप्त कर बोधिसत्त्व कलह, विवाद, अनुनय आदि से, दूसरे शब्दों में राग-द्वेष से मुक्त हो सके थे।[3] ललितविस्तर के अनुसार छठी समाधि शून्य समाधि है, जिसे प्राप्त करके बोधिसत्त्व समस्त आन्तरिक और बाह्य ममत्व और सभी संकल्प-विकल्पों से मुक्त हो सके थे।[4] सप्तम समाधि अनिवर्त्त समाधि है जिसे सिद्ध करके वे लोक और परलोक दोनों की लालसाओं से मुक्त हुए थे।[5] विमोक्ष समाधि अष्टम

---

१. इह मे हतो ह्यशेषश्चित्तचरिरिपुर्भवानुगतवैरी।
प्रज्ञासिना बलवता स्मृतिविमलसमाधिमागम्य॥
—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १२६६

२. इह पञ्चगुणसमृद्धाः षडिन्द्रियहयाः सदा मदोन्मत्ताः।
बद्धा मया ह्यशेषाः समाधिमशुभं समागम्य॥
—ल० वि० (वैद्य), परि० २४, श्लोक ४०

३. इह अनुनयप्रतिघानां कलह-विवाद-प्रहाण-पर्यन्तः।
प्राप्तो मया ह्यशेषो अप्रतिहतसमाधिमागम्य॥ —वही, परि० २४ श्लोक ४१

४. इह ममिपिता च सर्वे आध्यात्मिकबाहिरा-परिक्षीणा।
कल्पितविकल्पितानि च शून्यमिति समाधिमागम्य॥
—वही, परि० २४, श्लोक ४२

५. इह ममियता च सर्वे आध्यात्मिक बाहिरा परिक्षीणा।
कल्पितविकल्पितानि च शून्यमिति समाधिमागम्य॥
—वही, ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १२७०

समाधि प्रकार है जिसके सिद्ध होने पर समस्त भव-बन्धनों से मुक्ति मिला करती है।

गोपीनाथ कविराज के अनुसार प्रज्ञोपाय समापत्ति द्वारा समस्त भावों का, समाहार करके पिण्डयोग से बिम्ब के भीतर भावना करना, बौद्ध-परम्परा में स्वीकृत समाधि है। इस भावना के द्वारा महाज्ञान की निष्पत्ति होती है। उनके अनुसार समाधि साधना में निष्पन्नादि क्रम से व्योम कमल का उद्गम होने पर अक्षर सुख का उदय होता है। ज्ञेय और ज्ञान के एकत्वभाव के उदय होने पर विमल अवस्था का आविर्भाव होता है। उस समय प्रतिभास स्वरूप स्थावर-जंगम पर्यन्त भावो को उपसंहृत करना होता है, अर्थात् इन भावों को संकुचित करके पिण्डयोग से अर्थात् परम अनास्रव महासुखात्मक प्रभास्वर रूप से बिम्ब के भीतर भावना की जाती है। फलतः जिस प्रकार बुभुक्षित व्यक्ति लोह आदि सब रसों का भक्षण करके स्वयं एकमात्र अवस्थित रहता है, उसी प्रकार इस समाधि की स्थिति में सभी भाव उपसंहृत हो जाते हैं, केवल परम अनाश्रव महासुखमय प्रभास्वर के अन्तर्गत संवृति सत्य रूप बिम्ब की भावना ही शेष रह जाती है। इस प्रकार की भावना से या साक्षात्कार के फलस्वरूप परम महाज्ञान का आविर्भाव होता है। इसमें संवृतिसत्य तथा परमार्थसत्य का द्वैत छूट जाता है, दोनों ही अद्वयरूप से प्रकाशित होते हैं। यह अद्वयभाव ही बुद्ध का परम स्वरूप है तथा प्रत्येक आत्मा का परम स्वरूप है।[1] एक स्थल पर वे बौद्ध परम्परा के अनुसार "दस प्रकार की वायुओं के निरोध से समाधि भी दस प्रकार की है। समाधि से ज्ञेय तथा ज्ञान के मध्य अभेद होने पर अक्षर सुख का उदय होता है और उसी से ज्ञान-बिम्ब में पूर्ण समाधान होता है।[2]

म० म० डा० गोपीनाथ कविराज ने ज्ञेय और ज्ञान के एकत्त्वभाव के उदय होने पर जिस विमल अवस्था का संकेत किया है संभवतः वह अवस्था ही ललितविस्तर में ज्ञानविमल समाधि के नाम से स्मरण की गयी है। ललित विस्तर के अनुसार यह समाधि ही प्रथम अवस्था है, उसके ऊपर सात अथवा दस अन्य अवस्थाएं और हैं।

अन्तराय (विघ्न)

संस्कृत भाषा में एक आभाणक सुविदित है 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' अर्थात् प्रत्येक श्रेष्ठ और प्रशक्त-कार्य को संपन्न करने में अनेक अन्तराय (विघ्न)

---

१. बौद्धधर्म दर्शन की भूमिका, पृ० ३६

२. वही, पृ० ४०

उपस्थित हुआ करते हैं। योगदर्शन में पतञ्जलि ने—'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादाऽऽलस्याऽविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वाऽनवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।'[1] चित्तविक्षेप को साधना में सफलता प्राप्त करने में अन्तराय स्वीकार किया गया है। उनके अनुसार रोग, शैथिल्य, संशय, प्रमाद, आलस्य, साधना में विराम, भ्रान्त उपलब्धियां तथा अभीष्ट की प्राप्ति न होना अथवा प्राप्ति होकर भी उसका स्थिर न रहना मुख्य चित्तविक्षेप हैं, और साधना में विघ्न हैं।

कठोपनिषद् में आत्मविद्या के अभिलाषी नचिकेता के समक्ष यम ने प्रलोभन रखे—

शतायुष पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शारदो यावदिच्छसि॥
ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमाः रामाः सरथा सतूर्याः नहीदृशाः लम्भीयाः मनुष्यैः॥
आभिर्मत्प्रदत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥[2]

इन मन्त्रों में नचिकेता के समक्ष दीर्घजीवी पुत्र-पौत्र, हाथी, घोड़े, स्वर्णराशि, विशाल साम्राज्य, स्वयं का इच्छानुसार दीर्घजीवन, सर्वसाधन संपन्न सुन्दरी परिचारिकाएं प्रदान करने का प्रलोभन देते हुए, स्पष्टतः कहा है कि हे नचिकेता, तुम मृत्युविद्या, अर्थात् आत्मविद्या के प्रसंग में प्रश्न मत करो। तात्पर्य यह है, कि किसी भी महान् प्रशस्त उद्देश्य से साधना में लगे हुए, साधक के समक्ष प्रलोभन बहुत बड़े विघ्न के रूप में उपस्थित हुआ करते हैं। यह प्रलोभन अनेक प्रकार के हो सकते हैं। इन्हें हम निम्नलिखित वर्गों में रख सकते हैं—(१) पुत्रपौत्र आदि आत्मीय जनों की प्राप्ति (२) हाथी, घोड़े, स्वर्ण-राशि, हीरे जवाहरात रूपी रत्न-राशि आदि संपत्ति, (३) भूमि मंडल का साम्राज्य (४) दीर्घ-जीवन (५) मनोकामनाओं की पूर्ति, (६) साधन संपन्न सुन्दर रमणियां। कठोपनिषद् में वर्णित इन प्रलोभनों में उत्तरोत्तर प्रत्येक में आकर्षण बढ़ता चला जाता है और वह चित्त में अधिक विक्षेप उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से प्रत्येक उत्तरवर्ती पूर्व की अपेक्षा अधिक बलवान है। साधन संपन्न सुन्दरी रमणियां सबसे बड़ा विघ्न हैं, यह कहा जा सकता है।

ललितविस्तर में सम्यक् संबोधि प्राप्त करने के लिए कृतसंकल्प तथागत के समक्ष सर्वप्रथम सुन्दरी रमणियां ही अन्तराय के रूप में उपस्थित होती हैं।

---

१. योगसूत्र १.३०

२. कठोपनिषद्

इस प्रकार कठ-उपनिषद् में वर्णित विघ्नों में चरम विघ्न सर्वप्रथम ही साक्षात् उपस्थित होता है। सम्बोधि प्राप्त करने की कामना से जब तथागत बोधिमण्ड के नीचे जाते हैं, तब काम अपनी पूरी सेना के साथ अन्तराय के रूप में उनके समक्ष उपस्थित होता है।

इस प्रसंग में वह सर्वप्रथम अपनी पुत्रियों को ही आदेश देता है कि 'जाओ बोधिमण्ड पर पहुँचकर पहले यह पता करो कि वह बोधिसत्त्व सराग हैं अथवा वीतराग, वह मूक है अथवा प्रज्ञावान्, वह अंधा है अथवा देश-काल को समझने वाला तथा प्रयोजन को समझनेवाला है। दीन है अथवा धीर।'[1] मार का यह आदेश प्राप्त करके मार की कन्याएं उनके पास पहुँचकर स्त्रीमाया का प्रदर्शन प्रारम्भ करती हैं। ग्रन्थकार के अनुसार स्त्रीमाया बत्तीस प्रकार की है। उसने इनका विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। इसमें वे भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टाएँ करती हैं, संकेत करती हैं, एवं अंग-प्रत्यंग का प्रदर्शन करती हैं।[2] इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने काम (मार) की कन्याओं की विविध चेष्टाओं का, तथा बोधिसत्त्व के साथ उनके वार्तालाप का विस्तारपूर्वक एवं अत्यन्त ललित वर्णन किया है। इन विविध चेष्टाओं का बोधिसत्त्व के मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और स्त्री-माया रूप महाविघ्न बोधिसत्त्व को साधना पथ से विचलित न कर सका।

स्त्रीमाया रूप विघ्न पर विजय प्राप्त कर लेने के कारण, बोधिसत्त्व पर मारदेव का क्रोध अत्यधिक बढ़ गया और वह स्वयं बोधिसत्त्व के साथ युद्ध के लिए सन्नद्ध होता है। इस क्रम में ग्रन्थकार ने बोधिसत्त्व और मार के वाक् युद्ध का विस्तार से पन्द्रह श्लोकों में वर्णन किया है। इसके अनन्तर ग्रन्थकार ने तथागत पर मार द्वारा किये गये भयंकर आक्रमण का वर्णन किया है, जिसके अनुसार प्रदीप्त अग्नि की जलते हुए पर्वत शिखर, मूल सहित वृक्ष एवं अत्यन्त तप्त होने के कारण ताम्रवर्ण लोहे, उन पर मार न फेंके तथा गौ, ऊँट, हाथी, की भांति मुख वाले तथा भैरव की भांति नेत्रोंवाले भयंकर विषधर सर्प भी फेंके। उस समय चारों ओर उमड़ते-घुमड़ते मेघों की भांति गर्जन करती हुई, गिरी लोहे के गोलों की सी वर्षा उसने की। असि, शक्ति, परशु, और बाणों की भी वर्षा की जो भूमि का भी भेदन करते हुए, वृक्षों को तोड़ते हुए, नष्ट करते हुए, भूमि में घुसने लगे। मार के कुछ वीर सैनिक सैकड़ों हाथों से बाणों

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २३३ पं० २२ से २४

२. वही, पृ० २३३ पं० २५-२६ एवं पृ० २३४, पं० १८
वही, (शास्त्री) श्लोक १०२५-१०३४

की वर्षा कर रहे थे। अग्नि की वर्षा करने वाले सर्पों को फेंक रहे थे। कुछ सैनिक तप्त लोहे के गोले फेंक रहे थे। ये सभी फेंके गये शस्त्रास्त्र कोई उनके आगे गिर रहे थे, कोई पीछे, कोई दाहिने तो कोई बायें। किन्तु मार सेना द्वारा फेंके गये ये सभी शस्त्रास्त्र भगवान् तथागत की समाधि को, मानसिक निश्चलता को समाप्त नहीं कर पा रहे थे।

इस प्रकार बोधिसत्त्व तथागत को विचलित करने के लिए सेना सहित मार ने, उनके समक्ष सर्वप्रथम स्त्रीमाया को और उसके अनन्तर भयंकर, पीडक वातावरण को प्रस्तुत किया किन्तु तथागत बोधिसत्त्व के मार्ग में ये अन्तराय सर्वथा निरर्थक ही सिद्ध हुए तथा तथागत बोधिसत्त्व को अन्त में संबोधि प्राप्त करने से विरत नहीं कर सके।

पारमितायें

प्रज्ञा ज्ञान—बौद्ध परम्परा में ज्ञान अथवा प्रज्ञा का सर्वाधिक महत्त्व है। प्रज्ञा का उदय इस परम्परा के अनुसार सबसे बड़ी उपलब्धि है। इसे ही बुद्ध (बुद्धत्व) की प्राप्ति भी कहते हैं। 'बुद्ध' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है। पतञ्जलि के योगशास्त्र में भी सम्प्रज्ञात के एक भेद निर्विचार समाधि की सिद्धि के अनन्तर इस लोकोत्तर ज्ञान के उदय की बात कही गयी है। वहां इसे ऋतम्भरा प्रज्ञा अथवा विवेकख्याति कहा गया है।[1] वहां यह भी स्वीकार किया गया है कि विवेकख्याति जिसे बौद्ध परम्परा में प्रज्ञा कहा गया है, का उदय होने पर उसके संस्कार के फलस्वरूप अन्य सभी संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं।[2] जिसके फलस्वरूप साधना की अन्तिम अवस्था निर्बीज समाधि की सिद्ध हो जाती है।[3] विवेकजज्ञान (विवेकख्याति) के उदय होने के

---

१. (क) ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥
—यो० सू० १,४८-४९

(ख) योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥
—वही, २.२८

२. (क) तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥
—वही, १.५०

(ख) विवेकख्यातिरविप्लवाहानोपायः ॥
—वही, २.२६

३. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।
—वही, १ ५०

अनन्तर ही सत्त्व और पुरुष का शुद्धि-साम्य होता है जिसका परिणाम पतञ्जलि के अनुसार कैवल्य है।[1] बौद्ध दर्शन की मान्यता के अनुसार भी प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधिरूप षडंग योग के प्रथम अंग प्रत्याहार से धूम के निमित्त आदि दस ज्ञानों का लाभ करता है। उस परम्परा में इसे अकल्पित विज्ञान स्कन्ध कहा जाता है। इस अवस्था में विज्ञान की शून्यता-विम्ब में प्रवृत्ति होती है। ध्यान में ये दस विज्ञान-विश्व बिम्ब दस प्रकार के विषय-विषयी के साथ एकीभूत होते हैं। इसे अक्षोभ्य भाव कहा जाता है इसी अवस्था में शून्यताबिम्ब का अवलोकन होता है, यही प्रज्ञा है।[2]

थेरवादी बौद्ध परम्परा के अनुसार 'बुद्धत्व' की अभिलाषा की सफलता के लिए 'सुमेध' बुद्धकारक धर्मों का अन्वेषण करने लगे। उनके अतिशय उत्साह-पूर्वक अन्वेषण करने से दस पारमिताएँ (पारमी) प्रकट हुई, जिनका आसेवन पूर्वकाल में बोधिसत्त्वों ने किया था। इनके ग्रहण से ही बुद्धत्त्व की प्राप्ति होती है। पालिभाषागत पारमी शब्द पूर्णता का द्योतक है अतः पारमिता का अर्थ है पूर्णता। ये पारमिताएँ वहां दस मानी गयी हैं, दान, शील, नैष्क्रम्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य अधिष्ठान (दृढ़ निश्चय), मैत्री। (राग और द्वेष से रहित होना) तथा उपेक्षा अर्थात् शुभ और अशुभ में सुख और दुःख में समभाव का होना।

महायान बौद्ध दर्शन में उपर्युक्त दस पारमिताओं के स्थान पर ६ पार-मिताएँ स्वीकार की गयी हैं। ये पारमिताएँ निम्नलिखित हैं दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा। इन ६ पारमिताओं में प्रज्ञा को यहां प्रधान माना गया है।[3] प्रज्ञा का अर्थ है यथार्थज्ञान, इसे ही अन्यत्र विवेकख्याति कहा गया है। इसे ही भूततथता भी कहते हैं। प्रज्ञा के बिना सांसारिक चक्र की, जरा-मरण निवृत्ति नहीं होती। अन्य सभी पारमिताएँ प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए ही कही गयी हैं तथा अन्य पारमिताओं की पूर्णता दूसरे शब्दों में सफलता प्रज्ञा के द्वारा ही होती है। विंटरनिट्ज़[4] ने प्रज्ञा पारमिता के विषय में कहा गया है—

---

१. सत्त्वपुरुषयोः शुद्धि-साम्ये कैवल्यम् ॥

—योग० सू० ३.५५

२. बौद्ध-धर्म-दर्शन की भूमिका, पृ० ४

३. वही, पृ० २१२

4. Winternity, History of Indian Literature Vol, II, p. 313.

"The greatest importance from the point of view of the history of religion are the prajñā-pāramitās, 'the (Mahāyāna-Sūtras) of the wisdom perfection' they trait of the six 'perfection' (pāramitās) of a Bodhisattva, but especially of prajñapāramitā, the highest perfection, called 'wisdom' this wisdom consists of the knowledge of śūnyatā, 'emptiness' i.e. the unsubstantiality of all phenomena, implying the conviction that all Dharmas or objects of thought, are only endowed with a conditional or relative exsistence."

प्रज्ञा द्वारा परिशोधित होने पर ही दान आदि पूर्णता को प्राप्त करते हैं। प्रज्ञा के बिना उससे पूर्व की पारमिताएँ लौकिक कही जायेंगी। प्रज्ञा के संपर्क से वे अलौकिक हो जाती हैं। उदाहरणार्थ दाता जब तक भिक्षुदान और स्वयं अर्थात् अपने दातृत्व में विश्वास रखता है, जब तक उसकी दानपारमिता लौकिक होती है। परन्तु जब वह इन तीनों के प्रति शून्यता का भाव स्थापित कर लेता है, अर्थात् जब त्रित्व मिट जाता है, तब उसकी पारमिताएँ अलौकिक बन जाती हैं। इसीलिए तब उन्हें सचक्षुष्क कहा जाता है। जिस प्रकार अंधे व्यक्ति संख्या में चाहे कितने भी हों किन्तु वे भागवितरण में समर्थ नहीं होते, जब उन्हें एक दृष्टि संपन्न व्यक्ति मिल जाता है तब वे दुर्गम मार्ग भी पार कर जाते हैं।[1] इसी प्रकार प्रज्ञा के बिना दान आदि निर्वाण पथ पर अवतरण नहीं करा पाते, किन्तु प्रज्ञा-संपर्क से वे सभी साधना के अंग बन जाते हैं।[2] जिस प्रकार क्षुद्र नदियां गंगा के साथ संयुक्त होने पर ही समुद्र से मिल पाती हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा के संपर्क से ही दान आदि अन्य पारमिताएँ निर्वाण तक पहुंचाने वाली हो पाती हैं। इतना होते हुए भी दान आदि पारमिताओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि इनमें प्रत्येक के द्वारा उत्तरोत्तर की प्राप्ति होती है और समष्टि रूप से ये निरोधगामिनी प्रतिपदा बन जाती हैं।

---

१. अन्धातमा अनयना मोहाकुलदृष्टिजालबद्धाः ।
प्रज्ञाप्रदीपचक्षुः शोधय शीघ्रं नरमरुणाम् ॥

—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ५३७

Beings are blind and in darkness, bound by the net of harmful views, and heavy with confusion, with the lamp of wisdom, quickly bring light to the eyes of gods and men.
—Bays, Vol. I, p. 278 (Eng. Translation)

२. बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० २१२

ललितविस्तर में इन पारमिताओं की चर्चा भिन्न-भिन्न रूप में अनेक बार हुई है,[1] प्रत्येक पारमिता का विवरण अथवा उसके पालन के लिए प्रेरणा पूर्ण वचन बार-बार निबद्ध हुए हैं। किन्तु कवि ने प्रत्येक अवसर पर पारमिता शब्द का प्रयोग न करके दान, शील, क्षान्ति आदि के संबंध में चर्चा की है। किन्तु धर्मालोकमुखपरिवर्त्त (४) में इन पारमिताओं का पारमिता विशेषण के साथ विवरण निबद्ध हुआ है। कवि के अनुसार बोधिसत्त्व महती देवसभा को संबोधित करते हुए, बौद्ध-दर्शन के प्रत्येक अंग की ओर और प्रत्येक विषय के अंग-प्रत्यंग की ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकरण में वे छहों पारमिताओं का नामोल्लेख, उनका उद्देश्य, तथा उनके पालन से प्राप्त होने वाले फल की भी चर्चा करते हैं। वे कहते हैं कि—दानपारमिता धर्मालोकमुख है, उसके कारण बत्तीस महापुरुष लक्षणों तथा अस्सी अनुव्यञ्जनों से युक्त बुद्ध-क्षेत्र की परिशुद्धि होती है। कंजूस प्राणी दानरूपी धर्माचरण की शिक्षा से परिपक्व किये जाते हैं। शीलपारमिता भी धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब अक्षणों अर्थात् नरकयोनि, तिर्यग्योनि, दीर्घायुष, देवयोनि, मिथ्यादृष्टि, बुद्धानुत्पाद म्लेच्छता तथा मूकना इन आठ कुत्सित क्षणों तथा अपायों से बच निकला जा सकता है। इसके द्वारा दुःशील प्राणी धर्माचरण की शिक्षा में परिपक्व किये जाते हैं। उस शील के चरित्र का यह फल है कि जिससे आठों योनियां (अक्षण) तथा सोलह नरक शुद्ध हो जाते हैं[2]। शान्तिपारमिता भी

---

१. (क) प्रज्ञाया परिचरिकुशलत्वं, ज्ञानं ते पृथु विपुलमनन्तम्।
मूढानां विमतिपथस्थितानां, प्रज्ञाभां शुभरुचिरकुरु त्वम्॥
—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ४०२

(ख) त्वयि प्रज्ञ पुरा सुभाविता, मोहविद्यान्धतमोवृते जगे।
बहुधर्मशताभिलोकने, दास्ये चक्षुषि तत्त्वदर्शनम्॥

(ग) तां पूर्वचरीमनुस्मरा मोहविद्यान्धतमोवृते जगे।
ददही वरप्रज्ञ सुप्रभा, धर्मचक्षुं विमलं निरञ्जनम्॥
—ल० वि०, (शास्त्री) श्लोक ५१४ ५१५

(घ) ल० वि० (वैद्य) परि० २, पृ० ७, ८; परि० २, श्लोक ३
ल० वि० (वैद्य) परि० ६, पृ० ४५, परि० श्लोक, १३, २२, २८, ३४

२. पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटिपो शीलरक्षितमखण्डव्रतम्।
तस्य शीलचरितस्य तत्फलं येन अक्षण अपाय शोधिताः॥
—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १३९

Contd.

धर्मालोकमुख है उसके कारण दूसरों को हानि पहुंचाने का भाव (व्यापाद), विवल अर्थात् चित्त की कठोरता, द्वेष, मान, मद और दर्प का नाश होता है। व्यापन्न अर्थात् दूसरों को हानि पहुंचाने की भावना वाले लोगों में, क्षमाभाव उत्पन्न करके उन्हें धर्म में परिपक्व किया जाता है। वीर्यपारमिता भी धर्मालोकमुख है उसके द्वारा कुशल मूलधर्मों के आरम्भ तथा अनुरंजन कर्म की साधना में स्वयं को उतारा जाता है तथा आलसी प्राणी वीर्य अर्थात् उत्साह के कार्यों में परिपक्व किये जाते हैं। ध्यान पारमिता भी धर्मालोकमुख है, उसके कारण सब ध्यानों तथा अभिज्ञानों की उत्पत्ति होती है। विक्षिप्त चित्त, मनोरागी प्राणी, इसके द्वारा ध्यान मार्ग में परिपक्व किये जाते हैं। इसी प्रकार प्रज्ञापारमिता भी धर्मालोकमुख है। इसके द्वारा अविद्या, मोह, तम एवं अंधकार से उत्पन्न उपलम्भ दृष्टि अर्थात् शून्यता के रहस्य को न समझने की दृष्टि का प्रहाण होता है तथा दुष्प्रज्ञ प्राणी शून्यता-दर्शन में परिपक्व किये जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ललितविस्तरकार इन छ पारमिताओं के पालन को अतिशय महत्त्व प्रदान करता है।[1] इन पारमिताओं में प्रत्येक का विवरण अग्रिम पंक्तियों में द्रष्टव्य है---

दानपारमिता—इन उपर्युक्त ६ पारमिताओं में दानपारमिता का अर्थ है समस्त जीवों के कल्याण के लिए दान करना, तथा दान के फल का भी उत्सर्ग करना। दान करने योग्य वस्तु का परित्याग करना होता है, किन्तु इतने त्यागमात्र से वह दानपारमिता नहीं बनती। दान के साथ-साथ दान के फल का त्याग करने से वह दानपारमिता कही जाएगी। दानपारमिता के रूप में बौद्ध-परम्परा में सर्वस्व-त्याग के समय उस स्व का, सर्वसम्पत्ति का लोक-कल्याण के लिए, प्राणिमात्र के लिए सम्पत्ति का उत्सर्ग किया जाता है, शरीर का भी उत्सर्ग किया जाता है। उसका किसी वस्तु पर ममत्त्व नहीं होता।[2] ललित

For the several tens of millions of Kalpas.
you practiced virtue without breaking your vows.
Here today is the fruit of your moral practice.
Obstacles to virtue and bad ways of being are purified.
— Bays, Vol. I, p. 89. (Eng. Translation)

१ दानशीलक्षान्तिवीर्यध्यानप्रज्ञामहोपायकौशल्यपरमपारमिताप्राप्तस्य···।
—ल० वि० (वैद्य), परि० २, पृ० ७; परि० २, श्लोक ३

२. वही, परि० ५, श्लोक ६३,६४

Contd.

विस्तर में दानपारमिता के विषय में अनेकों पौराणिक उपाख्यान उपनिबद्ध हैं।[1]

शीलपारमिता—शीलपारमिता का अर्थ है लोककल्याण हेतु, समस्त प्राणियों के उपकार के लिए धर्मबुद्धि से शरीर आदि की रक्षा करना।[2] लोक में भी तो लौकिक कर्मों को संपन्न करने के लिए शकट, कार आदि वाहनों की रक्षा की जाती है।[3] वस्तुतः आत्मभाव आदि की रक्षा शिक्षा की रक्षा से होती है शिक्षा की रक्षा चित्त की रक्षा से होती है। चलायमान चित्त को स्वायत्त न किया जाएगा तो शिक्षा की स्थिरता नष्ट हो जाएगी। भय और दुःख का कारण चित्त ही है। चित्त के द्वारा ही वाक्कर्म और कार्यकर्म की उत्पत्ति होती है। अतः इन कर्मों का समुत्थापक चित्त ही है अतः चित्त का दमन,

For tens of millions of Kalpas, you gave up cherished sons and many treasures, Here today is the fruit of this giving : The flowers of the gods fall like rain. You offered your own flesh, Cord out of goodness to a bird which was hungry and thirsty, Here today is the fruit of your giving. the hungry ghost obtain food and drink. Bays, gwendolyn, The Voi e of the Buddha, the Beauty of compassion, Vol. I. p. 89.

१. (क) ल० वि० (वैद्य), परिवर्त्त १३, श्लोक २२, २४, २५, ४, १२, २८, ३४, ३७,३८, ५२

(ख) पुरि तुम सुपुरुषऋषिवरू यदभू, द्विज तव उपगतु भव मम शरणम्। भणि ऋषि द्विजवर मम रिपुउपने. त्याजि त्वय स्वकि तनु न च द्विज त्यजसे॥ —ल० वि० (वैद्य), परि० १३, श्लोक ३१

In times past, O Excellent one, when you were the best of rics, O brahmin come to you seeking refuge, and asked that you drive off his foe, you sacrificed your own body, while the brahman kept his,

—Bays. Vol. I, p. 250

२. परिभोगायसत्त्वानां आत्मभावादि दीयते, अरक्षिते कुतो भोगः किंदत्तं यन्न भुज्यते। तस्मात् सत्त्वोपभोगार्थं आत्मभावादि पालयेत्॥

—शिक्षासमुच्चय, पृ० ३४

३. शकटमिव भारोद्वहनार्थं केवलं धर्मबुद्धिना वोढव्यम् इति।

—वही, पृ० ३८

उसके पापों से निवृत्ति शीलपारमिता के द्वारा की जाती है। शील का मुख्य अर्थ है प्राणातिपात आदि गर्हित कर्मों से निवृत्ति, विरतिचित्तता ही शील है। इसीलिए बौद्ध धर्म में मुख्य पांच शीलों में प्राणातिपाद आदि से विराम को ही गिना गया है।[1] इनका पालन न करने पर भिक्षु पराजिक नियमों के अनुसार भिक्षु संघ से पृथक् करने योग्य हो जाता रहा है। शील से समाधि होती है। चन्द्रदीप सूत्र में कहा गया है कि जो समाधि चाहता है उसका शील विशुद्ध होना चाहिए। शीलार्थी को भी समाधि के लिए यत्नवान् होना चाहिए, क्योंकि शील और समाधि द्वारा चित्त परिकर्म की निष्पत्ति होती है। यही पुरुषार्थ का मूल है।[2] आर्यमण्डव्यूह सूत्र में शील की प्रधानता का प्रतिपादन करते हुए, समस्त बोधिचर्या का मूल चित्त का अधिष्ठान अर्थात् नियमन कहा गया है।[3]

शीलपारमिता[4] के पालन के प्रसंग में ही कहा गया है कि 'साधक को मितभाषी होना चाहिए। किसी से कर्कश वचन न बोले, सदा सब को सरल दृष्टि से देखे। उसे सदा कार्यकुशल होना चाहिए और अन्य सत्त्वों के हित और सुख के लिए प्रयत्न करना चाहिए। किसी कार्य में दूसरों की अपेक्षा न करे, सब काम स्वयं करे। पातिमोक्ख में जिस कर्म का निषेध है, उसका आचरण न करे।[5]

क्षान्तिपारमिता—क्षान्ति का अर्थ है दुःख और दौर्मनस्य रूप विक्षेप का निराकरण। जिसमें क्षान्ति नहीं है, वह श्रुत आदि में खेद सहन करने की शक्ति न रखनेके कारण अपना वीर्य नष्ट करता है और अतः अखिन्न होकर श्रुत आदि

---

१. पाणातिपाता वेरमणी सिकखापदं समादियामि।
मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।
अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।
अब्रह्मचरिया वेरमणी सिक्खापदं समादियामि।

२. मनोपुब्बंगमा धम्मा मनो सेट्ठा मनोमया।
मनसा च पदुट्ठेन भासति वा करोति वा।
ततो न दुक्खं अन्वेति चक्कं व वहतो पदं॥ धम्मपद १.१

३. स्वचित्ताधिष्ठानं सर्वबोधिसत्त्वचर्या, स्वचित्ताधिष्ठानं सर्वसत्त्वपरिपाकविनम्
—आर्यमण्डव्यूहसूत्र-शिक्षासमु० पृ० १२२

४. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ४२३, ४२४, ५०६, ५०७, ५१९ ४३५, ३८९

५. (क) बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० १९३
(ख) वही, पृ० १९०-१९१

की इच्छा करनी चाहिए। यह क्षान्ति का प्रथम रूप है। क्षान्ति का द्वितीय रूप है—द्वेष का संपूर्णतया परिहार। क्योंकि जिस प्रकार अग्निकण तृणराशि को दग्ध करता है उसी प्रकार द्वेष सहस्रों कल्प के उपार्जित शुभ कर्म को तथा बुद्ध-पूजा को नष्ट कर डालता है। द्वेष के समान दूसरा पाप नहीं है। इसलिए द्वेष के पूर्ण परित्याग रूप क्षान्ति का पालन अवश्य करना चाहिए। जो इष्ट है उसके विघातक के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। दौर्मनस्य रूपी भोजन पाकर द्वेष बलवान होता है इसलिए द्वेष के नाश की इच्छा रखता हुआ बोधिसत्त्व सबसे पहले दौर्मनस्य का उपघात करे। इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकार से क्षान्ति पारमिता दो प्रकार की है (१) दुःखाधिवासनाक्षान्ति एवं (२) परापकारमर्षणक्षान्ति।

इन दो प्रकार की क्षान्ति के अतिरिक्त एक तृतीय प्रकार की क्षान्ति भी होती है वह है—धर्मनिध्यान क्षान्ति। धर्म-निध्यान का अर्थ है धर्म अर्थात् पद अर्थ के संबंध में चिन्तन करके विचार करके द्वेषादि से परे रहने की साधना। उदाहरणार्थ दुःख की स्थिति को देखे दुःख शारीरिक है या मानसिक? वह शारीरिक नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर में सुख-दुःख के अनुभव की शक्ति नहीं होती। मानसिक भी वह नहीं होना चाहिए क्योंकि दण्ड आदि शस्त्रों का आघात मन पर नहीं होता। क्लेश के निमित्त अस्थायी हैं, क्षणिक हैं अतः वे स्वतः दूर हो जाएँगे, उनके लिए चिन्ता क्यों की जाए। द्वेष करना भी अनुचित है। क्योंकि हमारा अनिष्ट करने वाला पुरुष, जिसके व्यवहार से पीड़ा का अनुभव हम करते हैं कौन है? शरीर उन व्यवहारों का कर्ता नहीं है वह तो करणमात्र है। कर्तृत्व आत्मा में है किन्तु द्वेष करके शस्त्रादि द्वारा हम आत्मा को काट नहीं सकते, उसका विनाश कर नहीं सकते अतः द्वेष न करके क्षान्ति का अवलम्बन ही करना चाहिए। यही स्थिति लोभ की है। लोभ क्यों किया जाए, बहुत धन संचय करके भी, बहुत सुख भोग के भी अन्त में जाना है, खालीहाथ नग्न रूप में ही फिर लोभ किसलिए? कहा भी है—

लब्ध्वापि च बहून् लाभान् चिरं भुक्त्वा सुखान्यपि।
रिक्तहस्तश्च नग्नश्च यास्यामि मुषितो यथा॥[1]

इस प्रकार का चिन्तन धर्मनिध्यानक्षान्ति पारमिता कहलाती है। क्षान्तिभिक्षु शास्त्री ने क्षान्ति का अर्थ "क्षमा" किया है।[2] अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य हैं यथा—

---

१. शान्तिदेव, बोधिचर्यावतार, परि० ६, श्लोक ५९

२. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ४२५, ४२६, ५०८, ५०९

क्षान्तीये भव शतचरितस्त्वं, क्षान्त्यास् (क्षान्तास्) ते जगिविविध दुरुक्ताः
क्षान्तीये क्षमदमनिरतात्मा। नैष्क्रम्ये मति कुरु द्विपदेन्द्रा ॥[1]
Bays ने 'क्षान्ति' का अर्थ 'धैर्य' किया है।[2]

वीर्यपारमिता—कुशलकर्म में उत्साह का होना वीर्यपारमिता है। आलस्य कुचेष्टाओं में आसाक्त, विषाद और आत्म-अवज्ञा वीर्यपारमिता के अभाव की स्थिति में ही उत्पन्न होती है। वीर्यपारमिता की साधना तब तक प्रारम्भ नहीं हो सकती, जब तक क्षान्ति की साधना पूर्ण न हो जाए। क्योंकि संसार रूपी दुःख का तीव्र अनुभव होने पर कुशल-कर्म में प्रवृत्ति ही नहीं होती और प्रवृत्ति के अभाव से आलस्य होता है किन्तु जब बोधिसत्त्व को संसार की अतिशय दुःखरूपता का बोध हो जाता है तो उस दुःख रूपी महानदी को पार ही करना चाहिए, इस प्रकार का उत्साह उसमें पैदा होता है यह वीर्यपारमिता कहलाती है। वीर्यपारमिता की साधना में अविषाद, बलव्यूह, निपुणता, आत्म-वशवर्तिता, आत्मपरिवर्तन सहायक होते हैं। जब बोधिसत्त्व कुशलकर्म हेतु उत्साहवान होते हैं तो उसके अभ्यास परायण होने से ऋद्धियों की प्राप्ति होती है।

ध्यानपारमिता—वीर्यपारमिता से वीर्य की वृद्धि होने के बाद ध्यान-पारमिता की साधना होती है। बोधिसत्त्व को चित्त की एकाग्रता के लिए प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि विक्षिप्त चित्त पुरुष वीर्यवान् होता हुआ भी क्लेशों से कवलित होता है। इस ध्यानपारमिता से चित्त को आलम्बन में प्रतिष्ठित किया जाता है। आलम्बन में चित्त की प्रतिष्ठा जन सम्पर्क अथवा काम आदि वितर्कों के विवर्जन से नहीं अपितु निरासंग होने से होती है। इसलिए राग-द्वेष आदि विक्षेप हेतुओं का परित्याग करना चाहिए। चित्त की एकाग्रता अर्थात् ध्यान के

---

१ ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ३६८

२. पूर्वि तुभ्य बहुकल्पकोटिपो क्षान्ति भावित निदानबोधये।
तस्य क्षान्तिचरितस्य तत्फलं मैत्रचित्त भुत देवमानुषाः ॥
—ल० वि० (वैद्य), परि० ५, श्लोक ६६

For several tens of millions of Kalpas,
You meditated on patience, the basis of Supreme Enlightenment. Here today is the fruit of that patience, gods and men are full of loving thoughts.
—Bays, Gwendolyn, the voice of the Buddha. Vol. I, p. 89.

बाद ही यथाभूत तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है और तत्त्वज्ञान (प्रज्ञा) की प्राप्ति होने के अनन्तर बोधिसत्त्व क्लेश आदि दुःखों का प्रहाण कर सकता है। जो समाहित-चित्त हो जाता है और उसके फलस्वरूप जिसे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, उसकी बाह्यचेष्टाओं का निवर्तन होता है, फलतः उसका चित्त चंचल नहीं होता। ध्यानपारमिता के सम्पन्न होने पर बोधिसत्त्व की प्रज्ञापारमिता प्रारम्भ होती है। चित्त की एकाग्रता से प्रज्ञा के प्रादुर्भाव में सहायता मिलती है। जिसका चित्त समाहित है, उसी को यथाभूत परिज्ञान होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दान, शील आदि पारमिताएं प्रज्ञापारमिता तक पहुंचने की सोपान हैं। प्रज्ञापारमिता की स्थिति में ही बोधिसत्त्व बोधि प्राप्त करता है।

समस्त धर्मों के अनुपलम्भ को अर्थात् जागतिक पदार्थों के प्रति अनासक्ति को ही प्रज्ञापारमिता कहते हैं।[1] सर्वधर्म-अनुपालम्भ का अर्थ है शून्यता में प्रतिष्ठा. जो शून्यता में प्रतिष्ठित है, उसीने प्रज्ञापारमिता प्राप्त की है। शून्यता में प्रतिष्ठा का तात्पर्य सम्यग्बोध है कि 'व्यवहार में ही प्रतीत्यसमुत्पाद की सत्ता है, परमार्थ-दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद धर्मशून्य है क्योंकि परमार्थ में स्वकृतत्व, परकृतत्व और उभयकृतत्व तीनों का निषेध रहता है। 'वास्तव में सब शून्य ही शून्य है, सब धर्म स्वभाव से अनुत्पन्न हैं, यह ज्ञान आर्यज्ञान कहलाता है। जब इस आर्यज्ञान का उदय होता है अविद्या की निवृत्ति होती है। अविद्या के निरोध से संस्कारों का निरोध होता है। इस प्रकार पूर्व-पूर्व कारणों के निरोध से उत्तरोत्तर कार्यों का निरोध होता है। अन्त में दुःख का निरोध होता है। इस प्रकार अविद्या, तृष्णा और उपादान रूपी क्लेशमार्ग का, संस्कार और भवरूपी कर्ममार्ग का और दुःखमार्ग का व्यवच्छेद होता है।[2]

प्रज्ञा के द्वारा ही सब धर्मों की निःस्वभावता सिद्ध होती है और प्रत्यवेक्षमाण जगत् स्वप्नवत् हो जाता है। इस स्थिति में इस तत्त्वज्ञान का स्फुरण होता है कि 'जो प्रत्यय के आधीन है, वह शून्य है। सब धर्म मायोपम हैं, यथार्थ में बुद्धधर्म भी निःस्वभाव है, सम्यक् सम्बुद्धत्व भी मायोपम है, निर्वाण भी मायोपम है। यदि निर्वाण के बाद भी कोई विशिष्टतर धर्म हो तो वह भी मायोपम और स्वप्नवत् ही है। जब परमार्थज्ञान की प्राप्ति होती है, तब

---

१. योऽनुपलम्भः सर्वधर्माणां सा प्रज्ञापारमितेत्युच्यते।
—(बौद्ध-धर्म-दर्शन से उद्धृत) अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता, पृ० २१३

२. आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृ० २१३

वासना आदि निःशेष दोष-राशि की निवृत्ति हो जाती है। यही प्रज्ञा समस्त दुःखों के उपशम का हेतु है। इसी निःस्वभावता के लिए नागार्जुन का कथन है कि—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नापि हेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ।।[1]

बौद्ध दर्शन के साधना पक्ष में जिस प्रकार इन पारमिताओं का महत्त्व है उसी प्रकार ललितविस्तर में इनका महिमा के साथ पल्लवन भी हुआ है। तथागत बोधिसत्त्व स्मृति विमल समाधि को प्राप्त करते हैं, चित्त की पूर्ण एकाग्रता प्राप्त करते हैं जो कि ध्यानपारमिता है और उसके द्वारा अधिगत प्रज्ञारूपी असि के (प्रज्ञापारमिता) द्वारा ही भव के अनुगत आस्रव रूपी समस्त शत्रुओं का विनाश करते हैं।—

इह मे हतो ह्यशेषश्चित्तचरि रिपुर्भवानुगतवैरी ।
प्रज्ञासिना बलवता स्मृतिविमलसमाधिमागम्य ।।[2]

आस्वाद अर्थात् विषयरस रूपी विद्युत् एवं वितर्करूपी निर्घोष से युक्त अनुशय रूपी मेघों को वीर्यपारमिता के बल पर समाप्त कर सके थे :—

इह मे अनुशयपटला आस्वाद तडिद्वितर्कनिर्घोषाः ।
वीर्यबलपवनवेगैर्विधूय विलयं समुपनीता ।।[3]

ललितविस्तरकार अनेकों स्थलों पर छओं पारमिताओं की समष्टि की चर्चा करते हैं—

दाने दमे संयमशीलशब्दः, क्षान्तीय शब्दस्तथ वीर्यशब्दः ।
ध्यानाभिनिर्हारसमाधिशब्दः, प्रज्ञा उपायस्य च शब्द निश्चरी ।।[4]

अर्थात् भेरी-वादन के समय दान शब्द, दम और संयम के हेतु शील शब्द, क्षान्ति शब्द, वीर्य शब्द तथा ध्यान के परिणामस्वरूप समाधिशब्द और प्रज्ञा-रूपी उपाय के शब्द भेरी से निकल रहे थे। एक स्थल पर वे 'दशबलगुण पारमिप्राप्तम्' पद द्वारा दशबल अर्थात् तथागत के समान ही पारमि अर्थात् पारमिताओं को प्राप्त बतलाते हैं। यहां स्मरणीय है कि पारमिता के लिए पालि में 'पारमि' शब्द का ही प्रयोग होता है।

---

१. मध्यमकमूल १.३, पृ० ५ (बौद्ध-धर्म-दर्शन से उद्धृत)
२. ल० वि० शास्त्री, श्लोक १२६६
३. वही, १२६५
४. वही, ५१९

ललितविस्तरकार ने एक स्थल पर छः पारमिताओं का विस्तारपूर्वक परिचय भी दिया है जिसमें मल-मात्सर्य आदि से रहित चित्तवाला होकर महादान करना और उसके परिणाम की भी अपेक्षा का त्याग करने पर प्रदान-शूर अर्थात् दानपारमिता से युक्त—'परिष्कारविगतमलमात्सर्यसुनिगृहीतचित्तोऽनुत्तरो महादानपतिर्दत्त्वा च विपाकाप्रतिकांक्षी प्रदानशूरः···।'[१] शीलगुण और चारित्र से युक्त काय-मन-वचन से पूर्ण संयमवाला अणुमात्र भी अपने पाप से भय करने के कारण सुपरिशुद्ध शीलवाला अर्थात् शीलपारमिता से युक्त-'शीलगुण-चारित्रप्रतिपन्नः सुलक्षितकायवाङ्मनः कर्मान्तोऽणुमात्रावद्यभयदर्शी सुपरिशुद्धशीलः···।'[२] सभी प्रकार के वाणी और शरीर से की जाने वाली पीड़ा-दायक स्थितियों में भी अक्षुभित चित्त होने पर क्षान्तिपारमिता से युक्त··· 'सर्वदुरुक्तदुरागतवचनपथाक्रोशपरिभाषणकुत्सनताडनतर्जनवधबन्धनावरोधनपरिक्लेशालुडितचित्तोऽक्षुभितचित्तः क्षान्तिसौरभ्यसंपन्नः···'[३] समस्त प्राणियों के हित के लिए उत्तम वीर्यवान् अर्थात् वीर्यपारमिता से युक्त···'सर्वसत्त्वहितार्थायोत्तप्तवीर्यारम्भी···।'[४] समस्त चेतना शक्ति को एकाग्र करके ध्यानसंपन्न अर्थात् ध्यानपारमिता से युक्त···'सुसंप्रज्ञासुसमाहितोऽविक्षिप्तचित्तौ ध्यानैकाग्रमनसिकारो···।'[५] बोधि को प्राप्त करके, बुद्धि का अन्धकार पटल जिसका नष्ट हो गया है, समस्त विश्व प्रपञ्च को जिसने अनित्य, दुःखरूप, अशुभ मान लिया है, जो स्मृति उपस्थानों में, सम्यक् प्रहाणों में, ऋद्धियों में, इन्द्रियों में, बलों में, बोध्यङ्गों में, मार्ग में, आर्यसत्यों में, बोधिपाक्षिक धर्मों में, सुपरिकर्म के साथ चिन्तन करके, शामथ के तथा विपश्यना के द्वारा शुद्ध-बुद्धि युक्त होकर, प्रतीत्यसमुत्पाद का, जगत् की शून्यता का दर्शन करता है। विश्व को माया, मृगतृष्णा, स्वप्न, जलगत चन्द्रप्रतिबिम्ब, प्रतिध्वनि के समान मिथ्या समझता है, इस प्रकार की प्रज्ञापारमिता से युक्त है···'लब्धालोको विगत-तमोन्धकारः···भासोपमसर्वधर्मनयावतीर्णः।'[६]

ललितविस्तर में विवृत उपर्युक्त विवरण बौद्ध दर्शन के अन्य ग्रन्थों में वर्णित षट्पारमिताओं से सर्वथा अभिन्न है।

---

१. ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १३१
२. वही, पृ० १३१
३. वही, पृ० १३१, पं० १९-२०
४. वही, पृ० १३१, पं० २०-२१
५. वही, पृ० १३१, पं० २१-२२
६. वही, पृ० १३१, पं० २२-२६

ललितविस्तरकार ने बोधिसत्त्व को इन प्रत्येक पारमिताओं से संपन्न दिखाया है, अथवा सम्पन्नता के लिए उद्बोधित किया है । जिसके कुछ उदाहरण देखिए:—

दानपारमिता—जिसके लिए तुमने करोड़ों कल्पों में दान किया है कि बोधिरूप आर्य-धन का संग्रह करके, आर्य-धन से हीन दरिद्र-दुःखी प्राणियों का कल्याण करोगे, फिर अब उनकी उपेक्षा मत करो और बोधिप्राप्त करके आर्य धन (ज्ञान) का वितरण करो और उससे विश्व को दुःख मुक्त करो ।[१]

यहां बोधि रूप आर्यधन की प्राप्ति के लिए कोटि कल्पों तक दान करने की चर्चा के द्वारा बोधिसत्त्व द्वारा दानपारमिता के पालन का उल्लेख आ है ।

बोधिसत्त्व ने प्राणियों पर अतिशय करुणा-युक्त होकर कोटि-कल्पों तक दान, विनय और संयम द्वारा बोधि-प्राप्ति के लिए साधना की है ।[२] जिस अमृत के लिए खरबों कल्पों तक मांस सहित नयनों का तथा बहुत-सी सम्पत्ति का दान किया है, उसका मैंने यहां बोध कर लिया है[3] । इन गाथाओं में बोधिसत्त्व द्वारा दानपारमिरता की साधना की गई है, यह संकेत है ।

शीलपारमिता—अनेक कोटि प्राणियों को मैं स्वर्ग का उत्तम द्वार दिखाऊंगा । इस संकल्प के साथ तुमने नरक-भूमियों को ढंकने के लिए सदा शील की रक्षा की है । तुम्हारा शीलवान् होने का संकल्प सिद्ध हो ।'[४] ये अत्यन्त शुद्ध शील वाले हैं, उत्तम व्रतवाले हैं अखण्डितचर्या वाले हैं । शील की रक्षा करने वाले हैं । काम भोगों के प्रार्थी नहीं ।[५]

इस प्रकार के अनेक पद्यों में विषयभोगों से अलग होकर शीलपारमिता की साधना बोधिसत्त्व ने की इसकी चर्चा हुई है।

क्षान्तिपारमिता—भवसागर से प्राणियों को तारकर क्षान्ति, क्षेम, आरोग्य में सबको स्थापित करने की दृष्टि से तुमने प्राणियों के हिंसाभाव और क्रोध को शान्त करने के लिए सर्वदा क्षमा की रक्षा की है । वैर, हिंसा आदि की भावनाओं से परिपूर्ण, हिंसा का आचरण करनेवालों की उपेक्षा मत करो । इस जगत् को क्षमा की भूमि पर अर्थात् क्षान्तिपारमिता में स्थापित करो ।[६] ये

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ५०४-५०५

२. वही, श्लोक ६७७

३. वही, श्लोक १२८२

४. वही, श्लोक ५०६-५०७

५. वही, श्लोक ६७७

६. वही, श्लोक ५०८-५०९

बोधिसत्त्व सदा क्षान्तिपारमिता का पालन करने वाले हैं। प्राणियों के कल्याण के लिए इनके एक-एक अङ्ग-प्रत्यङ्ग का छेदन करने पर भी इन्हें क्रोध रोष नहीं होता।[1] अनुराग एवं द्वेष को, कलह एवं विवाद को पूर्णरूप से समाप्त कर मैंने उसका अन्त पा लिया है।[2]

उपर्युक्त प्रकार के अनेक पद्यों में बोधिसत्त्व द्वारा सम्पादित क्षान्ति-पारमिता का विवरण कर्तव्य के रूप में ललित विस्तर में हुआ है।

वीर्यपारमिता—जिस महा-करुणा के लिए आपने 'मैं धर्म की नौका गढ़-कर, लोक को भव-सागर से पारकर, शान्ति, कुशलता और आरोग्य में स्थापित करूंगा।' ऐसा वीर्यभाव संपन्न आचरण तुमने किया है। उस पूर्वकालिक चर्या को तुम स्मरण करो। इस जगत् को काम भवदृष्टि और अविद्या नामक ओघ मानों बहाये लिए जा रहे है, अतः शीघ्र अपने वीर्य, बल और पराक्रम से (वीर्यपारमिता) से अनाथ प्राणियों को तारो।[3] प्राणियों के कल्याण के लिए वीर्यवान होकर उत्साहपूर्वक बिना खिन्न हुए, इन्होंने करोड़ों कल्पों तक बोधि-साधना की है।[4]

मैंने अनुशय के मेघों को जिनमें विषय-रस की बिजली चमकती रहती है तथा वितर्कों की गर्जन होती रहती है, उन मेघों को वीर्य-बल के वायुवेग द्वारा वीर्यपारमिता की साधना द्वारा विलीन कर डाला है।[5] मैं वीर्य (उद्योग) बल की नौका द्वारा, मैं काम-राग के मगरों वाला, तृष्णा रूपी जल एवं लहरों वाला, कुदृष्टियों के ग्राहोंवाला संसार-सागर पार कर चुका हूं।[6]

इत्यादि अनेक पद्यों[7] और गद्य खण्डों में वीर्यपारमिता की साधंना के महत्त्व का कथन किया गया है।

ध्यानपारमिता—योग की चर्चा के प्रसङ्ग में ललितविस्तर में समाधि सहित ध्यान की चर्चा विस्तारपूर्वक की जा चुकी है। उस ध्यान एवं समाधि साधना संबंधी विवरण को ध्यानपारमिता के अन्तर्गत ही समझा जा सकता है। तथापि कुछ अन्य उदाहरण भी देख लेना अनुचित न होगा।

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ६७८
२. वही, श्लोक १२६९ श्लोक; ४२५, ४२६
३. वही, श्लोक ५१०-५११
४. वही, श्लोक ६७८
५. वही, श्लोक १२६५
६. वही, श्लोक १२७६
७. वही, श्लोक १४१, ३९९, ४२७, ४२८

असंयत इन्द्रियों वाले संस्कारहीन वानर के समान चित्तवाले अपथगामी जनों को मैं उचित पथ पर प्रतिस्थापित करूंगा। इस संकल्प के साथ जिन प्राणिमात्र के कल्याण के लिए तुमने क्लेशों को पराजित करके ध्यान की भावना की है, ध्यानपारमिता की साधना की है। पूर्वकाल की उस चर्या को स्मरण करो और क्लेशों से पीड़ित प्राणियों की उपेक्षा न करके प्रजाओं को ध्यान-एकाग्रता में स्थापित करो।[1] तुम काम परायण नहीं हो, धर्म-कर्मों के साथ ध्यान-सुखों में विहार करते हो।[2] इसी भांति आस्फानक-ध्यान के प्रसंग में 'मैं वज्र के समान दृढ़ और स्थिर होकर आस्फानक ध्यान लगाऊँ, जिस ध्यान को प्रत्येक बुद्ध भी कर पाने में समर्थ नहीं होते।[3] आश्वास अर्थात् बलवान् (वीर्यपारमिता) संपन्न करके, बोधिसत्त्व ने श्वास-प्रश्वास को भी निरुद्ध करके, समस्त चेष्टाओं से रहित होकर, आकाश-धातु-पर्यन्त अर्थात् संपूर्णरूप से शून्यभाव को प्राप्त होकर, ६ वर्षों तक शीत-आतप को सहते हुए, आस्फानक ध्यान किया। इस आस्फानक ध्यान के समय उन्होंने न वृष्टि से बचाव किया, न मच्छर-दंश, वृश्चिक, सर्प आदि से। वे सर्वथा अविक्षुब्ध रहकर आस्फानक ध्यान कर रहे थे। यह आस्फानक ध्यान वे केवल अपने लिए नहीं, अपितु महाकरुणा से प्रेरित होकर वे सकल-लोक के कल्याण के लिए कर रहे थे।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि ललितविस्तर में ध्यानपारमिता की साधना का विस्तारपूर्वक विवरण अथवा साधना का वर्णन किया गया है।

प्रज्ञापारमिता—जैसाकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है छओं पारमिताओं में प्रज्ञापारमिता ही प्रधान है। इसके पूर्व की पांचों पारमिताएं प्रज्ञा तक पहुंचाने की सोपान हैं। प्रज्ञापारमिता तक पहुंचकर बोधिसत्त्व प्रज्ञा द्वारा समस्त क्लेशों का उच्छेद करते हैं। प्रज्ञापारमिता का विवरण एवं वर्णन ललितविस्तर में अन्य पारमिताओं की अपेक्षा कहीं अधिक हुआ है? कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—हे बोधिसत्त्व तुमने यह संकल्प लिया था कि सैकड़ों धर्मों का दर्शन करने वाले, मोह और अविद्या के अंधकार में फंसे हुए जगत् को, मैं तत्त्वदर्शन अर्थात् प्रज्ञा प्रदान करूंगा। आज अपनी उस पूर्व चर्या का स्मरण करो और मोह-अविद्या के अंधकार में फंसे हुए जगत् को उत्तम प्रभावशाली

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ५१२, ५१३
२. वही, श्लोक ५३०
३. वही, श्लोक ८०३
४. वही, श्लोक ८०६-८१०

प्रज्ञा तथा निर्मल निरञ्जन धर्मचक्षु (प्रज्ञापारमिता) प्रदान करो।[1]

जिस प्रकार घने अंधेरे में आँखों के असमर्थ होने से, मनुष्य मूढ़ होकर व्याकुल होता है, उसी प्रकार बुरी दृष्टियों के जाल में फंसे हुए देवता और मनुष्यों को तुम प्रज्ञा-प्रदीप प्रदान करो।[2] ललितविस्तर के उपर्युक्त प्रकार के पद्यों में प्रज्ञा-पारमिता के प्राप्त करने और कराने की कामना का निबन्धन हुआ है। आगामी कुछ उदाहरण प्रज्ञापारमिता की पूर्णता के परिणाम के संबंध में द्रष्टव्य हैं—इस पद्य में बोधिसत्त्व द्वारा भवपरिणामवाले आस्रव रूपी शत्रुओं का प्रज्ञारूपी तलवार द्वारा, प्रज्ञापारमिता द्वारा छेदन का कथन हुआ है।[3] यहां प्रज्ञा द्वारा भव-बन्धनों को खोलकर फेंक देने की चर्चा हुई है।[4] इसके अनन्तर के दो पद्यों में भव-बन्धन के तीन कारणों नित्य-अनित्य संज्ञा, सुख-दुःखसंज्ञा तथा आत्म-अनात्म-संज्ञाओं को जीतने की तथा कर्मरूपी समुदाय से उत्पन्न ६ आयतनों के मूलवाली संसार-लता को अनित्यता के प्रसार से, प्रज्ञापारमिता द्वारा ही छेदन करने का कथन करके,[5] मोहरूपी अन्धकार से सघन किये गये, दर्प एवं रोष से संकीर्ण, चिरकाल से व्याप्त अन्धकार को ज्ञानरूपी सूर्य से प्रज्ञापारमिता द्वारा नष्ट कर दिया गया।[6] प्रज्ञापारमिता रूप ज्ञान की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए, ग्रन्थकार कहता है कि मुझे जो ज्ञान प्राप्त हुआ है, उससे राग, द्वेष, मोह, चित्त के वितर्क इस प्रकार सर्वतोभावेन समाप्त हो जाते हैं जैसे दावाग्नि से पतङ्गे।[7]

पारमिताओं की चर्चा प्रारम्भ करते हुए, यह उल्लेख किया गया है कि कुछ बौद्ध ग्रन्थों में दस पारमिताओं को स्वीकार किया गया है, और कुछ में छः पारमिताएँ ही स्वीकृत हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ ललितविस्तर में दस के स्थान पर केवल छः पारमिताएँ ही स्वीकार की गयी हैं। इन छः पारमिताओं में प्रज्ञा-पारमिता सर्वप्रमुख है, वह पूर्ववर्ती पांच द्वारा साध्य है। अन्य पारमिताओं में भी पूर्व के द्वारा परवर्ती की साधना की जाती है। इस प्रसंग में एक बात और

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ५१४-५१५
२. वही, श्लोक ५३७
३. वही, श्लोक १२६६
४. वही, श्लोक १२७२
५. वही, श्लोक १२७३-१२७४
६. वही, श्लोक १२७५
७. वही, श्लोक १२७७

स्मरणीय है कि देखने में दान-शील-क्षान्ति आदि एक विशिष्ट प्रकार की क्रियाएँ प्रतीत होती हैं। क्रिया होने से इनकी बाह्यरूपता की प्रधानता होनी चाहिए और ऐसी स्थिति में इन क्रियाओं के स्थूल रूप का महत्त्व बढ़ता प्रतीत होगा, किन्तु वास्तविकता यह है कि इन सभी का संबन्ध बाह्य अथवा शरीर से न होकर मन से अधिक है। इसीलिए दम्भ के प्रदर्शन के लिए, अपना प्रभाव बढ़ाने आदि की दृष्टि से किया गया दान, दान-पारमिता के क्षेत्र में कभी नहीं आएगा। उसी दान को दानपारमिता माना जाएगा, जो महाकरुणा से प्रेरित होकर किसी को दिया जाए, साथ ही साथ दान के फल का भी त्याग किया जाए। दान के कर्तृत्व का भी विसर्जन किया जाए। ललितविस्तर का यह भावनापक्ष श्रीमद्भगवद्गीता के उस विचार से पूर्णतः साम्य रखता है, जहां किसी भी क्रिया के प्रति अधिष्ठान आदि पांच समूहों को कारण के रूप में बताते हुए, इस स्थिति में भी स्वयं को कर्ता मानने वाला व्यक्ति मूढ़ है, कुछ जानता ही नहीं।[1]

ब्रह्मविहार

बौद्ध-दर्शन में चालीस कर्मस्थान स्वीकार किये गये हैं—दस कसिण, दस अशुभ, दस अनुस्मृति, चार ब्रह्मविहार, चार आरूप्य, एक संज्ञा और एक व्यवस्थान। कसिण आलम्बनों की भावना करते हैं। इन पृथिवी आदि पर चित्त को एकाग्र करने से ध्यान की समाप्ति होती है। असुभ या अशुभ त्याज्य कर्म है। अनुस्मृति बुद्धि आदि दस हैं, जिन्हें निरन्तर स्मरण रखना हितकारी है अर्थात् दुःख से छूटने में सहायता मिलती है। ब्रह्मविहार चित्त-विशुद्धि के उत्तम साधन हैं। जीवों के प्रति किस प्रकार सम्यक् व्यवहार करना चाहिए, इसका निदर्शन इनमें किया गया है। बौद्धदर्शन के अनुसार जो साधक इन निम्न-लिखित चार ब्रह्मविहारों की भावना करते हैं, उनकी सम्यक् प्रतिपत्ति होती है। ब्रह्मविहार में साधक सब प्राणियों के हित और सुख की कामना करता है। इनकी कामना से द्वेषभाव की निवृत्ति होती है, फलतः वह समभाव से संपन्न हो

---

१. अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

—गीता १८.१४-१६

जाने के कारण, पक्षपात-रहित हो जाता है और निरपेक्ष भाव से दूसरों के दुख को दूर करने की चेष्टा करता है।

ब्रह्मविहार में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना की जाती है। ये चित्त की सर्वोत्कृष्ट और दिव्य अवस्थाएँ हैं। इन चार की भावना द्वारा राग, द्वेष, ईर्ष्या, असूया, आदि चित्त-मलों की निवृत्ति होती है। योगसूत्रकार पतञ्जलि ने भी इन्हें चित्त-शुद्धि का उपाय माना है। वे इनकी भावना के लिए उचित स्थान का निर्देश भी करते हैं। उनके अनुसार सुखी जनों के प्रति मैत्री, दुःखी-जनों के प्रति करुणा, पुण्यात्माओं के प्रति मुदिता एवं अपुण्यात्माओं के प्रति उपेक्षा की भावना का निर्देश करते हैं।[1] बौद्ध ग्रन्थों में इनके नियमन को आवश्यक नहीं माना गया है। उनके अनुसार प्राणीमात्र के प्रति उनकी भावना करनी चाहिए।

मैत्री—सभी जीवों के प्रति स्नेह एवं सुहृद्भाव की प्रवर्त्तना मैत्री कही जाती है। मैत्री की प्रवृत्ति पर-हित साधन के लिए है। समस्त प्राणियों का उपकार करना द्वेष, द्रोह, और क्रोध की भावना का परित्याग मैत्री-भावना का लक्षण है। मैत्री भावना की सम्यक् निष्पत्ति से द्वेष का उपशमन होता है। राग मैत्री-भावना के अनुकूल प्रतीत होता हुआ भी इसका प्रधान और निकटतम शत्रु है। राग उत्पन्न होने से मैत्री-भावना का संकुचन होने लगता है, इसकी परिधि छोटी होने लगती है। मैत्री की प्रवृत्ति जीवों के शील आदि गुणों के कारण होती है। राग की उत्पत्ति भी गुणों को, विशेषतः अनुकूल गुणों को देखकर होती है। इस प्रकार राग और मैत्री की समानशीलता है। फलतः राग और मैत्री में अनेक बार भेद करना कठिन हो जाता है किन्तु दोनों में एक विशेष अन्तर भी है। मैत्री में स्मृति निरन्तर बनी रहती है, फलतः विवेक भी जागृत बना रहता है, जबकि राग में विवेक और स्मृति का लोप हो जाया करता है। स्मृति का लोप होते ही राग मैत्री को हटाकर आलम्बन में प्रतिष्ठित हो जाता है। अतः मैत्री-भावना के समय विवेक को सुरक्षित रखते हुए, सावधानी पूर्वक भावना करनी चाहिए। रागमूलक सौहार्द्र के मूल में तृष्णा रहा करती है, जबकि मैत्री का सौहार्द्र तृष्णा-वश नहीं होता। वह केवल जीवों की हित-साधना के लिए होता है। राग के मूल में लोभ और मोह अवश्य रहते हैं किन्तु मैत्री की प्रतिष्ठा मोह पर नहीं होती। इसका मूल विवेक-बुद्धि होती है इसी कारण मैत्री-भाव का स्नेह शुद्ध होता है। इसमें लोभ, मोह, द्वेष का

---

१. मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातः चित्त-प्रसादनम्। —यो० सू०।

किंचित्सम्पर्क भी नहीं रहता, जबकि राग का स्नेह अशुद्ध होता है तथा लोभ, मोह और द्वेष की भावना से संश्लिष्ट रहता है। योगसूत्रकार पतञ्जलि सुखी-जनों के प्रति मैत्रीभाव को आवश्यक मानते हैं। दुःखी जन करुणा के पात्र हैं तथा इस सुखी और दुखी-विभाजन में ही विश्व के सभी प्राणी आ जाते हैं।

करुणा—परपीड़ा को देखकर द्रष्टा के हृदय में जो कम्पन होता है, पीड़ा की अनुभूति होती है, और उसे दूर करने का जो संकल्प होता है, उसे करुणा कहते हैं। सामान्यतः यह स्थिति सत्पुरुषों में, दूसरे शब्दों में स्वस्थ मनवाले पुरुषों के हृदय में ही होती है। करुणा से द्रवित चित्त वाला साधु पुरुष दूसरों की हिंसा नहीं करता, अपितु दूसरों के दुःख को सहन ही नहीं कर सकता। अतः करुणा की भावना करने से साधक अथवा बोधिसत्त्व के चित्त का उपशम होता है। योगसूत्रकार पतञ्जलि के अनुसार दुखित जनों के साथ करुणा की भावना करने से चित्त का प्रसादन होता है।

मुदिता—मुदिता ब्रह्मविहार का तृतीय परिकर्म है। मुदिता का अर्थ है हर्षयुक्त रहने अथवा होने की भावना। आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार जो मुदिता की भावना करता है वह दूसरों को संपन्न देखकर हर्षित होता है, उनसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं करता। दूसरों की सम्पत्ति, पुण्य और गुणोत्कर्ष को देखकर उसमें असूया अथवा अप्रीति उत्पन्न नहीं होती। मुदिता की भावना की निष्पत्ति से अरति का उपशम होता है। मुदिता में होने वाली प्रीति संसारी पुरुष की प्रीति नहीं है उस प्रीति में जो हर्ष का उद्वेग होता है, उससे इस भावना का नाश होता है। मुदिता भावना में होने वाला हर्ष प्रशान्त प्रवाह वाला और उद्वेग तथा क्षोभ रहित होता है। पतञ्जलि मुदिता-भावना का आलम्बन पुण्यात्मा जन को मानते हैं किन्तु बौद्धदर्शन में मैत्री आदि के समान ही प्राणिमात्र को ही मुदिता का भी आलम्बन मानते हैं।

उपेक्षा—उपेक्षा भाव में समभाव की प्रधानता होती है। यह समभाव की भावना (उपेक्षा) समस्त प्राणियों के प्रति रखी जाती है। इसमें प्रिय और अप्रिय का भेद नहीं होता। सबके प्रति उदासीन-वृत्ति होती है। इसमें प्रतिकूलता और अनुकूलता दोनों ही आकारों का ग्रहण नहीं किया जाता। फलतः उपेक्षा-भावना की निष्पत्ति होने से विहिंसा और अनुनय दोनों का उपशम हो जाता है। इस भावना का उदय होने पर जिस ज्ञान का उदय होता है, उसमें 'मनुष्य कर्म के आधीन है, कर्मानुसार ही वह सुख से सम्पन्न होता है या दुःख से मुक्त होता है या प्राप्त सम्पत्ति से च्युत नहीं होता।' यही ज्ञान इस भावना का

आसन्न कारण है। मैत्री आदि त्रिविध भावनाओं द्वारा जो विविध प्रवृत्तियां होती हैं, इस ज्ञान द्वारा उनका प्रतिषेध होता है।

बौद्ध-धर्म में इन चारों को ब्रह्मविहार कहा जाता है तथा इन्हें समान रूप से ज्ञान और सुगति को देने वाला माना जाता है। इनमें मैत्री-भावना का विशेष कार्य द्वेष का प्रतिघात करना है, करुणा-भावना का विशेष कार्य विहिंसा का प्रतिघात करना है। मुदिता भावना का विशेष कार्य अरति—अप्रीति का नाश करना है और उपेक्षा-भावना का विशेष कार्य राग का प्रतिघात करना है।

उपर्युक्त प्रत्येक भावनाओं के दो-दो शत्रु हैं। १. आसन्नवर्ती और २. दूरवर्ती। मैत्री भावना का आसन्नवर्ती शत्रु राग है क्योंकि वह मैत्री-भावना से समानता रखता है। व्यापाद उसका दूरवर्ती शत्रु है। दोनों एक दूसरे के प्रतिकूल हैं अतः एक साथ नहीं रह सकते। व्यापाद का उन्मूलन करके ही मैत्री-भावना प्रतिष्ठित हो पाती है। करुणा भावना के आसन्नवर्ती शत्रु शोक और दौर्मनस्य हैं। जिन प्राणियों को पीड़ा आदि देखकर, चित्त में करुणा पनपती है, शोक उनके संबंध में ही उत्पन्न होता है। शोक और दौर्मनस्य की उत्पत्ति सामान्य-जन में होती है, बोधिसत्त्व में अथवा उत्तमकोटि के साधक में नहीं। जिन स्थितियों में करुणा का उदय होता है, उन्हीं परिस्थितियों में शोक और दौर्मनस्य का भी जन्म होता है। करुणा चित्त के विक्षोभ को दूर करती है, जबकि क्षोभ और दौर्मनस्य चित्त-विक्षोभ के हेतु हैं। इसी कारण इन्हें परस्पर आसन्न-शत्रु कहा गया है। विहिंसा इसका दूरवर्ती शत्रु है। करुणा द्वारा उसका शमन या विनाश किया जाता है। सौमनस्य मुदिता-भावना का आसन्नवर्ती शत्रु है। प्राणियों को जिन स्थितियों में देखकर मुदिता-भावना का जन्म होता है, उन्हीं स्थितियों को देखकर ही सौमनस्य (दौर्मनस्य का प्रतिद्वन्द्वी) का भी जन्म होता है। प्रिय और मनोरम परिस्थितियों में अथवा सम्पत्ति से युक्त किन्हीं प्राणियों को देखकर, सौमनस्य और मुदिता दोनों भावनायें जन्म लेती हैं किन्तु सौमनस्य लौकिक सामान्य प्राणियों में जन्म लेता है और मुदिता का बोधिसत्त्व में जन्म होता है अतः सौमनस्य को मुदिता का शत्रु कहा गया है। अरति और अप्रीति इसकी (मुदिता) की दूरवर्ती शत्रु हैं। साधक को मुदिता की अवस्था में इन दोनों प्रकार के शत्रुओं से रक्षा करनी चाहिए।

उपेक्षा-भावना का आसन्नवर्ती शत्रु अज्ञान और असम्मोह से प्रवर्तित उपेक्षा है। जिन लोगों ने क्लेश को नहीं जीता है तथा क्लेशों के मूलभूत सम्मोह दोष को नहीं पहचानता है और शास्त्र का मनन नहीं किया है, ऐसे अज्ञ पुरुष रूपों को देखकर उपेक्षा भाव का प्रदर्शन तो कर सकते हैं किन्तु उनकी उपेक्षा सम्मोह-पूर्वक होने के कारण, क्लेश-प्रहाण की हेतु नहीं बन सकती। यह अन्तर होते

हुए भी दोनों में एक बहुत बड़ी समानता है। ब्रह्मविहार की उपेक्षा-भावना में गुण-दोष के विचार के विना, उदासीन-वृत्ति का अवलम्ब किया जाता है, और अज्ञानमूलक उपेक्षा में भी जीवों के गुण-दोष के विचार के बिना ही उपेक्षावश प्रवृद्धि होती है। दोनों में इस विशिष्ट समानता के कारण ही, इन्हें परस्पर आसन्नवर्ती शत्रु माना गया है। अज्ञानोपेक्षा सामान्य लौकिक जनों में रहती है। राग, द्वेष उपेक्षा-भावना का दूरवर्ती शत्रु है। दोनों से ही उपेक्षा भावना की रक्षा करनी होती है।

समस्त कुशलकर्म इच्छामूलक होते हैं। अतः चारों ब्रह्मविहार के आदि में इच्छा रहती है, मध्य में नीवरण अर्थात् योग के अन्तरायों का परित्याग रहता है और अन्त में अर्पणा-समाधि होती है। प्रथमतः एक जीव अथवा अनेक प्राणियों में इनकी भावना की जाती है। क्रमशः आलम्बन में वृद्धि करके एक ग्राम, एक जनपद, एक राजा, एक दिशा तथा एक चक्रवाल के जीवों के प्रति इनकी भावना करनी होती है। अन्त में सभी प्राणीमात्र इस भावना के आलम्बन बनते हैं।

समस्त क्लेश, द्वेष, मोह और राग पाक्षिक हैं, अतः वे विकार हैं। इनसे चित्त को शुद्ध करने के लिए ये चारों ब्रह्मविहार उत्तम साधन हैं। इनके अभ्यास से जैसे-जैसे आलम्बन का विस्तार होता है, चित्त विशुद्ध हो जाता है। बौद्ध दर्शन के अनुसार जीवों के प्रति कुशल प्रवृत्ति की चार ही प्रवृत्तियां हैं। दूसरे का हित साधन करना (मैत्री), उनके दुःख का अपनयन करना (करुणा), उनकी सम्पन्न अवस्था देखकर प्रसन्न होना (मुदिता), और सब प्राणियों के प्रति पक्ष-पात रहित और समदर्शी होना। इसलिए ब्रह्मविहारों की संख्या चार है। जो साधक इन चारों की भावना करना चाहता है, उसे पहले मैत्री भावना द्वारा जीवों का हित करना चाहिये। तदनन्तर दुःख से अभिभूत जीवों की प्रार्थना सुनकर करुणा-भावना द्वारा, उनके दुःखों का अपनयन करना चाहिए। उसके पश्चात् सुखी-दुःखी लोगों की सम्पन्न अवस्था देखकर मुदिता-भावना द्वारा प्रमुदित होना चाहिए। अन्त में कर्त्तव्य के अभाव में उपेक्षा भावना द्वारा उदासीन-वृत्ति का अवलम्बन करना चाहिए। मैत्री आदि भावनाओं की प्रवृत्ति क यही क्रम है।

ये चारों ब्रह्मविहार यद्यपि अप्रमाण-कोटि के अन्तर्गत आते हैं तथापि प्रथम तीन, क्रमशः तीन ध्यानों को सिद्ध करने में साधन बनते हैं, जबकि चतुर्थ उपेक्षा अन्तिम ध्यान का उत्पादक है। कारण यह है कि मैत्री, करुणा और मुदिता दौर्मनस्य से उत्पन्न व्यापाद, विहिंसा और अरति के प्रतिपक्ष होने के कारण, इनमें सौमनस्य विरहित उपेक्षा सहगत चतुर्थ ध्नान की उत्पत्ति नहीं

होती। उपेक्षा से सहकृत होने के कारण, केवल उपेक्षा में ही अन्तिम ध्यान का लाभ हो पाता है।

ललितविस्तर में उपर्युक्त चारों ब्रह्मविहारों को अत्यन्त आदर दिया गया है। एक स्थल पर शुभ विहार कहा गया है।[1] और अन्यत्र ब्रह्मपथ,[2] वहां इनकी संख्या चार ही है ऐसा संकेत अनेक बार हुआ है।[3] तथागत बोधिसत्त्व को ललितविस्तर में इन चारों ब्रह्मविहारों में कुशल कहा गया है।[4] इनका क्रम यद्यपि प्रायः मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा यही है किन्तु कहीं-कहीं बिना क्रम से ही इनका कथन किया गया है। एक स्थान पर मैत्री के अनन्तर उपेक्षा को रखकर, तब करुणा और मुदिता की चर्चा हुई है। बहुत संभव है यह क्रम-परिवर्तन यहां छन्द के कारण हो गया हो। ब्रह्मविहार के इन चारों अंगों में मैत्री आदि के साथ कभी-कभी 'महा' शब्द को जोड़कर इनकी चर्चा हुई है। उदाहरणार्थ जन्म परिवर्त्त में महेश्वर देवपुत्र, शुद्धावासकायिक देवपुत्रों को सम्बोधन करके, उनके जन्म की चर्चा करते हुए कहते हैं कि—

"योऽसौ मार्षा असंख्येयकल्पकोटिनियुतशतसहस्रसुकृतकर्मदानशीलक्षान्तिवीर्यध्यानप्रज्ञोपायश्रुतचरणव्रततपःसुचरितचरणः महामैत्रीमहाकरुणामहामुदितासमन्वागतः उपेक्षासमुद्गतचित्तः···बोधिसत्त्वो महासत्त्वो मनुष्यलोक उपपन्नः उत्पन्नः"[5] अर्थात् बोधिसत्त्व मनुष्य लोक में उत्पन्न हुए हैं जो दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा इन पारमिताओं से एवं महामैत्री, महाकरुणा, महामुदिता और उपेक्षा इनसे भी जन्मतः समन्वित हैं। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर उन्हें इन चारों से युक्त कहते हुए प्रणाम किया गया हैं—

मैत्रवर्मितकिलेशसूदना सर्वसत्त्वकरुणाय उद्गता।
मोदिप्राप्त परमा उपेक्षका ब्रह्मभूत सुगता नमोऽस्तु ते॥[6]

---

१. प्रविष्टमानस्य शुभैर्विहारैरेकाग्रचित्तस्य समाहितस्य॥
—ल० वि० (वैद्य), परि० I, श्लोक, ६

२. महामैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाब्रह्मपथकोविदस्य······।
—वही, परि० I, पृ० ७, पं० ५

३. चतुर्थब्रह्मविहारनिश्रितदर्शनस्य······।
—वही, पृ० ७, पं० २१

४. महामैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाब्रह्मपथकोविदस्य······।
—वही, पृ० ७, पं० ७

५. वही, परि० ७, पृ० ७६, पं० ८-१४

६. वही, परि० ५, श्लोक ७०

मैत्री आदि चारों ब्रह्मविहारों को धर्मालोकमुखों में स्वीकार करतेहुए, एक स्थल पर ललितविस्तर में इनके महत्त्व की भी चर्चा की गयी है, जो द्रष्टव्य है—"मैत्री धर्मालोकमुखं सर्वोपधिकपुण्यक्रियावस्त्वभिभावनतायै संवर्त्तते। करुणा धर्मालोकमुखं विहिंसापरमतायै संवर्तते। मुदिता धर्मालोकमुखं सर्वारत्यपकर्षणतायै संवर्तते। उपेक्षा धर्मालोकमुखं कामजुगुप्सनतायै संवर्तते।"[1] अर्थात् मैत्री की भावना से सब वस्तुओं में उपधिक अर्थात् द्रव्यसाध्य पुण्यक्रिया का पराभव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि धन-दौलत द्वारा किये गये पुण्य कर्मों की अपेक्षा मैत्री-भावना द्वारा किया गया पुण्यकर्म बढ़कर होता है। करुणा के कारण साधक अहिंसा-परायण हो जाता है, हिंसा से पूर्णतया निवृत्त हो जाता है। करुणा से समस्त प्रकार की अरति की निवृत्ति होती है। उपेक्षा के द्वारा काम के प्रति जुगुप्सा (घृणा) उत्पन्न होती है और उसे काम अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता है।

ललितविस्तर में ब्रह्मविहारों का जो स्वरूप और परिणाम वर्णित हुआ है वह बौद्ध दर्शन में अन्यत्र किये गये वर्णनों से भले ही सर्वशः साम्य नहीं रखता, तथापि दोनों की मूलभावना प्रायः एक ही है।

अष्टाङ्गिक मार्ग

तथागत बोधिसत्त्व द्वारा प्रवर्तित धर्मचक्र में 'धर्म' शब्द पूर्वोक्त से भिन्न कुछ विशिष्ट अर्थ रखता है। इस धर्मचक्र के मूल में महाकरुणा है, साथ में विपश्यना (तत्त्वज्ञान) एवं अष्टांगिक मार्ग का उपदेश है और ६ पारमिताओं का वर्णन है! इन सबकी समष्टि के रूप में है मध्यमाप्रतिपत्, जिसका सार निम्नलिखित है।

अमध्यमाप्रतिपत् अर्थात् अभिनिवेश सभी अनर्थों का मूल है। अतः अभिनिवेश का विसर्जनरूप मध्यमाप्रतिपत् को सर्वात्मना अपनाना चाहिए। दुःख से छूटने का उपाय अष्टांगिक मार्ग है। इस मार्ग (धर्म) के आठ अंग हैं—

१. सम्यग् दृष्टि—कायिक, वाचिक, मानसिक, भले बुरे कर्मों को ठीक-ठीक ज्ञान सम्यग् दृष्टि है। भले बुरे कर्म इस प्रकार हैं[2]—

	बुरे कर्म	भले कर्म
कायिक	१. हिंसा	अहिंसा
	२. चोरी	अ-चोरी
	३. यौन-व्यभिचार	अ-व्यभिचार

---

१. ल० वि० (वैद्य), परि० ४, गद्यभाग, पृ० २३, पं० ३२-३४
२. सांकृत्यायन, राहुल, बौद्धदर्शन, इलाहाबाद, १९७७, पृ० २४

वाचिक	४. मिथ्याभाषण	अ-मिथ्याभाषण
	५. चुगली	न-चुगली
	६. कटुभाषण	अ-कटुभाषण
	७. बकवास	न-बकवास
मानसिक	८. लोभ	अ-लोभ
	९. प्रतिहिंसा	अ-प्रतिहिंसा
	१० झूठी धारणा	न-झूठी धारणा

दुःख, दुःख हेतु, दुःखनिरोध, अष्टाङ्गिक मार्ग का ठीक से ज्ञान ही ठीक दृष्टि (=दर्शन) कही जाती है।

२. **सम्यक् संकल्प**—राग-द्वेष, हिंसा-प्रतिहिंसा से रहित विचार ही ठीक संकल्प है।

३. **सम्यक वाक्**—झूठ, चुगली, कटुभाषण और बकवास से रहित होकर हितकर, सच्ची, मनोहर वाक् सम्यक् वाक् है।

४. **सम्यक् कर्म (कर्मान्त)**—हिंसा, चोरी, व्यभिचाररहित कर्म ही ठीक कर्म है।

५. **सम्यक् आजीव**—प्राणिहिंसा संबंधी जीविकायें झूठी और निम्न जीविकायें हैं जैसे हथियार का व्यापार, प्राणि का व्यापार, मांस का व्यापार, मद्य का व्यापार, विष का व्यापार आदि।

६. **सम्यक् व्यायाम**—बुरी भावनाओं को रोकने और अच्छी भावनाओं के उत्पादन का प्रयत्न—ये सम्यक् व्यायाम हैं।

७. **सम्यक् स्मृति**—काया, वेदना, चित्त और मन के धर्मों की ठीक स्थितियों, उनकी क्षणभंगुरता, अस्थिरता आदि को सर्वदा स्मरण रखना सम्यक् स्मृति है।

८. **सम्यक् समाधि**—चित्त की एकाग्रता को समाधि या योग कहते हैं। ठीक समाधि वह है, जिससे मन के विक्षेपों, अंतरायों, प्रतिपक्षों, विघ्नों आदि को हटाने का सामर्थ्य पैदा हो सके। जिसके द्वारा चित्त की मुक्ति हो सके वही ठीक समाधि है।[1]

आर्यसत्य चार हैं—दुःख, दुःख समुदय, दुःख-निरोध, एवं दुःखनिरोध-गामिनी प्रतिपद। जन्म, जरा, व्याधि एवं मरण, अप्रिय का संयोग, प्रिय का वियोग ये सब दुःख हैं। कामना करने पर काम्य की प्राप्ति न होना भी दुःख

---

१. ल०वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ३०३, पं० ५-१२

है। संक्षेपतः इस रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान इन पाँच स्कन्धों में मान सकते हैं।[1]

सुखानुभूति पूर्वक पुनः पुनः उत्पन्न होने वाली तृष्णा का नाम दुःख समुदय है। तृष्णा का संपूर्णतया वैराग्यपूर्वक निरोध दुःखनिरोध कहलाता है तथा अष्टाङ्गिकमार्ग दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद है। इस प्रकार सर्व प्रथम यह सर्व-विश्वप्रपंच दुःखरूप है यह जानना चाहिए। दुःखसमुदय का प्रहाण करना चाहिए और दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा की भावना करनी चाहिए।[2]

इस प्रकार इस धर्मचक्र के आर्य-मार्ग के आठ अंग और चार आर्यसत्य ये मिलकर धर्मचक्र के बारह आकार बन जाते हैं।[3] इस धर्मचक्रगत धर्म के अंतर्गत बुद्ध, धर्म और संघ ये तीन रत्न हैं[4] जिनकी शरण में पहुँचकर ही कोई मनुष्य समस्त दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

ललितविस्तर में अष्टाङ्गिक मार्ग को मुक्ति या निर्वाण का साधन माना है परन्तु शील, समाधि और प्रज्ञा भी विमुक्ति या निर्वाण का साधन है यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

शीलं समाधि तथ प्रज्ञमयी
गम्भीरदुर्दशदुरोपगमम्।
यो इच्छते विदु विमुक्ति लभे
सो वैद्यराजमनुयातु लघुम्॥[5]

जो देवता यह चाहता है कि उसे शील, समाधि तथा प्रज्ञा से युक्त होकर, गंभीर, कठिनाई से साक्षात्कार की जाने वाली विमुक्ति की उपलब्धि हो, वह वैद्यराज के पीछे-पीछे शीघ्र चले। सब प्राणियों के चित्तों में उठने वाले विचारों को जाना और जानकर देखा कि क्या कोई प्राणी शील में, समाधि में, प्रज्ञा में, पुण्य की मूलभूतचर्या में मेरे समान है। बोधिसत्त्व ने त्रिसाहस्त्र, महासाहस्त्र

---

१. ल०वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ३०३, पं० १२-१३
२. वही, पृ० ३०३ पं० १४-२५
३. एवं हि द्वादशाकारं धर्मचक्रं प्रवर्तितं।
कौण्डिन्येन चाज्ञतिं निर्वृत्ता रतनात्रयः॥ ल०वि० (शास्त्री), श्लोक १४६१
शान्तिभिक्षुशास्त्री ने द्वादशाकार का अर्थ श्लोक १४५८ में अविद्या, संस्कार आदि द्वादश भवाङ्ग किया है।
४. वही, श्लोक १४६२, १४६३
५. वही, १०८

लोकधातु में अपने समान किसी प्राणी को नहीं देखा।[1] शील, समाधि प्रज्ञा और पारमिताओं का समावेश अष्टांगिक मार्ग में ही देखा जा सकता है—

त्रिविध शिक्षा	अष्टाङ्गिकमार्ग	पारमितायें
शील	सम्यक् वचन	सत्यपारमिता
	सम्यक् कर्म	दानपारमिता
	सम्यक् आजीविका	शीलपारमिता
		शान्तिपारमिता
समाधि	सम्यक् व्यायाम	वीर्यपारमिता
	सम्यक् स्मृति	मैत्रीपारमिता
	सम्यक् समाधि	उपेक्षापारमिता
		अधिष्ठानपारमिता
प्रज्ञा	सम्यक् दृष्टि	प्रज्ञापारमिता
	सम्यक् संकल्प	नैष्क्रम्यपारमिता

कुछ आधुनिक विद्वानों के अनुसार पारमिताओं की कल्पना उत्तरकालीन है।[2] समाधि और प्रज्ञा पर पर्याप्त लिखा जा चुका है शील पर प्रकाश डालना आवश्यक है। बौद्ध धर्म में आचार संबंधी नैतिक नियमों का आधार शील है। शील की रक्षा, पालन और गौरव उसी प्रकार करना चाहिए जिस प्रकार टिटहरी अपने अण्डे की, चमरी गाय अपनी पूँछ की, माता इकलौते प्रिय पुत्र की तथा काना पुरुष एकमात्र अपनी आँख की रक्षा करता है।[3] शील शब्द आचार शास्त्र के नियमों के लिए रूढ़ हो गया है। बुद्ध के चार प्रकार के अनुयायी थे, (१) भिक्षु, (२) भिक्षुणी, (३) उपासक और (४) उपासिकायें। गृही उपासकों के लिए पाँच या आठ शिक्षापद हैं।[4] भिक्षुओं के लिए दस शिक्षापद हैं। ललित-विस्तर के अनुसार कोई भी व्यक्ति समाज, राष्ट्र एवं संघ तभी सुरक्षित रहता है जब वह आचार संबंधी, अनुशासन संबंधी नियमों का पालन करता है। मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्तियाँ ही उसे शील सदाचार की ओर प्रवृत्त करती हैं। राज्य के सात अंग हैं (१) राजा (स्वामी), (२) अमात्य, (३) जनपद या राष्ट्र

---

१. ल० वि० (वैद्य), पृ० ६२

२. तिवारी, महेश, निदानकथा, पृ० ५०, ५१

३. विशुद्धिमार्ग, पृ० २३

४. (१) जीवहिंसा से विरति—पाणातिपातावेरमणी

(२) चोरी से विरति—अदिन्नादाना वेरमणी

Contd.

(राष्ट्र की भूमि एवं प्रजा) (४), सुरक्षित नगर एवं राजधानी (५), कोष शासक के कोष में द्रव्यराशि, (६) सेना (दण्ड), (७) मित्र-सुहृत् (Inter state relations)। मूर्धाभिषिक्त रक्षक चक्रवर्ती राजा आपस में मण्डलक्रम का निर्माण करता है और माण्डलिक राजाओं से कहता है आप धर्म से अपना राज्य चलायें अधर्म से नहीं। (१) आप लोग प्राणिवध न करने दें (२) चोरी न करें, (३) काममिथ्याचार न करें, (४) मृषा न बोलें, (५) मेरे विजित राष्ट्र में अधर्म उत्पन्न न हो, अधर्म का आचरण करनेवालों से प्रेम न करें।[1] पंचशील का पालन गृहस्थ बौद्ध उपासकों एवं राजाओं के लिए आवश्यक था। अष्टशील का पालन गृहस्थों के लिए ललितविस्तर में आवश्यक बताया है—मायादेवी ने राजा शुद्धोदन से कहा है—हे देव, मैं आठ अंगों वाले उपोसथ के शीलव्रत एवं श्रेष्ठ उपवास को ग्रहण कर रही हूँ। यहाँ पर कवि ने दस कुशल कर्मों का पालन उनका आचरण भी आवश्यक बताया है।[2] इस प्रकार पञ्चशील का

---

(३) अब्रह्मचर्य से विरति—अब्रह्मचरिया वेरमणी
(४) असत्यवचन से विरति—मुसावादा वेरमणी
(५) मद्यपान से विरति—सुरामेरयमज्जप्पमादट्ठाना वेरमणी
(६) असमय भोजन से विरति—विकालभोजनावेरमणी
(७) नृत्यगानादि से विरति—नच्चगीतवादितविस्सूकदस्सना वेरमणी
(८) मालागन्धादिधारण से विरति—मालागन्धविलेपनधारणमण्डन-विभूसनट्ठाना वेरमणी
(९) उच्चशय्या महाशय्या से विरति—उच्चसयनमहासयना वेरमणी
(१०) सोना-चाँदी-ग्रहण से विरति—जातरूपरजतपटिग्गहणा वेरमणी

१. हन्त भवन्तो मा प्राणिनं घातपिष्यथ, मादत्तादास्यथ, मा कामेषु मिथ्या चरिष्यथ, मामृषा वक्ष्यथ, यावन्मा मे विजिते अधर्ममुत्पद्यते, माधर्मचारिणो रोचेथ। ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १२

२. (क) गृह्णामि देव व्रतशीलवरोपवासं
अष्टांगपोषधमहं जगि मैत्रचित्ता।
प्राणेषु हिंसविरता सद शुद्धभावा
प्रेमं यथात्मनि परेषु तथा करोमि॥

(ख) स्तैन्पाद् विवर्जितमना मदलोभहीना
कामेषु मिथ्य नृपते न समाचरिष्ये।

Contd.

पालन मूर्धाभिषिक्त राजा, माण्डलिक राजाओं, गर्भवती स्त्री, गृहस्थ और भिक्षु सभी के लिए आवश्यक है। सम्यक् वाक् (मृषावचन, पैशुन्यपूर्णवचन, कर्कश-वचन, अनर्थपूर्णवचन का त्याग), सम्यक् कर्म (प्राणातिपातविरति, अदिन्नादान-विरति, कामेषु मिथ्याचार विरति), सम्यक् आजीविका का सम्मिलित नाम ही 'शील' है। सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि को ही 'समाधि' कहते हैं।

इसीलिए धम्मपद में कहा है मार्गों में अष्टाङ्गिक मार्ग श्रेष्ठ है। सत्यों में चार पद (=चार आर्यसत्त्व) श्रेष्ठ है, धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है। मनुष्यों में चक्षुमान (ज्ञाननेत्रधारी) बुद्ध श्रेष्ठ हैं। ज्ञान (दर्शन) की विशुद्धि के लिए यही मार्ग है, दूसरा नहीं। इसलिए, हे भिक्षुओं, इसी पर तुम चलो, यही मार को मूर्च्छित करने वाला है।[1] यह अष्टाङ्गिक मार्ग ही मध्यममार्ग या मध्यमाप्रतिपदा है। प्रथम 'देसना' में धर्मचक्र प्रवर्तन के समय बुद्ध ने इसी मध्यमाप्रतिपदा या अष्टाङ्गिकमार्ग का उपदेश दिया था।

सत्ये स्थिता अपिशुना पुरुषप्रहीणा
संधिप्रलापमशुभं न चमाचरिष्ये ॥

(ग) व्यापाददोषखिलमोहमदप्रहीणा
सर्वा अभिध्यविगता स्वधनेन तुष्टा।
सम्यक् प्रयुक्त अकुहानिलया अनीर्ष्यु
कर्मा यथा दश इमे कुशला चरिष्ये ॥

—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ७६, ७७, ७८

१. मग्गानमट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा।
विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानञ्चचक्खुमा ॥
एसो' व मग्गो नत्थ' ञ्जो दस्सनस्स विसुद्धिया।
एतं हि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं ॥

—धम्मपद, मग्गवग्ग २०।१, २

धम्मपदग्ग, मग्गवग्ग, २७३, २७४ (पंजाबी संस्करण) पृ० १३६

तृतीय अध्याय

ललितविस्तर में सांस्कृतिक तत्त्व

'संस्कृति' शब्द सम उपसर्गपूर्वक डुकृञ् करणे धातु से क्तिन प्रत्यय के योग से निष्पन्न है। सम् और परि उपसर्गपूर्वक 'डुकृञ्' धातु से भूषण एवं संघात अर्थ अभीष्ट होने पर सुट् का आगम होता है।[1] अतः संस्कृति का अर्थ है भूषण भूत सम्यक् कृति। अतः संस्कृति शब्द का अभिप्राय है परिष्करण या परिमार्जन की क्रिया अथवा सम्यक्रूपेण निर्माण का अर्थ ग्रहण किया जाता है। डा० पी० वी० काणे का मत है कि ऋग्वेद (५.७६.२) में प्रयुक्त संस्कृति शब्द का अर्थ धर्म (वर्तन) है।[2]

संस्कृति शब्द का संबंध संस्कार से है जिसका अर्थ है संशोधन करना, उत्तम बनाना, परिष्कार करना। संस्कार व्यक्ति के भी होते हैं और जाति के भी (जातीय संस्कारों को ही संस्कृति कहते हैं। संस्कार का अभिप्राय किसी वस्तु के मल (दोष) को दूर करके उसको सिद्धि-साधक बनाना है। मलापनयन और अतिशयाधान संस्कारों के ये दो रूप हैं, जिनसे शरीर, आत्मा और अन्तः करण की शुद्धि होती है।

संस्कृति का समानार्थी अंग्रेजी शब्द कल्चर (culture) है, जिसका अर्थ है—कृषि, परिष्कार, सभ्यता, धार्मिक विश्वास, पूजा आदि।[3]

---

१. संपरिभ्यां करोतौ भूषणे। अष्टाध्यायी ६.१.१३४
समवाये च। अष्टाध्यायी ६.१.१३५

२. धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० १७६

3. 'A system of religious belief, worship, culture, cultivation, the state of being cultivated, refinement the result of cultivation, a type of civilization, a crop of experimentally grown bacteria or the like cultivate, to improve, well educated, refined'.
chambers, & Twentieth Century Dictionary, New Delhi, 1965, p. 256, 257

टेलर के अनुसार संस्कृति अथवा सभ्यता वह संश्लिष्ट अभियोजना है, जिसमें समाजगत ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिकता, विधि, रस्म-रिवाज तथा लोगों की सभी प्रकार की क्षमताएँ एवं आदतें सम्मिलित रहती हैं।[1] संस्कृति और सभ्यता के विषय में अन्य परिभाषायें भी द्रष्टव्य हैं।[2] गोल्डन वाइसर के

---

1. Culture or civilisation, taken in its wide ethnographic sense, is that complex whole which includes knowledge, belief, art, morals, low custom and any other capabilities and habits acquired by man as a member of society.
   E.B. Tylor, Primitive culture: Researches into the Development of Mythology, Philosophy Religion, Art and custom (1871), 1958 Gloucester, Mass.
2. (A) Culture consists of patterns, explicit and implicit, of and for behaviour acquired and transmitted by symbols, constituting the distinctive achievment of human groups, including their embodiments in artifacts, the essential care of culture consists of traditional (ie. historically derived and selected) ideas and especially their attached values; culture systems may, on the one hand, be considered as products of action. On the other as conditioning elements of further action.
   A. L. Krocber and clyde kluckhohn, 1952. Culture : A critical Review of concepts and Definitions, Harvard University Peabody Museum of American Archeology and Ethnology Paper, Vol. 47, No I, Cambridg, Mass; International Encyclopeadia of the Social Sciences, the Macmillan Company, 1968, Vol. 3, p. 528.
   (B) Our attitudes, beliefs and ideas, our judgements and values, our institutions political and legal, religious and economic, our ethecal codes and codes of etiquette, our books and machine, our sciences, philosophies and philosopher, all of these and many other things constitute culture. A. A. Golden Wiser
   —समाजशास्त्र के मूलतत्त्व, पृ० १७५
   (C) Recent definitions and analyses of culture have grown progressively more abstract, formal and conceptualistic.

Contd.

शब्दों में हमारी प्रवृत्तियां, विश्वास, विचार, निर्णय, मूल्य, संस्थाएँ, राजनीतिक, वैधानिक, धार्मिक और आर्थिक हमारी नैतिक संहितायें और शिष्टाचार के नियम, पुस्तकें, यंत्र विज्ञान, दर्शन. एवं दार्शनिक तत्त्व और दूसरी वहुत सी चीजें संस्कृति में सम्मिलित हैं।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने संस्कृति और सभ्यता के विषय में जो अपने विचार प्रकट किये हैं वे द्रष्टव्य हैं।[1] भारतीय संस्कृति का प्राण या केन्द्रबिन्दु

Behaviour, observed social relations, and material artifacts may provide new data for a construct of culture but are not themselves considered the constituents of culture. Rather, the patterns, norms, rules, and standards, implicit in the behaviour, social relations, and artifacts are considered as the constituents of culture. They are the systems of meanings, ideologies, conventionalised understandings and cognitive and unconscious structures, which may be recognised in a given society with varying degree of consciousness and explicit verbal formulation but which, in any case, are to be brought to conscious awareness and precise formulation by anthropological studies.

International Encyclopedia of the Social Sciences, Vol 3, The Macmillan Company, 1968, p. 541

(D) "Culture is learned behaviour." International Encyclopeadia of the Social Sciences, Vol. 3, p. 528.

१. संस्कृति की जो आत्मा होती है, वह उस संस्कृति के उषाकाल या वसंतकाल में सबसे अधिक पल्लवित देखी जाती है। ज्यों-ज्यों समय बीतता है उसकी तरल दशा कठोर आकृति ग्रहण करती जाती है। वैदिक समय हिन्दुओं का संस्कृति काल (cultural epoch) है। सूत्रग्रन्थों से या लौकिक काव्य (वाल्मीकि के नूतनच्छंदसामवतार:) से उसका सभ्यता युग (civilisation epoch) आरम्भ होता है। इस सभ्यता-युग की आदि प्रवृत्ति ब्राह्मण-काल से ही शुरू हो जाती है। इसका प्रमाण हमारा निरुक्त आगम है। वेद-कालीन निरुक्त तथा ब्राह्मणों के उतरते समय के भाषाविज्ञान का अन्तर संस्कृति और सभ्यता का अन्तर है। यास्क के समय में

Contd.

मोक्ष वा निर्वाण है। सिद्धार्थ गौतम के महाभिनिष्क्रमण का जो मूल्य भारतीय संस्कृति में है, किसी जहाज का उत्तरी ध्रुव की यात्रार्थ निष्क्रमण आधुनिक योरोप के लिए उससे कहीं अधिक मूल्यवान है। एक का आयोजन अनंत की खोज के लिए, दूसरा देश पर विजय पाने के लिए। इसी में दोनों का भेद है।

वैदिक संस्कृत से स्वतन्त्र लौकिक भाषा का विकास भली-भांति हो चुका था।

संस्कृति और सभ्यता का भेद भावगत माना जाता है। कुछ के मत में संस्कृति अंतरात्मा की सूक्ष्मकला का विकास है, सभ्यता स्थूल भौतिक पदार्थों की उन्नति है। परन्तु इतिहास के अंदर इन दोनों का भेद युग-सम्बन्धी है। संस्कृति पहले आती है, सभ्यता बाद की। संस्कृति की भवितव्यता ही है कि उसका अवसान सभ्यता के रूप में हो। यूनानी संस्कृति का ही स्वाभाविक परिणाम रोम की सभ्यता है। इन दोनों को मिलाकर अंग्रेजी में क्लासिकल कल्चर (Classical culture) = Gracco-Roman कहा करते हैं। किसी देश की संस्कृति मनुष्यायु की तरह जन्म-शैशव-किशोर-वृद्धि-यौवन-परिहाणि तथा मृत्यु के अटल क्रम से बँधी हुई होती है। यही उसके विकास की शृंखला या सोपान-मार्ग है। यदि संस्कृति की उपमा ऋतु से दी जाये, तो उसमें वसंत, ग्रीष्म, शरद् और हेमन्त का सा अप्रतिवार्य क्रम दीख पड़ता है। आचार्य वार्ष्यायणि के मत में यही दशा समस्त भाव-पदार्थों की होती है। संस्कृति भी एक भाव-पदार्थ है। संस्कृति के जन्म, वृद्धि ओर ह्रास का निबंधन उन मनुष्यों के साथ ही है, जो उस संस्कृति के अधिकारी हैं। वह एक चेतन पदार्थ की भाँति विकास के नियमों से नियंत्रित होती है। जरा का कारण यौवन नहीं, यौवन का कारण बाल्यभाव नहीं। इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध घटाना भूल है। यह मनुष्य शरीर का स्वभाव या नियति है कि बाल्यकाल के बाद क्रमशः समय आने पर यौवन का उद्रेक और जरा का अभिभव देखना पड़ता है। व्यक्ति की भाँति समाज, राष्ट्र या संस्कृति भी इसी चक्र के आश्रित होकर रहते हैं।

षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः—जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यतीति। जायत इति पूर्वभावस्यादिमाचष्टे······न पूर्वभावमाचष्टे न प्रतिषेधति। १.२।

—इतिहास-दर्शन, पृ० २६-२७, २६

आज अंग्रेजी के culture शब्द के पर्याय रूप में हिन्दी और संस्कृत में संस्कृति शब्द का प्रयोग होता है। इतिहासकारों का कथन है कि 'कृष्टि सृष्टि' शब्द का प्रयोग संस्कृति शब्द के अर्थ में किया गया है।[1] यह भी कहा जाता है कि सभ्यता (civilization) का आन्तरिक प्रभाव ही संस्कृति है। इस प्रकार संस्कृति आत्मा का संस्कार अर्थात् मनुष्य के "संस्कार अच्छे हों" कहा जा सकता है और परवरिश अच्छी होनी चाहिए। संस्कृति के भीतर संस्कार, आध्यात्मिकता, आचार और धर्म, पुनर्जन्म और परलोक, वर्णाश्रम-व्यवस्था, कृषि एवं ग्राम की प्रधानता, राजनीतिक आदर्श, वैयक्तिक जीवन, समष्टिभावना, पुरुषार्थचतुष्टय, बाह्य और आन्तरिक शुद्धि, अवतारवाद, संस्कृति और विकास-पद्धति आदि तत्त्व हैं। अतः संस्कृति के भीतर धर्म, राजनीति, सामाजिक और व्यक्तिगत आचार-व्यवहार, आर्थिक अवस्था भौगोलिक अवस्था, शिक्षा-व्यवस्था तथा साहित्य इत्यादि का समावेश माना जाता है।

जैसा कि भूमिका में कहा गया है यद्यपि दर्शन भी संस्कृति के भीतर ही समाविष्ट है तथापि इसे पृथक् रखा गया है।

(क) धार्मिक अवस्था

ललितविस्तर में धर्म

इन एक सौ आठ कर्त्तव्यों का ललितविस्तरकार ने धर्मालोकमुख के नाम से वर्णन किया है। इनमें से प्रथम से अन्तिम तक उतरोत्तर उत्कृष्ट, उत्कृष्टतर और उत्कृष्टतम होते चले गये हैं। इनमें अन्तिम कुछ एक ऐसे हैं जो साधन की कोटि में न रखकर सिद्धि अथवा सफलता की कोटि में रखा जा सकता है। किन्तु, क्योंकि इन स्थितियों में सफलता की सर्वोच्च स्थिति अर्थात् तथागत बुद्ध की अवस्था से कुछ हीन रहती है, अतः इन्हें धर्म के रूप में अर्थात् कार्य कर्म के रूप में, साधना के रूप में स्वीकार करना अनुचित नहीं है।

ग्रन्थकार के अनुसार बोधिसत्त्व द्वारा इन धर्मालोकमुख का विवरण होने पर अधिकारिभेद से देवपरिषद् के पार्षदों में भी अपूर्व परिवर्तन दिखाई पड़ने लगा। उदाहरणार्थ चौरासी हजार देव, देवपुत्रों के चित्त में अनुत्तर सम्यक्

---

१. असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समंबहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः।
यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सानो भूमिः पूर्वपेये दधातु ।।
—अथर्ववेद १२.१.२-३

संबोधि का उदय हो उठा, बत्तीस हजार देवपुत्रों में पूर्वकृत परिकर्मों में अनुत्पत्तिक धर्मों के प्रति क्षान्ति की प्राप्ति होने लगी एवं छत्तीस लाख देवपुत्रों की धर्मचक्षु (धर्म-विषयक बुद्धि) रजोगुण से रहित होकर पूर्ण निर्मल हो गयी। इस प्रकार धर्ममुखों के विवरण मात्र से देवपुत्रों के चित्तों में अद्भुत धर्मबुद्धि का उदय हो गया। उसके फलस्वरूप उनके मानस में, उनके व्यवहार में, जिस प्रकार के व्यवहार प्रतिष्ठित होने लगे, उससे सामाजिक धर्म की अपूर्व प्रतिष्ठा होने लगी। सभी जन धर्म के आचरण से प्रवृत्त होने लगे। इस स्थिति में उनके विचारों का स्वरूप निम्नलिखित प्रकार का था।

यह समस्त संसार अनित्य है, कामनाएं भी अनित्य हैं। उन्हें शाश्वत कहना तो दूर की बात है, उन्हें चिरस्थायी भी नहीं कहा जा सकता है। वे सभी माया की किरणों की भांति, विद्युत की चमक की भांति एवं जल में उठे हुए बुलबुले की भांति चंचल हैं। जिस प्रकार नमकीन (खारा) जल पीकर तृप्ति नहीं होती उसी प्रकार कामनाओं की पूर्ति में लगने पर भी तृप्ति नहीं होती है। संसार के सभी जन परस्पर एक दूसरे से सिद्ध होने वाले स्वार्थ के कारण जुड़े हैं संस्कृत धर्मों के प्रसंग में मित्र, बन्धु-बान्धव और परिवार के कोई भी व्यक्ति सहायक नहीं होते, केवल सुकृत अर्थात् अपने पुण्य-कर्म ही संस्कृत धर्मों के प्रसंग में साथी होते हैं। अतः सभी जनों को चाहिए कि सभी धार्मिक-जन परस्पर मैत्रीभाव रखते हुए, एक-दूसरे का हित आचरण करते हुए धर्मों का आचरण करें। सत्कर्मों का आचरण करने वाले कभी पीड़ित नहीं होते।

बुद्ध, धर्म और संघ का अनुस्मरण प्रमाद-रहित होकर करना चाहिए। निरन्तर श्रुत, शील एवं दान में संलग्न रहना चाहिए तथा क्षमा और सौम्य व्यवहार से युक्त रहना चाहिए। यह समस्त संसार दुःखमय, अनित्य, और अनात्म है ऐसा समझना चाहिए। अपने हेतुओं से इनकी अभिव्यक्ति होती है, ये किसी के आधीन नहीं हैं एवं जड़ हैं। भगवान् बुद्ध कहते हैं जिस किसी भी व्यक्ति में, स्वयं उनमें भी, जो कोई ऋद्धि, प्रतिभा ज्ञान अथवा गुण प्रतीत होते हैं, वे सभी गुण और प्रतिभा आदि शील (चरित्र), श्रुत और अप्रमाद के ही परिणाम हैं।

कुशल धर्मों की जीवन में प्रतिष्ठा वाणी मात्र से, पढ़ने अथवा उपदेश देने से नहीं होती बल्कि आचरण से होती है, क्रिया से होती है। धर्माचरण के प्रसंग में दूसरों को कभी मत देखो, स्वयं ही आचरण करने का प्रयत्न करो। कोई भी धर्माचरण द्वारा किसी दूसरे को कुछ नहीं देता बल्कि धर्म-आचरण के अभाव में किसी को जीवन में सफलता सिद्धि प्राप्त नहीं होती। जीवन में जिस दुःख

का चिर काल तक अनुभव किया है, उसे सदा स्मरण रखना चाहिए। सांसारिक सुखों में कभी तृप्ति नहीं होती, अतः उनके प्रति राग का होना ठीक नहीं है। यह विश्व-प्रपञ्च मिथ्या है एवं कारणों के अनुसार नियत है। अतः मनुष्य को चाहिए कि उसे जब भी उचित संगति, उचित देश एवं उचित काल की प्राप्ति हो, वह श्रेष्ठ धर्म को सुने और राग आदि का शमन करे क्योंकि राग आदि ही क्लेश के मूल हैं।

अपना कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह मान, मद, दर्प आदि का विसर्जन कर देवे तथा आर्जव, मधुर भाषण, सरल व्यवहार (शठता का अभाव) करते हुए, निर्वाण के पथ का पथिक बने। उसे चाहिए कि वह प्रज्ञा-रूपी प्रदीप के द्वारा, मोह से उत्पन्न कालुष्य के अन्धकार को दूर कर दे तथा ज्ञान रूपी वज्र से अनुशय आदि दोषजाल को नष्ट कर देवे। इस विषय में एक तथ्य सदा स्मरण रखने योग्य है कि जहां धर्म का तिरस्कार हो रहा हो, वहां कभी निवास न करे।[1] ग्रन्थकार ने इस प्रसंग में तथागत बोधिसत्त्व को वक्ता के रूप में निबद्ध करते हुए, उनके मुख से अत्यन्त स्पष्ट रूप से यह कहलवाया है कि—

धर्मश्च यः श्रुतोऽयं ममान्तिके गौरवमुपजनेत्वा।
तत्र प्रतिपद्यथाःप्राप्स्यथ नियतं सुखमनन्तम् ॥[2]

हे देवपुत्रगण, तुमने मेरे निकट रहकर, आदरपूर्वक जिस धर्म का श्रवण किया है, उस पर आचरण करो, इसके फलस्वरूप तुम नित्य, अनन्त सुख को प्राप्त करोगे।

धर्म की चर्चा और विश्लेषण के प्रसंग में यह स्मरणीय है कि ललित-विस्तरकार ने धर्मालोकमुख के नाम से जिन एक सौ आठ विशिष्ट धर्म-साधना की विशिष्ट अवस्थाओं का वर्णन किया है, इन स्थितियों में साधक द्वारा की जाने वाली क्रियाओं अथवा साधना की संलग्नता को, साधना की कोटि में अर्थात् धर्मसाधना की कोटि में ही रखा है किन्तु उस अवस्था की क्रियाओं अथवा कर्त्तव्यों का निर्धारण करना उनका परिगणन करना संभव नहीं है, अतः कवि ने उन अवस्था विशेषों का नाम लेकर ही उन्हें संकलित किया है। अवस्था विशेष का संकेत होने के कारण ही किसी भी पाठक अथवा समीक्षक को, इनके धर्म होने में सन्देह हो सकता है।

---

१. ल० वि, श्लोक ५८-७३

२. वही (शास्त्री) श्लोक ५७

इन विशिष्ट धर्म आचरण को ग्रन्थकार ने धर्म-आलोक-मुख के नाम से एकत्र संकलित करने के अतिरिक्त, पूजा-सत्कार आदि अनेक ऐसी क्रियाओं का स्थान-स्थान पर निबन्धन किया है, किन्तु उनका विवरण यहां न करके, सांस्कृतिक अध्ययन के प्रसंग में करना उचित होगा।

ललितविस्तरकार ने धर्मपर्याय के श्रवण, ग्रहण, साधुकार, लेखन एवं व्याख्यान आदि के प्रसंग में धर्म के फल की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। उसके अनुसार न केवल धर्मचक्र के उपदेश बल्कि तथागत की साधना आदि का भी विस्तारपूर्वक वर्णन करने वाले ललितविस्तर आदि ग्रन्थ भी धर्मपर्याय कहे जाते हैं। इन्हें अथवा धर्मपर्याय को ग्रहण करने मात्र से साधक को (१) श्रेष्ठ आसन की प्राप्ति (२) गृहपति के आसन की प्राप्ति (३) चक्रवर्ती राजा के आसन की प्राप्ति (४) लोकपालों के आसन की प्राप्ति (५) इन्द्र के आसन की प्राप्ति (६) वशवर्त्ती के आसन की प्राप्ति (७) ब्रह्मा के आसन की प्राप्ति एवं बोधिसत्त्व के आसन की प्राप्ति भी हो जाती है।[1] जो व्यक्ति इस धर्मपर्याय का समर्थन करता है उसे सत्यानुवर्त्ती वाक्, कर्म परिशुद्धि प्राप्त होते हैं, सभी उसके वचनों को ग्रहण करने लगते हैं वाणी में अतिशय मधुरता आदि गुण आ जाते हैं।[2] इस धर्मपर्याय के लेखन से स्मृति, मति, गति, धारणी, प्रतिभा, धर्म, बोधिचित्त आदि निधानों की प्राप्ति हो जाती है।[3] इस धर्मपर्याय को धारण करने से दान, शील, श्रुत, शमथ, विदर्शना, पूण्यज्ञान एवं महाकरुणा के संभार की प्राप्ति होती है। इस धर्मपर्याय के व्याख्यान से चक्रवर्त्ती राज्य, देवों का आधिपत्य, देवेन्द्र, देवपुत्र, संतुषित, सुनिर्मित आदि वैशिष्ट्य प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वशवर्त्ती के देवराज का पद ब्रह्मा को महाब्रह्मा का, तथागत का, अर्हत् का पद भी प्राप्त हो जाता है। इस धर्मपर्याय के व्याख्यान का श्रोता मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, चतुर्विध ध्यान, चार प्रकार की आरुप्य सम्पत्तियां (समाधियां) तथा अभिज्ञता को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार धर्म एवं धर्म से सम्बद्ध साहित्य के साथ सम्बन्ध भी मनुष्य के कल्याण का बीज बन जाता है।

ललितविस्तरकार ने धर्म को धारण करने के प्रसंग में तथागत बोधिसत्त्व तथा बुद्धधर्म पर श्रद्धा न करने को सबसे बड़ा पाप स्वीकार किया है। ग्रन्थकार की मान्यता है कि ऐसे लोगों के मोह (तम) की सीमा का अनुमान भी नहीं किया जा सकता है ······'पश्य आनन्द कियन्तं ते मोहपुरुषा बहु अपुण्य-अभि-

---

१. ल० वि०, पृ० ३१६, पं० १६-२२

२. वही, पृ० ३१६, पं० २४-२७ पृ० ३१७ पं० १,२

३. वही, पृ० ३१७, पं० ६-१०

संस्कारं अभिसंस्करिष्यन्ति, ये बुद्धधर्मान् प्रति क्षेप्स्यन्ति'[1] ऐसे लोग श्रमण होने के भी अधिकारी नहीं रह जाते, ऐसे लोग अनेक पाप संस्कारों से घिर जाते हैं—

'अन्यान् पापकान् अभिसंस्कारान् अभिसंस्करिष्यन्ति । अनर्थिकाश्च ते श्रामण्येन भविष्यन्ति'[2] उसकी यह भी मान्यता है कि चाहे कोई भिक्षु हो या भिक्षुणी, उपासक हो या उपासिका इस सूत्रान्त उपदेश को सुनकर उस पर अविचल विश्वास नहीं करेगा, श्रद्धा और आस्था नहीं रखेगा, उनका सदाचार सुरक्षित नहीं रह सकेगा, वे पतित हो जाएंगे, एवं अवीचि नामक घोर नरक में वे अनन्त-काल के लिए गिर जाएँगे—'विषमसमुदाचाराः खलु पुनस्ते सत्त्वा भविष्यन्ति । ते तेन विषमेन समुदाचारेण अवीचौ महानरके प्रपतिष्यन्ति । तत्कस्य हेतोः ? ये केचिदानन्द-भिक्षवो वा भिक्षुण्यो वा उपासको वा उपासिका वा इमानेवंरूपान् सूत्रान्तान् श्रुत्वा नाधिमोक्षयन्ति न श्रद्धास्यन्ति न प्रतिवेत्स्यन्ति, ते च्युताः समाना अवीचौ महानरके प्रपतिष्यन्ति ।[3]

ग्रन्थकार के अनुसार इसके विपरीत जो तथागत भगवान् के सूत्रान्त को सुनकर उस पर अतिशय श्रद्धा करेंगे । वे मानो सबसे बड़ा धर्म करेंगे । उन्हें प्रसाद (कृपा) की प्राप्ति तो होगा ही, उन्हें एक प्रकार से सभी कुछ मिल जाएगा, उनका जीवन अमोघ होगा, मनुष्य जन्म सफल होगा । उनका समस्त आचरण धर्मपूर्ण होगा । उन्होंने मानो धर्म का सार ही प्राप्त कर लिया है। वे तीनों प्रकार के अपाय अर्थात् दुःखों से मुक्त हो जाते हैं, वे तथागत के पुत्र रूप हो जाते हैं, वे सभी प्राणियों में पूज्य हो जाते हैं, काम का पाश उन पर कोई प्रभाव नहीं डाल पाता। संसार रूपी विषम कान्तार को मानो उन्होंने पार कर लिया है । शोक-रूपी शल्य को उन्होंने निकाल कर फेंक दिया है सर्वविध विनोद का साधन मानो उन्होंने प्राप्त कर लिया है, उन्होंने त्रिशरण को प्राप्त कर लिया है, वे अत्यन्त सम्माननीय और पूज्य होते हैं—

'इमानेवंरूपान् सूत्रान्तान् श्रुत्वा उपपत्स्यते प्रीतिप्रामोद्यम्, प्रसादलाभाः तैः सत्त्वैः सुलब्धाः । अमोघं च तेषां जीवितम्, अमोघं च तेषां मानुष्यम्, सुचरितचरणाश्च ते, आदत्तं च तैः सारम्, मुक्ताश्च ते त्रिभ्योऽपायेभ्यः भविष्यन्ति च

१. ल० वि०, (वैद्य) *गद्यभाग*, पृ० ६४, पं० १५,१६,१७
२. वही, पृ० ६४, पं०२०,२१
३. वही, पृ० ६५, पं० १-४

ते पुत्रास्तथागतस्य, परिप्राप्तं च तैः सर्वकार्यम्, अमोघश्च तेषां श्रद्धाप्रतिलम्भः ······दक्षिणीयाश्चते पूजार्हाः······"[1]

बौद्ध-साहित्य में धर्म-शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है परन्तु यहां दो अर्थ प्रमुख हैं। (१) बुद्ध की शिक्षा, उपदेश और कर्त्तव्य सम्बन्धी सिद्धान्त, (२) अध्यात्म-आलम्बन, बाह्य आलम्बन और दोनों का सामूहिक आलम्बन। ग्राहक भूत-काय आदि आध्यात्मिक आलम्बन हैं, ग्राह्य भूत-काय बाह्य हैं, तथा द्वय इन दोनों की तथता है। अभिधम्मपिटक अथवा अभिधम्मत्थसंगहो आदि में धर्म का द्वितीय अर्थ लिया गया है। प्रथमतः धर्म के दो भेद किये जाते हैं सामान्य धर्म या मौलिक धर्म, तथा गौण धर्म। सामान्य धर्मों को ही महाभूमिक धर्म कहते हैं, इनकी संख्या दस है जो निम्न-लिखित है—(१) वेदना, (२) चेतना, (३) संज्ञा, (४) छन्द, (५) स्पर्श, (६) मति, (७) स्मृति, (८) मनस्कार, (९) अधिमोक्ष और (१०) समाधि, ये दस महाभूमिक धर्म चित्त को आवृत्त करते हैं। गौण-धर्मों की संख्या अनियत है किन्तु उन्हें कुशल, अकुशल और अव्याकृत इन तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। महर्षि कणाद ने लौकिक और अलौकिक कल्याण के साधक तत्त्वों को धर्म कहा है।[2]

५०८ धर्मालोकमुख

कालान्तर में उस सम्पूर्ण आचार के लिए धर्म शब्द रुढ़ सा हो गया, जो आचार एक तो सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाता है दूसरी ओर पारलौकिक कल्याण का साधन करता है। ललितविस्तर में 'धर्म' शब्द का प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में हुआ है। ग्रन्थकार ने इस आचार-दीक्षा को भी बहुत महत्त्व दिया है इसीलिए उसने 'धर्मालोकमुख' नाम से एक स्वतंत्र परिवर्त्त की ही रचना कर डाली है। ब्राह्मण परम्परा में उत्तरकाल में, देव-पूजा सम्बन्धी कार्य-कलाप के लिए धर्म शब्द का प्रयोग होने लग गया है। आधुनिक काल में सामान्यतः इसके लिए ही धर्म अथवा धार्मिक कृत्य शब्द का प्रयोग हो रहा है। ललितविस्तर में इस प्रकार के एक सौ आठ कृत्यों अथवा भावों की चर्चा एक स्थान पर की गयी है, साथ ही उन कृत्यों के सम्पादन करने का प्रयोजन अथवा फल का भी साथ-साथ विवरण निबद्ध किया गया है, जो निम्नांकित है—

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ६५, पं० ६-१२

२. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धः स धर्मः। —वैशेषिकसूत्र १.१.२

१. **श्रद्धा**—ललितविस्तरकार द्वारा गिनाये गये धर्म अथवा धर्मालोकमुख में श्रद्धा प्रथम है। यह कृत्य न होकर एक भाव है जिसके फलस्वरूप प्रत्येक कृत्य के सम्पादन में अथवा व्यक्ति के व्यवहार में एक विशेष प्रकार का परिवर्तन आ जाता है। श्रद्धा के धारण करने से उसके मन का पवित्र भाव अभेद्य बना रहता है छिन्न-भिन्न नहीं होता।

२. **प्रसाद**—प्रसाद का अर्थ है निर्मलता। इसके कारण मन में मलिनता नहीं आती।

३. **प्रमुदिता**—प्रमुदिता का अर्थ है अपने से अधिक सुखी व्यक्ति को देखकर ईर्ष्याग्रस्त न होना। इसे ग्रहण कर लेने से साधक को लोकप्रसिद्धि प्राप्त होती है।

४. **प्रीति**—प्रीति स्नेहपूर्ण भावना को कहते हैं। इसके कारण चित्त भली प्रकार शुद्ध हो जाता है।

५. **कायसंवर**—कायसंवर का अर्थ है शरीर को (स्वयं को) दुष्कर्म से बचाये रखना। यह नियमनात्मक कार्य है, भावमात्र नहीं। इसको अपना लेने से मनुष्य हिंसा, चोरी तथा व्यभिचार आदि दुष्कर्मों से बचा रहता है।

६. **वाक्संवर**—वाक्संवर का अर्थ है वाणी का नियमन, उसके द्वारा असत्य एवं दुर्वचन आदि का प्रयोग न करना। वाक्संवर भी काय-संवर के समान नियमनात्मक कार्य है भावमात्र नहीं। इसकी साधना से साधक वाणी के चारों प्रकार के दोषों से बच जाता है अर्थात् असत्यभाषण, पुरुष-भाषण, विशुनता, असम्बद्ध प्रलाप इत्यादि से बचा रहता है।

७. **मनःसंवर**—मनःसंवर का तात्पर्य है मन का संयम, उसमें दुर्भावनाओं और दुर्विचारों को उठने ही न देना। इसकी साधना से मनुष्य अभिध्या अर्थात् लोभ-लालच की भावनापूर्वक दूसरे की वस्तुओं का चिन्तन, हिंसा अथवा किसी को पीड़ा पहुँचाने की कामना तथा मिथ्यादृष्टि आदि से बच जाता है।

८ **बुद्धानुस्मृति**—बुद्धानुस्मृति का तात्पर्य है बुद्ध के गुणों का निरन्तर चिन्तन, उनके प्रति संपूर्ण भक्ति। इसके परिणामस्वरूप साधक को अपने अन्तःकरण में बुद्ध का अत्यन्त निर्मल दर्शन होता है और वह उनकी शरण में पहुँच जाता है।

९. **धर्मानुस्मृति**—धर्मानुस्मृति में धर्म के उज्वलतम स्वरूप को निरन्तर स्मरण रखना, उसके प्रति समर्पित रहना, शरण- भाव रखना। धर्मानुस्मृति को जीवन में उतार लेने पर उसकी धर्मदेशना अत्यन्त शुद्ध होती है।

१०. **संघानुस्मृति**—संघानुस्मृति का अर्थ है संघ के प्रति स्वयं का समर्पण। संघ के गुणों का निरन्तर चित्त में स्मरण रखना। इसके अनुपालन से न्यायानुक्रमणता अर्थात् निर्दोष गुणों में प्रवेश होता है।

११. **त्यागानुस्मृति**—त्यागानुस्मृति का तात्पर्य है त्याग अर्थात् दान के गुणों का निरन्तर स्मरण. दान की महिमा को कभी न भूलना। इस धर्ममुख को धारण करने से सांसारिक लौकिक पदार्थों के प्रति मोह छूट जाता है और साधक साधना पथ पर बिना बाधा के आगे बढ़ता जाता है।

१२. **शीलानुस्मृति**—शील के शुभ आचरणों के गुणों की निरन्तर स्मृति को शीलानुस्मृति कहते हैं। इसके अनुपालन से प्राणिधान होता है अर्थात् चित्त की अभिलाषा की पूर्ति हो जाती है।

१३. **देवतानुस्मृति**—देवताओं के गुणों को निरन्तर स्मरण करने को देवतानुस्मृति कहते हैं। इसके अनुपालन से चित्त उदार होता है। मन की संकीर्णता मिट जाती है।

१४. **प्राणिमात्र के प्रति निर्वैर**—प्राणिमात्र के प्रति निर्वैर भाव को मैत्री कहते हैं। मैत्री भाव से प्राप्त पुण्यसंभार द्रव्यसंभार से प्राप्त पुण्यसंभार से कहीं अधिक होता है। फलतः साधक अनन्त पुण्य-फलों को प्राप्त करता है।

१५. **करुणा**—लोकगत समस्त प्राणियों के दुःख को अपना दुःख है ऐसा अनुभव करना करुणा कहलाता है। इसके पालन से सब प्रकार की हिंसा से निवृत्ति हो जाती है।

१६. **मुदिता**—मुदिता का अर्थ है हर्ष। पतञ्जलि ने सज्जनों के प्रति मुदिता-वृत्ति को स्वीकार करने की बात कही है। इस वृत्ति की साधना से चित्त की विकलता का निस्सरण होता है, चित्त का प्रसादन होता है।

१७. **उपेक्षा**—तटस्थभाव को उपेक्षा कहते हैं। इसकी भावना से काम के प्रति घृणा होकर अधःमार्ग अर्थात् पतन से निवृत्ति होती है।

बौद्ध-परम्परा में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना को ब्रह्म-विहार के नाम से स्वीकार करते हुए विशेष महत्त्व दिया गया है।

१८. **अनित्यप्रत्यवेक्षा**—विश्व के समस्त पदार्थों में अनित्यता की भावना ही अनित्य प्रत्यवेक्षा है। इसकी भावना से काम-धातु, रूपधातु और अरूपधातु के प्रति राग का उच्छेद होता है।

१९. **दुःखप्रत्यवेक्षा**—विश्व के समस्त पदार्थों में दुःखमयता की भावना का नाम दुःखप्रत्यवेक्षा है। इसकी भावना से प्रणिधान अर्थात् चित्त में उन पदार्थों के प्रति अभिलाषा का पूर्णतया निवारण होता है।

२०. **अनात्मप्रत्यवेक्षा**—चित्त, चैतसिक सभी धर्मों के प्रति अनात्मभाव की भावना करना अर्थात् 'मैं सब धर्मों से परे हूं' इस प्रकार की भावना करना अनात्मप्रत्यवेक्षा कही जाती है। इसकी भावना से अस्मिता का अर्थात् 'मैं हूं' इस प्रकार के आत्माभिनिवेश का नाश होता है।

२१. **शान्तप्रत्यवेक्षा**—निर्वाण परम शान्त है, इस प्रकार की भावना करने को शान्तप्रत्यवेक्षा कहते हैं। इसकी भावना से अनुनय राग की निवृत्ति होती है।

२२. **ह्री**—आत्मलज्जा को ह्री कहते हैं। इसकी भावना से आत्मोपशम होता है, अर्थात् अपने चित्त में पूर्ण शान्ति बनी रहती है।

२३. **अपत्रपा**—लोकलज्जा को अपत्रपा कहते हैं। इसकी भावना से साधक की बाहरी शान्ति बनी रहती है।

२४. **सत्य**—मृषावाद से विराम को सत्य कहते हैं। सत्य की भावना से साधक देवता और मनुष्यों में हर प्रकार की वंचना (विसंवादनता) से बचा रहता है। पतञ्जलि के अनुसार उसकी समस्त क्रियाएं फलवती होती हैं।

२५. **भूत**—यथार्थता के बोध को भूतभावना कहते हैं। इसकी भावना से साधक आत्मवंचना (विसंवाद) से बचता है, उसे अपने आप से धोखा नहीं होता।

२६. **धर्माचरण**—विनयपिटक में उद्धृत आचरण-संबंधी नियमों के पालन को धर्माचरण कहते हैं। इसकी साधना से साधक धर्म की प्रतिशरण होता है धर्म का आश्रय लेकर ही जीवन व्यतीत करता है, अधर्म से बचा रहता है।

२७. **त्रिशरणगमन**—बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाने को त्रिशरण-गमन कहते हैं। इसके फलस्वरूप साधक तीन अपायों अर्थात् नरकयोनि, प्रेत-योनि एवं तिर्यक्-योनि में गिरने से बचा रहता है।

८. **कृतज्ञता**—अपने प्रति किये गये उपकारों की स्मृति रखने को कृत-ज्ञता कहते हैं। इस धर्म के अनुपालन से उसके कुशल-कर्म अर्थात्-पुण्य का मूल नष्ट नहीं होता।

२९. **कृतवेदिता**—कृतवेदिता और कृतज्ञता स्थूल रूप से अभिन्न हैं इनमें अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर है। कृतज्ञता में अपने प्रति व्यवहार को जानना आवश्यक होता है, जबकि कृतवेदिता में उसका निरन्तर अनुभव होता है, फलतः यह भाव साधक के मन में प्रत्येक व्यवहार में झलकता रहता है। इसकी भावना से दूसरों के प्रति गौरव की भावना साधक के चित्त में बनी रहती है।

३०. **आत्मज्ञता**—स्वयं को ठीक-ठीक समझना अर्थात् मिथ्या उच्च भावना (अभिमान) और हीन भावना से ग्रस्त न होना आत्मज्ञता है। इसकी

भावना से साधक में आत्मानुकर्षण अर्थात् मिथ्या अभिमान और आत्मप्रशंसा की भावना उत्पन्न नहीं होती ।

३१. **सत्त्वज्ञता**—समस्त प्राणियों को अपने समान समझने की भावना को सत्त्वज्ञता कहते हैं। इसकी भावना से साधक में परनिन्दा की प्रवृत्ति नहीं होती ।

३२. **धर्मज्ञता**—सत् धर्म के ज्ञान को धर्मज्ञता कहते हैं। इसकी साधना से धर्म के अनुकूल गुणों में साधक की यत्न-सिद्धि होती है।

३३. **कालज्ञता**—सामयिक कर्त्तव्य बोध को कालज्ञता कहते हैं। इसमें सिद्धि मिलने से साधक अमोघदर्शन हो जाता है, अर्थात् कार्य की सफलता औ र असफलता का ज्ञान उसे पहले ही हो जाता है ।

३४. **निहतमानता**—निरभिमान रहने की भावना को निहतमानता कहते हैं। इसकी साधना ज्ञान की परिपूर्णता के लिए की जाती है।

३५. **अप्रहतचित्तता**—चित्त का विचार एवं विवेक में कुण्ठित न होना ही अप्रहतचित्तता है । इसकी साधना अपनी और दूसरों की रक्षा के लिए की जाती है ।

३६. **अनुपनाह**—अनुपनाह का तात्पर्य है वैरानुबन्ध न करना । इस धर्म की भावना का उद्देश्य पश्चाताप की भावना से, स्थिति से बचना होता है ।

३७. **अधिमुक्ति**—धर्म के प्रति अटल लगन का होना अधिमुक्ति है। इसकी भावना से साधक परम अविचिकित्सा को प्राप्त करता है अर्थात् साधक किसी भी प्रसंग में सन्देह अथवा द्विविधा में नहीं रहता ।

३८. **अशुभ प्रत्यवेक्षा**—प्रत्येक सांसारिक पदार्थ को अशुभ या अपवित्र समझना अशुभ प्रत्यवेक्षा कहलाती है । काम-भोग विषयक विचारों का नाश हो जाए इसलिए अशुभ-प्रत्यवेक्षा की जाती है ।

३९. **अव्यापाद**—हिंसावृत्ति से पूर्णतया रहित होकर कल्याण की भावना करने को अव्यापाद कहते हैं। व्यापाद वितर्क अर्थात् हिंसामय प्रवृत्ति एवं अकल्याणभाव की निवृत्ति के लिए इस धर्म की भावना की जाती है ।

४०. **अमोह**—मुग्ध-भाव के अभाव को मोह कहते हैं। सभी प्रकार के अज्ञान के नाश के लिए अमोह की साधना की जाती है ।

४१. **धर्माथिकता**—धर्म के अर्थ की जानकारी को धर्माथिकता कहते हैं। इसकी साधना के फलस्वरूप अर्थ-प्रतिशरणता होती है अर्थात् साधक धर्म के अभिप्रेत अर्थ का आश्रय प्राप्त कर लेता है ।

४२. **धर्मकामता**—धर्म की अभिलाषा को धर्मकामता कहते हैं । इसकी

साधना धर्म का प्रकाश प्राप्त करने के लिए की जाती है।

४३. **श्रुतपर्येष्टि**—सुने हुए धर्मविषक उपदेश के चिन्तन-मनन के ऊहा-पोह को श्रुतपर्येष्टि कहते हैं। योनिशः धर्म-प्रत्यवेक्षणा के लिए अर्थात् सब धर्मों एवं दार्शनिक विषयों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रुतपर्येष्टि की जाती है।

४४. **सम्यक्-प्रयोग**—योगाभ्यास करने को सम्यक् प्रयोग कहते हैं। इस साधना का प्रयोजन सम्यक् प्रतिपत्ति अर्थात् धर्मसाधना की निष्पत्ति है।

४५. **नामरूप परिज्ञान**—नामरूपात्मक भौतिक एवं मानसिक विश्व के बोध को नामरूप परिज्ञान कहते हैं। इसके फलस्वरूप साधक सब प्रकार की आसक्ति से बच जाता है।

४६. **हेतुदृष्टि समुद्घाट**—भव के हेतु में लगी दृष्टियों के विनाश को हेतुदृष्टि-समुद्घाट कहते हैं। इसकी साधना का उद्देश्य ज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति (विद्याधिमुक्ति) है।

४७. **अनुनयप्रतिघप्रहाण**—अनुनय अर्थात् राग एवं प्रतिघ अर्थात् द्वेष के संपूर्णतया विनाश को अनुनय-प्रतिघ-प्रहाण कहते हैं। इसकी साधना का प्रयो-जन साधक के चित्त में ऊंच-नीच के भाव को दूर करना होता है।

४८. **स्कन्धकौशल्य**—रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा तथा संस्कार इन पांच स्कन्धों के स्वरूप ज्ञान के पाण्डित्य को स्कन्ध कौशल्य कहते हैं। इस कौशल्य को प्राप्त करने से दुःखों का पूर्णतया ज्ञान साधक को हो जाता है।

४९. **धातुसमता**—ज्ञानेन्द्रियां, उनके विषयों तथा उन दोनों से उत्पन्न विज्ञानों में विषमता का न होना धातुसमता कहलाती है। इसकी साधना के फलस्वरूप समुदय अर्थात् दुःख के हेतुओं का नाश हो जाता है।

५०. **आयतनापकर्षण**—ज्ञानेन्द्रियों तथा विषयों के द्वारों का खुला होना आयतनापकर्षण कहा जाता है। इसकी साधना अष्टांगिक आर्य-भार्ग की भावना संपन्न होती है।

५१. **अनुत्पाद**—अनुत्पाद का अर्थ है दुःख के उत्पन्न न होने का आनन्तर्य मार्ग अर्थात् क्षान्ति। इसकी साधना दुःख निरोध के साक्षात्कार के लिए की जाती है।

५२. **कायगतानुस्मृति**—शरीर की चेष्टाओं की सावधानता को कायगता-नुस्मृति कहते हैं। इसकी साधना से साधक कायविषयक अविवेकिता अर्थात् शरीर द्वारा होने वाली निरर्थक चेष्टाओं से साधक बच जाता है, उनमें नहीं लगता।

५३. **वेदनागतानुस्मृति**—सुख-दुःख के अनुभव में सावधान रहने, उनके प्रभाव में आकर बेहोश अथवा बेचैन न होने को वेदनागतानुस्मृति कहते हैं। इसके फलस्वरूप वेदनाओं की निवृत्ति होती है।

५४. **चित्तगतानुस्मृति**—चित्त में उठने वाले भावों के प्रति निरन्तर सावधान रहना, चित्तगतानुस्मृति कहलाता है। इसकी साधना के फलस्वरूप साधक अपने चित्त को भी मायामय समझने लगता है।

५५. **धर्मगतानुस्मृति**—सभी धर्मों के प्रति सावधानता को धर्मगतानुस्मृति कहते हैं। इसकी साधना से सभी वस्तु-स्वभावों एवं धर्मों के स्वभावों का वितिमर अर्थात् सुस्पष्ट ज्ञान होता है।

५६. **चार-सम्यक्-प्रहाण**—अनुत्पन्न पाप-धर्मों को उत्पन्न न होने देने के लिए, उत्पन्न पाप धर्मों के विनाश के लिए, अनुत्पन्न पुण्य धर्मों के उत्पन्न होने के लिए, एवं उत्पन्न पुण्य-धर्मों की वृद्धि के लिए यत्न करना चार प्रकार का सम्यक्-प्रहाण कहलाता है। इसकी साधना से सब कुशल धर्म परिपूर्ण हो जाते हैं।

५७. **चार-ऋद्धिपाद**—अभिलाषायुक्त धर्म, चित्तयुक्त धर्म, वीर्ययुक्तधर्म एवं मीमांसा युक्त धर्म ये चार ऋद्धिपाद, कहलाते हैं। इनकी साधना से चित्त में काम (इच्छा) और स्फूर्त्ति विद्यमान रहती है।

५८. **श्रद्धा-इन्द्रिय**—इस इन्द्रिय के कारण मनुष्य बिना किसी अन्य व्यक्ति की सहायता के धर्म के मार्ग पर चलने में समर्थ बना रहता है।

५९. **वीर्य-इन्द्रिय**—इस इन्द्रिय के व्यवहार के फलस्वरूप ज्ञान का चिन्तन निर्बाध हो पाता है।

६०. **स्मृति इन्द्रिय**—इस इन्द्रिय के फलस्वरूप साधक का प्रत्येक कर्म सुकृत होता है और वह सुसंपन्न भी होता है।

६१. **समाधि-इन्द्रिय**—इस इन्द्रिय के कारण साधक के चित्त से राग और द्वेष के बन्धन पूर्णतया छूट जाते हैं।

६२. **प्रज्ञा-इन्द्रिय**—ज्ञान का प्रत्यवेक्षण निर्बाध हो, यह प्रज्ञेन्द्रिय धर्ममुख का प्रयोजन है।

६३. **श्रद्धा-बल**—मार के बल से बच निकलने के लिए श्रद्धा-बल की अपेक्षा होती है।

६४. **वीर्य-बल**—वीर्य-बल का प्रयोजन धर्म के मार्ग से अवैवर्त्तिकता अर्थात् न हटना है।

६५. **स्मृति-बल**—स्मृति-बल का प्रयोजन असंहार्यता है। अर्थात् दूषित मनोवृत्तियां धर्म का हरण न कर सकें, यह है।

६६. **समाधि-बल**—समस्त वितर्क की हानि समाधि-बल का प्रयोजन है ।

६७. **प्रज्ञा-बल**—मूढ़-भाव की पूर्णतया निवृत्ति प्रज्ञाबल का प्रयोजन होता है ।

६८. **स्मृतिसंबोध्यंग**—धर्मों की यथावत् पहचान होना स्मृति-संबोध्यंग का प्रयोजन है ।

६९. **धर्मविचयसंबोध्यंग**—समस्त धर्मों के विश्लेषण को धर्म-विचय-संबोध्यंग कहते हैं। इसका प्रयोजन सब धर्मों में परिपूर्णता प्राप्त करना होता है।

७०. **वीर्यसंबोध्यंग**—इसका प्रयोजन अलौकिक बुद्धिमत्ता प्राप्त करना होता है।

७१. **प्रीतिसंबोध्यंग**—इसका प्रयोजन समाधि में सिद्धि (समाध्यायिकता) प्राप्त करना है ।

७२. **विश्रब्धि संबोध्यंग**—प्रश्रब्धि-संबोध्यंग अवधूत-भाव को विश्रब्धि कहते हैं। इसका प्रयोजन अतिशय तृप्ति को प्राप्त करना है। यह तृप्ति कर्म-विषयक होती है कि जो कुछ करना था कर लिया, अब कुछ करना शेष नहीं है।

७३. **समाधि-संबोध्यंग**—इसका प्रयोजन समस्त धर्मों में समता का बोध होना है, इस स्थिति में चित्त में विषमता का भाव बिल्कुल नहीं रह जाता ।

७४. **उपेक्षा सम्बोध्यंग**—इसका प्रयोजन सब प्रकार की उपपत्तियों अर्थात् नाना-योनियों में जन्म-ग्रहण के प्रति जुगुप्सा-भाव को उत्पन्न करना है ।

७५. **सम्यग्-दृष्टि** – इसका प्रयोजन न्याय-आक्रमणता अर्थात् निर्दोष गुणों में प्रवेश होना है ।

७६. **सम्यक् संकल्प**—सम्यक् संकल्प के द्वारा विविध कल्प अर्थात् सर्व-समर्थतायें पूर्ण हो जाती हैं। संदेह-मिश्रित चारों ओर के कल्प और परिकल्प नष्ट हो जाते हैं ।

७७. **सम्यक्-वाक्**—इसके अभ्यास का प्रयोजन समस्त अक्षरों, शब्दों, ध्वनियों, घोषों और वाक्यों के पथ की प्रतिध्वनियों और समताओं का बोध है ।

७८. **सम्यक् कर्मान्त**– इसके अभ्यास का प्रयोजन अकर्मता अर्थात् कर्म-बन्धन का अभाव तथा अविपाकता अर्थात् कर्माशय से प्राप्त फलबंधन का अभाव होता है ।

७९. **सम्यग्-आजीव**—पवित्र आजीविका को सम्यक् आजीव कहते हैं। इसके अभ्यास का प्रयोजन समस्त इच्छाओं की शान्ति है ।

८०. **सम्यग् व्यायाम**—उचित श्रम को सम्यग् व्यायाम कहते हैं । इसके अभ्यास का प्रयोजन भवसागर के दूसरे किनारे पर पहुंचना है ।

८१. **सम्यक्-स्मृति**--इसके अभ्यास का प्रयोजन धर्म में अनुपयोगी तत्त्वों के विचारों का मन में न उठना है ।

८२. **सम्यक्-समाधि**--इसके अभ्यास का प्रयोजन अचचंल-चित्त समाधि का लाभ प्राप्त करना है ।

८३. **बोधिचित्त**--इसके अभ्यास का प्रयोजन है त्रिरत्न अर्थात् बुद्ध, धर्म और संघ रूपी रत्नों के वंश का उच्छेद न होना ।

८४. **आशय**—आशय का तात्पर्य है संपूर्ण प्राणियों को दुःख से छुड़ाने का उदारभाव । इसका अभ्यास संकीर्णता-पूर्ण धर्म-मार्ग के प्रति स्पृहा की निवृत्ति है ।

८५. **अध्याशय**—बोधिचर्या में अतिशय मनोयोग को अध्याशय कहते हैं । इसके अभ्यास का प्रयोजन उदार बुद्ध, धर्म आदि का आलम्बन लेना होता है ।

८ . **प्रयोग**—बोधिचर्या में पारमिताओं को पूर्ण करने के उद्योग को प्रयोग कहते हैं । इसके अभ्यास का प्रयोजन सब कुशल-धर्मों की परिपूर्त्ति होना है ।

८७. **दानपारमिता**—दानपरमिता का अर्थ दान और उसके फलों का त्याग करना है । इसके अभ्यास से महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों और अस्सी अनुव्यंजनों से युक्त बुद्ध-क्षेत्र की परिशुद्धि होती है । अत्यन्त कृपण प्राणी दानरूपी धर्माचरण में शिक्षित एवं परिपक्व किये जाते हैं ।

८८. **शीलपारमिता**—इसके अभ्यास का प्रयोजन सब अक्षणों अर्थात् नरकयोनि, तिर्यग् योनि, दीर्घायुष देवयोनि, मिथ्यादृष्टि, बुद्धानुत्पाद, म्लेच्छता तथा मूकता इन कुत्सित क्षणों तथा दुर्गतियों से बचना है । साथ ही दुःशील प्राणियों को शील-आचरण में शिक्षित और परिपक्व करना भी है ।

८९. **क्षान्तिपारमिता**—इसके अभ्यास का प्रयोजन सब प्रकार के व्यापाद अर्थात् दूसरों को हानि पहुंचाने की भावना, खिल अर्थात् चित्त की कठोरता, द्वेष, मान, मद और दर्प का विनाश करना तथा व्यापन्न-चित्त प्राणियों को क्षमाभाव में शिक्षित एवं परिपक्व करना है ।

९०. **वीर्यपारमिता**—इसके अभ्यास का प्रयोजन कुशल मूल कर्मों के आरम्भ अनुरञ्जन कर्म में स्वयं को प्रवृत्त किया जाता है । अपने को उत्साह संपन्न करना आलसी प्राणियों को उत्साह संपन्न करना है ।

९१. **ध्यानपारमिता**—इसके अभ्यास का प्रयोजन सब ध्यानों तथा अभिज्ञाओं की उत्पत्ति है । साथ ही विक्षिप्त-चित्त प्राणियों को ध्यान में शिक्षित करके परिपक्व करना भी प्रयोजन है ।

९२. **प्रज्ञापारमिता**—इसके अभ्यास का प्रयोजन अविद्या, मोह, तम एवं अंधकार से उत्पन्न उपलम्भ-दृष्टि अर्थात् शून्यता को न समझने के भाव का प्रहाण है। इसके साथ ही दुष्प्रज्ञ प्राणी को भी शून्यता की शिक्षा देकर, उसमें परिपक्व करना भी इसका प्रयोजन है।

९३. **उपायकौशल्य**—इसके अभ्यास का प्रयोजन समस्त प्राणियों को उनकी दृढ़ श्रद्धा एवं विश्वास के साथ ईर्यापथ अर्थात् चलना, सोना, खड़ा होना, बैठना इन चारों व्यापार के प्रकार को दिखाना तथा सब बुद्ध धर्मों की अविनाश शीलता है।

९४. **चार-संग्रह-वस्तु**—दान, प्रियवादिता, अर्थचर्या और समानार्थता हैं। इनके अभ्यास का प्रयोजन लोकसंग्रह, तथा सम्बोधि-प्राप्त व्यक्ति में धर्मानुसंधान की विशद दृष्टि का बना रहना है।

९५. **सत्त्वपरिपाक**—सत्त्वपरिपाक का अर्थ है सभी प्राणियों को शिक्षा देकर धर्म में परिपक्व करना। इसके अभ्यास का प्रयोजन अपने सुख की तृष्णा का और शोक का किञ्चिन्मात्र भी उत्पन्न न होना है।

९६. **सद्धर्मपरिग्रह**—इसके अभ्यास का प्रयोजन सभी प्राणियों के क्लेशों का नाश करने में समर्थ होना है।

९७. **पुण्यसंभार**—इसके अभ्यास का प्रयोजन सभी प्राणियों का उपजीव्य अर्थात् आश्रय बन सकना है।

९८. **ज्ञान-संभार**—इसके अभ्यास का प्रयोजन तथागत के दशबलों अर्थात् स्थान-ज्ञान बल, अतीत-अनागत-प्रत्युत्पन्न सर्वकर्मसमादानहेतु-विपाक-ज्ञानबल, सर्वसत्त्वेन्द्रिय वीर्य विमात्रता ज्ञान बल, अनेक धातु-नानाधातुलोक-प्रवेश-ज्ञान-बल, सर्वत्र-गामिनी प्रतिपद् ज्ञान-बल, सर्वध्यान-विमोक्ष-समाधि-समापत्ति-संक्लेश-व्यवदान-व्यवस्थापन-ज्ञानबल, अनेकविध-पूर्वनिवास-अनुस्मृति-आसङ्ग ज्ञानबल, निरवशेष सर्वरूप-अनावरण-दर्शन दिव्यचक्षु-ज्ञानबल तथा सर्व-वासनानुसंधिगत निरवशेष सर्वाश्रवक्षय ज्ञानबलों की प्राप्ति होना है।

९९. **शमथसंभार**—शान्ति का अर्जन शामथ-संभार कहलाता है। इसके अभ्यास का प्रयोजन तथागत को सभी समाधियों का लाभ होना है।

१००. विदर्शना—निर्मल अन्तर्दृष्टि को विदर्शना कहते हैं। इसके अभ्यास का प्रयोजन प्रज्ञारूपी नेत्र की प्राप्ति है।

१०१. **प्रतिसंवित्**—विवेक-ज्ञान को प्रतिसंवित् कहते हैं। इसके अभ्यास का प्रयोजन धर्मदृष्टि की प्राप्ति है।

१०२. **प्रतिशरणावतार**—धर्म में दृढ़-विश्वास के साथ प्रवेश को प्रति-शरणावतार कहते हैं। इसके अभ्यास का उद्देश्य धर्म-दृष्टि की प्राप्ति है।

१०३. **धारिणीप्रतिलम्भ**—इसके अभ्यास का प्रयोजन सब बुद्धवचनों को धारण करने की शक्ति प्राप्त करना है।

१०४. **प्रतिभान-प्रतिलम्भ**—अद्भुत प्रतिभा संपन्नता का अर्थ प्रतिभान-प्रतिलम्भ है। इसका फल सब प्रकार के सुभाषितों में संतोषभाव प्राप्त करना है।

१०५. **धर्मज्ञानक्षान्ति**—इस धर्मालोकमुख के दो प्रकार हैं—(१) आनुलोमिक धर्मज्ञान क्षान्ति एवं (२) अनुत्पत्तिक धर्मज्ञानक्षान्ति। धर्मज्ञान से उत्पन्न पाप-कर्म नाश करने वाली विशेष प्रकार की मन की चेतना (सामर्थ्य) को आनुलोमिक धर्मक्षान्ति कहते हैं। इसके अभ्यास का प्रयोजन सब बुद्ध-धर्मों के प्रति अनुकूलता की प्रतिष्ठा है। अनुत्पत्तिक धर्मज्ञान-क्षान्ति के अभ्यास का प्रयोजन भविष्य में होने वाले विवरण को जानने और कहने का सामर्थ्य प्राप्त करना है।

१०६. **अवैवर्तिकभूमि**— समाधि साधना द्वारा प्राप्त भूमिकाओं से पीछे न लौटने की अवस्था को अवैवर्तिकभूमि कहते हैं। इसके अभ्यास का प्रयोजन सब बौद्ध धर्मों की परिपूर्ति है।

१०७. **भूमेर्भूमि-संक्रान्ति-ज्ञान**— एक समाधि की भूमिका से समाधि की दूसरी भूमिका में पहुंचने के ज्ञान को भूमेर्भूमिसंक्रान्तिज्ञान कहते हैं। इसके फलस्वरूप साधक तथागत के सर्वज्ञतापूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेता है।

१०८. **अभिषेकभूमि**—यह अवस्था एक प्रकार से साधना से प्राप्त सिद्धि की अन्तिम अवस्था है। इसके फलस्वरूप इस भूमि में पहुंचा हुआ व्यक्ति अवक्रम अर्थात् गर्भवास, जन्म, अभिनिष्क्रमण (गृहत्याग), दुष्करचर्या, बोधि-मण्डप उपसंक्रमण, मार-ध्वंसन, बुद्धत्त्व-प्राप्ति, धर्मचक्रप्रवर्त्तन तथा महापरिनिर्वाण इन नौ बातों का ठीक-ठीक दर्शन एवं साक्षात्कार कर लेता है।

व्रत एवं तप

वैदिक धर्म, ब्राह्मण धर्म एवं बौद्धधर्म आदि में विविध प्रकार के कामों और अभिलाषाओं की पूर्ति किये जाने के लिए, विविध व्रतों और तपश्चर्याओं के किये जाने की धर्मशास्त्रीय व्यवस्था अथवा साहित्य में प्रसंग प्राप्त होते हैं। उदाहरण के रूप में वाल्मीकि रामायण के दशरथ पुत्र-प्राप्ति के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ करते हैं तो कालिदास-कृत रघुवंश के दिलीप पुत्र-प्राप्ति के लिए ही गौ की सेवा करते हैं। कालिदास की उमा (पार्वती) अभीष्ट-पति की प्राप्ति के लिए घोर तपश्चर्या करती है जिसमें निराहार रहना, यहाँ तक

कि आहार के रूप में सूखे पत्तों का भी प्रयोग उसने त्याग दिया था (अपर्णा) और वन में शीत तथा ताप को भी सहन करती थी। वाल्मीकि रामायण के राम को रावण पर विजय प्राप्त करने के लिए महामुनि अगस्त्य आदित्य-हृदय-स्तोत्र का पाठ करके, आदित्य की पूजा करने का उपदेश देते हैं और राम उसका पालन भी करते हैं।[1] ललितविस्तर में इस प्रकार के लौकिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जप, उपवास, व्रत, तप अथवा उपोसथ[2] के उल्लेख जन्म के लिए सर्वार्थसिद्ध की माता माया देवी और पिता शुद्धोदन में प्राप्त होते हैं। सुजाता प्रतिदिन ८०० ब्राह्मणों को भोजन खिलाती थी कि सिद्धार्थ को सम्यक् संबोधि प्राप्त होवे।[3]

ललितविस्तर के तपस्वी चाहे रामपुत्र रुद्रक हों, चाहे मगध के अन्य तपस्वी अथवा स्वयं तथागत बोधिसत्त्व। सभी की तपश्चर्या का व्रतानुष्ठान का उद्देश्य निर्वाण की प्राप्ति और उसके मार्ग के रूप में समाधि अथवा समापत्ति की प्राप्ति मात्र रहा है। यदि कोई तप अनुष्ठान, समापत्ति आदि का साधन नहीं होता था तो श्रेष्ठ साधक उसे स्वीकार नहीं करता था। दूसरे शब्दों में समापत्ति किसी व्रत एवं तपश्चर्या के करणीय होने की कसौटी रही है।

विविध व्रतों अथवा तपश्चर्याओं के अनुष्ठान की विधि क्या थी, इस प्रसंग में कुछ विधियाँ स्मरणीय हैं—

(१) श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, प्रज्ञा (श्रुतिमयी, चिन्तामयी, भावनामयी) और समाधि।

(२) काम की उपस्थिति—मनुष्य में इच्छा तरह-तरह से व्याप्त है। प्रसन्नता, उत्सुकता, स्वतंत्रता, कामनाओं की पूर्ति की अभिलाषा, तृष्णा, लालसा, उत्कट इच्छा, अध्यवसाय आदि की प्राप्ति और पूर्ति के लिए प्रयास।

(३) अल्पाहार—तिल, तण्डुल, बेर आदि का भोजन।

(४) अनाहार

(५) कामदेव (मार) की आठ प्रकार की सेना पर विजय।[4]

(६) आस्फानक ध्यान

(७) चतुर्विध ध्यान

(८) दैवी शक्तियों की वशवर्तिता

(९) संतुलित आहार सुजाता द्वारा स्वीकार किया, जैसे सर्वार्थसिद्ध

---

१. वाल्मीकि रामायण लं०का० सर्ग १०५
२. ल०वि० (शास्त्री), श्लोक १९२
३. वही, (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १९४
४ वही, (शास्त्री) श्लोक १७, १८

बोधिसत्त्व ने। सुजाता द्वारा अर्पित पायस रूप प्रीतिभोज को भोगकर बोधिसत्त्व ने यह सोचा कि 'मैं सम्यक् संबोधि' का बोध करूँगा। अतः किसी भी लक्ष्य, उद्देश्य, प्रयोजन, साध्य की पूर्ति और सिद्धि तथा उपलब्धि के लिए संतुलित खाद्य-पदार्थ, नियमित भोज्य पदार्थ आवश्यक हैं।

(१०) प्रायः तपस्वीजन किसी श्रेष्ठ गुरुतुल्य (गुरुस्थानी) व्यक्ति के निदेश में रहकर व्रत आदि का अनुष्ठान करते थे। रामपुत्र रुद्रक के साथ रहकर साढ़े सात सौ साधक शिष्यों के साथ तपश्चर्या कर रहे थे।[1]

(११) अनेक बार कुछ साधक स्वयं ही समूह बनाकर साधना करते थे। इसी प्रकार का एक साधक समूह यहाँ साधना में रत दिखाया है।

(१२) कुछ उत्तम साधक परम्परागत साधनाओं से सन्तुष्ट न होकर स्वयं व्रत या तप का अनुसन्धान करते थे। ऐसे साधक के रूप में, साधना करते करते बोधिसत्त्व तथागत ने स्वयं ही तप का मार्ग निर्धारित किया था एवं अकेले ही घोर तपश्चर्या की थी। यद्यपि एकाकी कठोर तप करने से पूर्व ललितविस्तर के अनुसार बोधिसत्त्व ने प्रथम आराद्र कालाप और रुद्रक रामपुत्र के पास जाकर, उसके निदेश में ही व्रत और तप करने की बात सोची थी।[2]

रुद्रक रामपुत्र के साथ व्रत, तप करनेवाले लोग 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतन' तप करते रहे हैं। इस तपश्चर्या अथवा व्रत का अनुष्ठान क्या होता था, इसकी कोई सूचना हमें यहां प्राप्त नहीं है किन्तु इसके परिणामस्वरूप साधक को समापत्ति का लाभ होता रहा है यह विश्वास सभी साधकों को रहा है।[3]

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १८०

२. वही, पृ० १८०

३. यह मार्ग न निवृत्ति, न निर्वाण, न अभिज्ञा, न विराग, न संबोधि, न निरोध (तृतीय आर्यसत्य), न श्रामण (monkhood), न ब्रह्मणिक स्थिति, न उपशम के लिए है। —ल० वि० पृ० १८१ पं० १-२

"Then the Bodhisattva told Rudraka, "Friend, this way which you teach leads neither to distance for the world not the absence of desire, nor to the cessation of rebirth, nor to calm, nor to superior knowledge, nor to Perfect Enlightenment, nor to being a Śramaṇa, nor to Nirvāṇa." Bays, Gwendolyn, the Voice of Buddha, the Beauty of compassion, Vol. 2. 1984, Dharma Publishing, California, p. 375.

गया में बोधिसत्त्व ने सर्वप्रथम जो तपश्चर्या की, उसके स्वरूप का निदेश यहाँ दिया गया है कि पाँच भद्रवर्गीयों के साथ उन्होंने निवास और भोजन तथा तप किया। गयाशीर्ष पर्वत पर उन्होंने प्रहाणार्थी होकर विहार किया, अग्नि-अरणि-जल को आधार बनाकर उन्हें तीन उपमायें सूझीं।[1] उस तपश्चर्या में आत्मनियंत्रण, शरीर को कष्ट देने वाली तीव्रतर कटु वेदना का अनुभव सम्मिलित था।[2]

गया में गयाशीर्ष पर्वत पर विहार करने के पश्चात् बोधिसत्त्व उरुबिल्वा नामक सेनापति ग्राम में पहुँचे, वहां नैरञ्जना नदी के तट को अपनी तपश्चर्या के अनुकूल समझा, वहां ऐसे ग्राम थे जहां भिक्षा सुलभ थी (गोचरग्राम)। नैरञ्जना नदी के पास के भूमि प्रदेश को रमणीय, एकान्त-ध्यान-विहार के अनुकूल जानकर तप के लिए चुना षड्वर्षीय घोर तप वहां बोधिसत्त्व न किया।

ललितविस्तरकार ने कथानायक भगवान बुद्ध की तपश्चर्या के प्रसंग में विविध कठोर (दुष्कर) तप की विधियों का उल्लेख किया है, जिनमें मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं--

(१) आतापनव्रत (२) परितापनव्रत, जो अनेक प्रकार के होते हैं, कायशुद्धि की कामना से किये जाते हैं।[3] (३) मन्त्रविचारक (४) हस्त-प्रलेहक ( ) न याचन (६) अनामन्त्रणक (७) अनेकमूलिक (८) अमत्स्य-मांसक (९) अवार्षिक[4] (१०) सुरातुषोदकवर्जन (११) एक-कुल-भिक्षा-ग्रहण (१२) त्रिकुल भिक्षा ग्रहण (१३) पञ्चकुलाभिक्षाग्रहण (१४) सप्त कुल भिक्षा ग्रहण (१५) मूल-फल-शैवालक-कुश-पत्र-गोमय-गोमूत्र-पासय-दधि-सर्पि-फाणित-आमपिष्टक-भक्षणपान (१६) सारसि-कापोत-संदशिक-उत्सृष्ट प्रक्षालक (१७) ग्राम्यवृत्ति (१८) अरण्यकवृत्ति (१९) गोव्रत (२०) मृगव्रत (२१) श्वव्रत (२२) वराहव्रत (२३) वानरव्रत (२४) हस्तिव्रत (२५) स्थान (२६) मौन (२७) वीरासन (२८) एकालापक (२९) द्वि-आलापक (३०) त्रि-आलापक (३१) चतुरालापक (३२) पंचालापक (३३) षडालापक

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १८१, १८२

२. वही, पृ० १८२

३. नानाविधैश्चातापनपरितापनैः कायशुद्धिं पर्येषन्ते।

—ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १८२

4. Who do not trarvel in the rainy season. Bays Goweldyn the Voice of Buddha Vol. 2, p. 379

(३) सप्तालापक (३५) एकाहोरात्र (३६) चातुर्थ्य (३७) पञ्चान्तराल (३८) षट्कलापान्तराल (३९) पक्षक्षपण (४०) मासक्षपण (४१) चान्द्रायण (४२) गृध्रपक्षधारण (४३) उलूकपक्षधारण (४४) फलासन (४५) मुंगासन (४६) वल्कल निवेशण (४७) दर्भनिवेशण (४८) बल्वजनिवेशन (४९) उष्ट्र-कम्बलनिवेशन (५०) अजकम्बलनिवेशन (५१) केशकम्बलनिवेशन (५२) चर्म-निवेशन (५३) आर्द्रपटशयन (५४) स्तोपक-शयन (५५) जालशयन (५६) भस्म-शयन (५) शर्कराशयन (५८) पाषाणशयन (५९) फलशयन (६०) कण्टक-शयन (६१) तृणशयन (६२) मुसलशयन (६३) शिरोत्कुट्क शयन (६४) स्थण्डिलशयन (६५) एकवास (एकवस्त्र) (६६) द्विवास (६७) त्रिवास (६८) चतुर्वास (६९) पञ्चवास (७०) षड्वास (७१) सप्तवास (७२) बहुवास (७३) नग्नभाव (७४) अनेक स्थान-अस्थान विधियाँ (७५) दीर्घकेश-धारण (७६) दीर्घनख-धारण (७७) दीर्घश्मश्रु-धारण (७८) जटा-धारण (७९) मुकुट-धारण (८०) एक कोल आहार (८१) तिल-आहार (८२) तण्डुल आहार (८३) भस्मम्रक्षण (८४) मसिम्रक्षण (८५) निर्मद्धितम्रक्षण (८६) तमोम्रक्षण (८७) रजोम्रक्षण (८८) पांशुम्रक्षण (८९) पंकम्रक्षण (९०) लोभधारण (९१) मुञ्जधारण (९२) केशधारण (९३) नखधारण (९४) चीवरधारण (९५) पंजरधारण (९६) करंकधारण (९७) उष्णोदकपान (९८) तण्डुलोदक-पान (९९) परिस्रावितपान (१००) काम्बलिकपान (१०१) स्थालीपानीयपान (१०२) अङ्गारधारण (१०३) धातुधारण (१०४) कषायधारण (१०५) त्रि-दण्डधारण (१०६) मण्डिकधारण (१०७) कुण्डिकधारण (१०८) कपालधारण (१०९) खट्वाङ्गधारण (१ .०) धूमपान (१११) अग्निपान (११२) आदित्य-निरीक्षण (११३) पञ्चाग्निसेवन (११४) ऊर्ध्वबाहुस्थिति (११५) तुषादि-अंगार-दाह (११६) निकुम्भसाधन (११७) पक्वशिलापचन (११८) अग्नि-प्रवेशन (११९) जलप्रवेशन (१२०) मरुतीर्थगमन (१२१) मरुतीर्थमरण (१२२) ओंकार वचन (१२३) वषट्कार वचन (१२४) स्वधाकार वचन (१२५) स्वाहाकारवचन (१२६) आशीर्वचन (१२७) स्तुतिचयन (१२८) आवाहन (१२९) जप्यमन्त्रअध्ययन (१३०) मन्त्रधारण (१३१) ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र, विष्णु, देवी, स्कन्द, धात्रियों, रक्षिकाओं, संरक्षिकाओं, कात्यायनी, चन्द्र, सूर्य, वैश्रवण, वरुण, वसु-गण, अश्विनीकुमार, नाग, यक्ष, गंधर्व, असुर, गरुड़, किन्नर, महोरग, राक्षस, प्रेत, भूत, शिवगणों, गणपति, पिशाच, देव-ऋषियों, राजऋषियों, ब्रह्मर्षियों आदि की पूजा करते हैं। (१३२) वे पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, पर्वत, नदी आदि प्राकृतिक शक्तियों को देवरूप में उपासना करते हैं। (१३३) देवताओं के प्रतीक के रूप में घर को, मूर्तियों को,

कलम को, त्रिशूल आदि को नमस्कार करते हैं (१३४) दधि, घृत, (१३५) सरसों, जौ, कपास, मणि, स्वर्ण सूत आदि मांगलिक वस्तुओं में विश्वास करते हैं। इस प्रकार के व्रत और तप ललितविस्तर में वर्णित हुए हैं। ग्रन्थकार के अनुसार इन व्रतों और तपों को पूर्ण शुद्धि का हेतु माना जाता था।[1]

इन तप और व्रतों के अतिरिक्त ६ वर्षों का दुष्करचर्याव्रत किया जाता था, जिसमें दुष्कर से दुष्कर व्रत और तपों का आचरण किया जाता था।[2] यद्यपि इस दुष्करचर्या के सम्बन्ध में लोगों का विश्वास रहा है कि इसका आचरण सर्वसामान्य नहीं कर सकते, इसके लिए केवल बोधिसत्त्व ही समर्थ होते हैं।[3] बोधिसत्त्व इस दुष्करचर्या, तप के क्रम, असंस्कृत भूमि, पर्यङ्क, आसन में बैठकर, अपने शरीर को चित्त के बल से निग्रहीत करते थे।[4] इस साधना के क्रम में हेमन्तक की अष्टक रात्रियों में भी तपश्चर्या की कठिनता के कारण दोनों कक्षों से और ललाट से पसीना टपकता था।[5] इस तप-साधना में साधक के प्राणों का निरोध संपूर्णतया हो जाता था, उसके कानों से उच्च शब्द निकलने लगते थे।[6] और अन्त में उसके श्वास-प्रश्वास उसके शिरःकपाल में उपहनन करने लगता था और उसके बाद आस्फानक ध्यान की सिद्धि होती थी।[7] इस स्थिति में श्वास के अवरुद्ध होने पर अनेक बार यह लगने लगता था कि साधक कालगत हो गया है।[8]

उपर्युक्त प्रकार की कठोर तपश्चर्या का मुख्य उद्देश्य निर्वाण अथवा सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति रहा है[9] अतः इस प्रकार की दुष्करचर्या के सहकारी उपाय के रूप में काम के प्रति नन्दि राग, छन्द, तृष्णा, पिपासा, मूर्छा, परिदाह को

---

१. मन्त्रविचारकैः···खट्वाङ्गधारणैश्च शुद्धिं प्रत्यवगच्छन्ति। ···धारणकरैश्च शुद्धिं प्रत्यवगच्छन्ति। शुद्धं चात्मानं मन्यमानाः इमान् आश्रयन्ते।
—ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १८२-१८३

२. वही, पृ० १८३ पं० २१-२२

३. 'न स कश्चित्···बोधिसत्त्वात्।' —वही, पृ० १८३, पं० २३-२४

४. वही, गद्यभाग, पृ० १८४, पं० ४-६

५. वही, पृ० १८४, पं० ८-६, ११-१२।

६. वही, पं० १४-१५, १६-१७

७. वही, पृ० १८४, १६, २०, २१, १-२।

८. वही, पृ०, १८४ पृ० १८४

६. वही, पृ० १८१

पूर्णतया शान्त किया जाए। ऐसा विश्वास उच्चकोटि के साधकों में रहा है कि काम के प्रति उपर्युक्त प्रकार के लगाव के रहते तपश्चर्या उसी प्रकार सफल नहीं होती, जिस प्रकार कोई गीली लकड़ी लेकर और जल में अरणी रखकर अग्नि की प्राप्ति के लिए, उस (अरणि) का मन्थन करने पर अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती एवं श्रम निष्फल हो जाता है।[1]

यद्यपि बहुधा उच्चकोटि के साधक राग, द्वेष आदि से ग्रस्त रहते हुए, दूसरों की पराजय के लिए तपश्चर्या किया करते थे। ललितविस्तर के अनुसार स्वयं बोधिसत्त्व तपश्चर्या के लिए बैठने के समय राग, द्वेष और मात्सर्य से दूर दिखाई नहीं देते। ललितविस्तर के अनुसार बोधिसत्त्व की तपश्चर्या के उद्देश्य में लोक को आश्चर्यचकित करना, तीर्थिकों के दर्प का नाश करना, अन्य विरोधियों का निग्रह करना, देवों का आवर्जन, उच्छेदवादियों एवं शाश्वत-वादियों का आवर्जन तथा जो कर्म और क्रिया-कलाप से अलग हो गये हैं, उन्हें पुनः कर्म और क्रिया-कलाप में प्रवृत्त कराना आदि रहा है।[2] इनके अतिरिक्त पुण्यफल की उद्भावना, ज्ञानरूप फल की प्राप्ति, ध्यानाङ्गों का विभाजन, काय-बल की स्थिरता का प्रकाशन एवं चित्त में शौर्य का उत्पन्न करना भी उनकी तपस्या के प्रयोजन में सम्मिलित रहा है।[3]

इन उपर्युक्त आत्मकेन्द्रित उद्देश्यों के साथ-साथ समस्त लोक के कल्याण की कामना भी बोधिसत्त्व की रही है, इसका कथन ग्रन्थ के पद्यभाग में किया गया है—

---

१. अथ तर्हि अभव्या एव···तेजः प्रादुष्कर्तुम्।—ल०वि० गद्यभाग, पृ० १८१

२. (क) ल०वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १८४, पं० ३-५

(ख) And so I myself will undertake with purity that which will confound and convert all these opponents. I will make meaningful the time and actions of those whose time and actions have been meaningful. I will demonstrate the meditations of the gods of the realm of both form and meditation by performing great austere practices.

Bays, Gwendolyn, 'The Voice of the Buddha : The Beauty of compassion, Vol. 2, Dharma Publishing Californiya, 1984, p. 382.

३. ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १८४ पं० ५, ६

न च केवलमात्मार्थं न ध्यानस्वादनान्न सुखबुद्ध्या ।
अन्यत्र करुणबुद्ध्या करिष्यत्यर्थं विपुल लोके ॥[1]

चैत्य एवं मंदिर-देवालय

बौद्धों के पूजास्थल और रहने के स्थान को चैत्य कहते हैं ये एक प्रकार के पूजागृह होते थे। ये गुफाओं में पर्वतों को काटकर बनाये जाते थे और आवास-धाम के रूप में भी होते थे। चैत्य में विस्तृत सदन या हाल होता था, जिसमें बौद्ध उपासक और भिक्षु एकत्रित होते थे। चैत्य के दूसरे-दूसरे छोर पर स्तूप होता था, इस स्तूप पर बुद्ध की प्रतिमा उत्कीर्ण होती थी। चैत्य (आवास-धाम) के जिस भाग में स्तूप होता था, वहां परिक्रमा के लिए पथ होता था। चैत्य-धाम की लम्बाई में दोनों ओर सुन्दर कलापूर्ण पाषाण-स्तम्भों की पक्तियां होती थीं। चैत्य का प्रवेश-द्वार विशाल और कलाकृतियों द्वारा अलंकृत होता था। चैत्य में प्रकाश और वायु द्वार पर बने गवाक्षों से आते थे। ऐसी बौद्धधर्मावलम्बी गुफाएं और चैत्य मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र पश्चिमी पंजाब तथा गन्धार, तक्षशिला में अनेकों हैं। इनका निर्माण ई० सन् की दूसरी सदी से दसवीं सदी तक होता रहा।[2]

बौद्ध धर्म के प्रचार और प्रसार में वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, आदि ललितकलाओं का उपयोग किया गया। कला को धर्म से प्रेरणा मिली और वह धर्म की दासी बन गई। ईसा से पूर्व तीसरी सदी से लेकर, ई० सन् की तीसरी और चौथी सदी तक बौद्ध धर्म में उपयुक्त कला का विस्मयकारी विकास हुआ। बौद्ध धर्म में अन्तर्व्याप्त आध्यात्मिकता कला के माध्यम से अभिव्यक्त हुई। सिंहल की श्रीगिरगुफा में, दक्षिण की सिद्धनिवास गुफा में, मध्यप्रदेश की व्याघ गुफा में, एवं मध्य एशिया के प्राचीन कौशेय मार्गों में पनपने वाले समृद्ध विहार और चैत्यों की भित्तियों पर जो रम्य रूप तूलिका के द्वार खुले, उसके नवदर्शन के बिना हमारा सौंदर्य प्रेमी समाज कैसे तृप्त हो सकता है?[3] कला के माध्यम से जन साधारण को बौद्ध धर्म आकर्षक, सरल और सुबोध प्रतीत हुआ।

जैन और बौद्ध-परम्परा में आवास-निवासों और पूजा-गृह के लिए चैत्य शब्द प्रयुक्त होता है, यह सुविदित है। विशिष्ट भिक्षुओं की शरीर से सम्बन्धित

१. ल०वि० (शास्त्री), श्लोक ८१३
२. लूनिया, बी०एन० प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा १९६६, पृ० ३५५-५६
३. अग्रवाल, वासुदेव शरण 'इतिहास-दर्शन', वाराणसी, १९७८, पृ० ९७

वस्तुओं, भोजन-पात्र, तथा उनके द्वारा परिव्यक्त पदार्थों को ले जाकर मनुष्य तो क्या देवतागण भी चैत्यों में स्थापित करते थे, उनकी पूजा करते एवं वार्षिक महोत्सव मनाते थे। ललितविस्तर में अनेकों स्थानों पर चैत्य-प्रतिष्ठा का ब्यौरा दिया है।

जिस कूटागार (रत्नव्यूह परिभोग) में माता की कोख में रहते हुए बोधिसत्त्व बिराजे, उसे सहापति ब्रह्मा तथा ब्रह्मलोकवासी देवपूत्र पूजा के निमित्त चैत्य बनाने के लिए ब्रह्मलोक पहुँचा आए। किसी मनुष्य ने बोधिसत्त्व को गोद में नहीं लिया, देवताओं ने सर्वप्रथम उन्हें गोद में लिया।[1] बोधिसत्त्व के विषय में यह सारा वर्णन चमत्कारयुक्त है। बोधिसत्त्व मानव-प्राणी होने के कारण माता के गर्भ के मल से अछूते नहीं रह सकते थे। मातृशक्ति के गर्भस्थल की सृष्टि रक्त और मांस से होती है रत्नों से नहीं। Bays ने इस पैराग्राफ का अर्थ निम्नलिखित प्रकार से किया है—'The Brahmā and the devaputras of the Brahma realn took away the jeweled Sanctuam (रत्नव्यूह कूटागार परिभोग) in which the Bodhisattva has dwelt while in the womb of his mother, they carried it into the world of Brahmā in order to make a caitya for it and to pay it homage, the Bodhisattva had been touched by nc human being, the gods themselves had received him.[2]

इसी प्रकार बोधिसत्त्व कपिलवस्तु नगर की सीमा से बाहर छोड़कर, जिस जगह से छन्दक कपिलवस्तु में पुनः वापिस आया, उस स्थान पर चैत्य की प्रतिष्ठा की गई और आज भी उस स्थान का नाम 'चैत्य छेदक निवर्त्तन' नाम से विख्यात है।[3] बोधिसत्त्व ने स्वयं अपने केश (चूडा) तलवार से काटकर आकाश में फेंक दिये। उन केशों को त्रयस्त्रिंश लोक के देवताओं ने पूजा के लिए ग्रहण किया, आज भी वहां 'चूडा-महोत्सव' मनाया जाता है, वहां चैत्य की प्रतिष्ठा की गई, वह स्थान 'चूडाप्रतिग्रहण'[4] नाम से प्रसिद्ध है। यहां एक प्रकार से प्रव्रज्या के अंगभूत चूडाकर्म संस्कार का संकेत प्राप्त होता है।[5] बहेलिए

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ६१
2. Bays, Gweldyn, Vol, I, p. 131
३. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १६३
४. वही, पृ० १६४
५. डा० श्रीमती शारदा गांधी 'ललितविस्तर एक सांस्कृतिक दृष्टि' बी० ओ० आर० आई०, पूना (AIOC, 29th sessin), 1978, p. 346, 347

का रूप धारण करने वाले देवपुत्र ने बोधिसत्त्व को काषाय वस्त्र दे दिए और उनसे राजकीय वेषभूषा के सूचक काशी (बनारस) के बने वस्त्र ले लिए। देवपुत्र भक्ति से गद्‌गद् होकर, उन काशी के वस्त्रों को पूजा के लिए देवलोक ले गए। जहां बोधिसत्त्व ने काषाय-वस्त्र ग्रहण किए, वहां चैत्य की स्थापना की गई। आज भी वह चैत्य 'काषायग्रहण' नाम से मशहूर है।[1] बोधिसत्त्व के राजकीय आभूषणों को मौसी प्रजापति ने पुष्करिणी में डाल दिया, आज भी वह 'आभरण-पुष्करिणी' के नाम से विख्यात है।[2] इन पुष्करिणियों की प्रतिष्ठा का लक्ष्य साधारण-प्रजा का हित और उन्हें लाभ पहुँचाना था।[3] बोधिसत्त्व ने जब पांशुकूल (धूल-धूसरित वस्त्र) को धोने के लिए पानी की इच्छा की। देवताओं ने वहां हाथ से पुष्करिणी प्रकट कर दी। आज भी यह जलाशय 'पाणिहता-पुष्करिणी' के नाम से प्रतिष्ठित है। बोधिसत्त्व ने पुष्करिणी के किनारे अर्जुन-वृक्ष के नीचे पांशुकूल को धोया और कौपीन (संघाटी-अधोवस्त्र) बनाने के लिए सिया। यह स्थान आज भी 'पांशुकूलसीवन' नाम से विख्यात है।[4] जिस नैरञ्जना-नदीं में बोधिसत्त्व ने स्नान किया, उसके जल को लाखों-करोड़ों देव-पुत्र चैत्य (आवास-निवासों) में उपयोग तथा पूजा के लिए ले गये।[5] अपरार्क, हेमाद्रि, दानक्रिया कौमुदी, जलाशयोत्सर्गतत्त्व, प्रतिष्ठामयूख, राजधर्मकौस्तुभ

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १६४

२. वही, पृ० १६६

३. 'जनकल्याण के लिए खुदाये गये जलाशयों के चार प्रकार हैं, कूप, वापी, पुष्करिणी और तडाग। कुछ ग्रंथों में लिखा है चतुर्भुजाकार या वृत्ताकार होने से कूप का व्यास ५ हाथ से ५० हाथ तक हो सकता है और इसमें साधारणतः पानी तक पहुँचने के लिए सीढ़ियां नहीं होतीं। वापी वह कूप होता है जिसमें चारों ओर से या तीन, दो या एक ओर से सीढ़ियां हों और जिसका मुख ५० से १०० हाथ तक हो। पुष्करिणी १०० से २०० हाथ व्यास की होती है। तडाग २०० से ३०० हाथ लम्बा होता है। मत्स्य-पुराण (१५४/५१२) के अनुसार वापी १० कूपों के बराबर एवं ह्रद (गहरा जलाशय) १० वापियों के बराबर होता है। एक पुत्र १० ह्रदों के बराबर तथा एक वृक्ष १० पुत्रों के बराबर होता है। पुष्करिणी ४०० हाथ लम्बी और तडाग इसका पांच गुना बड़ा होता है।—काणे, पी० वी० धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग, I, पृ० ४७३

४. ल० वि० (वैद्य), पृ० १६४

५. वही, पृ० १६५

आदि ग्रंथों में कूपों, जलाशयों, पुष्करिणियों आदि की प्रतिष्ठा के विषय में विशद विधि दी है। यह विधि गृह्यपरिशिष्टों, पुराणों, तंत्रों, पञ्चरात्र तथा अन्य ग्रंथों पर आधारित है। धर्मशास्त्र में इस प्रतिष्ठा का लक्ष्य व्यवस्थित कृत्यों के साथ जनता के लिए समर्पण है।[1]

बोधिसत्त्व के केशश्मश्रु (दाढ़ी, मूंछ और केश) को ग्रामनेता की पुत्री सुजाता ने चैत्य की प्रतिष्ठा तथा पूजा के लिए ग्रहण किया है।[2] जिस सुवर्ण-पात्री में बोधिसत्त्व ने मधुपायस खाया, उसे उन्होंने निरञ्जना नदी के जल में फेंक दिये, देवराज इन्द्र उसे चैत्य की प्रतिष्ठा तथा पूजा के लिए त्रयस्त्रिंश-भवन में ले गए। आज भी वहां 'पात्री-यात्रा' नामक पर्व प्रचलित है तथा त्रयस्त्रिंश (३३) देवों में प्रतिवर्ष 'पात्री-महोत्सव' मनाया जाता है।[3] बोधिसत्त्व द्वारा प्रयुक्त भद्रासन को नागकन्या ने चैत्य की प्रतिष्ठा तथा पूजा के लिए ग्रहण किया।[4]

त्रपुष-भल्लिक परिवर्त्त में वैरोचन नामक नीलकायिक देवपुत्र ने चार पाषाण-मय पात्र कुबेर (वैश्रवण) को दिये और उनसे कहा था, इन पात्रों को पूजा के लिए रख देना, ये पात्र चैत्य की तरह पूजित होंगे, शाक्यमुनि नामक बुद्ध को ये पात्र दे दिए जायें।[5] बोधिसत्त्व ने त्रपुष-भल्लिक नामक दोनों भाइयों को आशीर्वाद दिया और स्वस्तिवचन कहे कि चारों दिशायें उनके लिए व्यवसाय-वाणिज्य आदि में लाभकारी और मंगलकारी हों। पूर्वदिशा में 'चापाल' नामक चैत्य ही तायी एवं अर्हन्त बुद्ध वहां रहते हैं, वे आपको आरोग्य एवं कल्पाण प्रदान करें।[6] इसी प्रकार दक्षिण दिशा में 'पद्म' नामक चैत्य है जो आपको आरोग्य और कल्याण प्रदान कर आपकी रक्षा करेंगे।[7]

देवकुल – चैत्य के साथ-साथ ललितविस्तर में देवकुलों का उल्लेख भी प्राप्त होता है। जिनमें शिव, स्कन्द, नारायण, कुबेर, चन्द्र, सूर्य, वैश्रवण, इन्द्र,

---

१. काणे, पी० वी० 'धर्मशास्त्र का इतिहास' भाग I, पृ० ४७३

२. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १६६

३. वही, पृ० १६६, (शास्त्री) श्लोक ८४६

४. वही, पृ० १६६, (शास्त्री) श्लोक ८४८

५. वही, पृ० २७८, (शास्त्री) श्लोक १३१२

६. वही, श्लोक १३४७

७. वही, श्लोक १३५६

ब्रह्मा और लोकपालों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित रहा करती थीं।[1] ललितविस्तर के अनुसार उस काल में यद्यपि इन विविध देवी देवताओं की पूजा हुआ करती थी किन्तु लेखक बोधिसत्त्व के अतिशय प्रभावों को प्रकट करने के लिए सभी देवताओं को बोधिसत्त्व की सेवा अथवा आराधना करते हुए ही वर्णन करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार देवताओं के राजा इन्द्र भी बोधिसत्त्व के वस्त्र (पांशुकूल) के प्रक्षालन के लिए उद्यत रहते थे।[2] इतना ही नहीं, वहां वे तथागत बोधिसत्त्व के जन्म काल में ही उनके समक्ष चरण-वन्दना करते हुए वर्णित किये गये हैं। लेखक की बोधिसत्त्व के प्रति अतिशय आदर-भावना और अन्य देवताओं को उनसे हीन भावना वहां बहुत स्पष्ट प्रकट हो जाती है। बोधिसत्त्व जब देवकुल में जाते हैं तो उन्हें देखकर शिव, स्कन्द आदि की प्रतिमाएँ अपने स्थानों से उठकर नत-मस्तक हो गई।[3]

राजकुमार को प्रथम बार देवालय (देवकुल) में ले जाने का एक विशेष आयोजन किया जाता था। इस अवसर पर राजकुमार को विविध आभूषणों से अलंकृत किया जाता था।[4] नगर की सभी गलियां, चौराहे, बाजार, वन, उपवन आदि सजा दिये जाते थे।[5] नगर के द्वार की विशेष सजावट की जाती थी।[6] सभी ओर सुमधुर बाजे बजाए जाते थे, मगल ध्वनियां की जाती थीं।[7] राजकुमार की इस प्रथम देवकुल (मन्दिर) की यात्रा में न केवल परिवार के लोग सम्मिलित होते थे अपितु अमात्यवर्ग, कोटपाल, राजदौवारिक, परिषदों के सदस्य, मित्र और बन्धु-बान्धव भी साथ जाते हैं, साथ ही पूरा सेना-सन्निवेश भी साथ चलता था।[8]

(ख) ललितविस्तर में राजनीतिक-अवस्था

शासन व्यवस्था

ललितविस्तर के अनुसार उन दिनों राज्यव्यवस्था राजतन्त्र के अधीन थी। राजतन्त्र के प्रधान अधिकारी को राजा कहते थे। राजाओं के अनेक

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ८४, पं० ११-१२
२. वही, पृ० १९४
३. वही, पृ० ८४ पं० १०-१२
४. वही, पृ० ८३ पं० १६-१७
५. वही, पृ० ८३ पं० १०
६ वही, पृ० ८३ पं० १२
७. वही, पृ० ८३ पं० १२-१३
८. वही, पृ० ८४ पं० ४

प्रकार अथवा स्तर थे। चक्रवर्ती राजा उनमें सर्वोच्च होता था। चक्रवर्ती राजा होना किसी भी प्रतापी शासक के लिए गर्व की बात थी। राजाओं में शासन संचालन के साथ धार्मिक प्रवृत्ति भी पर्याप्तमात्रा में हुआ करती थी। धर्म से शासन व्यवस्था संचालन करने वाले राजा के लिए 'धर्मराज' शब्द का प्रयोग होता था—'राजा भवति चक्रवर्ती चतुरङ्गो विजितवान् धार्मिको धर्मराजः सप्त-रत्नसमन्वागतः।'[1] धर्मराज शब्द दूसरी ओर स्वर्ग और नरक की शासन व्यवस्था के स्वामी के लिए प्रयोग होता है। इससे यह अनुमान करना असंगत न होगा कि इस उपाधि का प्रयोग बहुत अतिशय गौरव का विषय माना जाता रहा है।

प्रत्येक चक्रवर्ती राजा के पास चतुरङ्गिणी सेना अवश्य होती थी। इस सेना के बल पर ही वह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता था। चतुरङ्गिणी का अर्थ है चार अंगों वाली सेना। सेना के निम्नलिखित चार अंग हैं— पैदलसेना (पदाति), हाथी सेना, अश्वसेना और रथसेना। मिथिला के राजा सुमित्र के पास बहुत बड़ी सेना थी, जिसमें बहुत सारे हाथी, घोड़े रथ और पदाति सैनिक थे—'स राजा प्रभूत हस्त्यश्वरथपदाति बलकायसमन्वितः।'[2] इस चतुरङ्गिणी सेना की आन्तरिक संघटना कैसी थी इसके सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट विवरण प्राप्त नहीं होता है। किन्तु यह संकेत अवश्य मिलता है कि सेना में प्रमुख अधिकारी अपने पुत्र आदि ही होते थे—'भवति चास्य पुत्रसहस्रं शूराणां वीराणां वराङ्गरूपि-णांपरसैन्यप्रमर्दकानाम्', 'सम्पूर्णं चास्य पुत्रसहस्रं भविष्यति शूराणां वरांग-रूपिणां परसैन्यप्रमर्दकानाम्।'[3]

ललितविस्तर के अनुसार तथागत बोधिसत्त्व के समय में वैदेही कुल मगध में, कौशल राजकुल, वत्सराज अथवा वंशराजकुल, वैशाली का गणराज्य, प्रद्योत का कुल, कंसकुल मथुरा में, पांडवकुल हस्तिनापुर में, सुमित्र राजा का कुल मिथिला नगरी में, तथा शाक्यकुल प्रसिद्ध थे।[4] यद्यपि उस समय प्रमुख राज्य (जनपद) सोलह थे एवं प्रत्येक में अलग-अलग राजकुल शासन कर रहे थे। 'सर्वस्मिन जम्बुद्वीपे षोडशजानपदेषु यानिकानिचिद् उच्चोच्चानि राजकुलानि,

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग पृ० ११, पं० ११, १२
२. वही, पृ० १६ पं० ४
३. (क) ल० वि० (वैद्य) पृ १३, पं० १८, १९
   (ख) वही, पृ० ९६ पं० ७
४. वही, पृ० १४, पं० १५, १६

तानि सर्वाणि······'[1] इन जानपदों में वैशाली भी एक जनपद थी किन्तु ग्रन्थ-कार उसका उल्लेख करके भी वहां किसी राजकुल का संकेत नहीं करता, बल्कि वहां के शासकों में दोष की चर्चा करते हुए बहुवचन का प्रयोग करता है—'तेषां नास्ति धर्माचरणम्, नोच्चमध्यवृद्धज्येष्ठानुपालिता। एकैक एव मन्यते-अहं राजा अहं राजेति'[2] साथ ही वहां का प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को राजा समझता है। इत्यादि उल्लेख को देखकर यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि वहां किसी राजकुल का शासन न होकर गणराज्य था।

इस राजकुल विवरण के प्रसंग में स्मरणीय है कि भारतीय ऐतिहासिक (पौराणिक) परम्परा में, वैदेहकुल मिथिला में माना जाता है जब कि यहां मिथिला की स्वतंत्र चर्चा करके भी वैदेही कुल की स्थिति मगध में स्वीकार की है। इस प्रकार का यह विवरण ग्रन्थकार की ऐतिहासिक जानकारी का अभाव सूचित करता है।

ग्रन्थकार के अनुसार श्रेष्ठ राजकुल ही शासन करने में समर्थ होता है। उसके अनुसार किसी भी राजकुल में निम्नलिखित गुण होने चाहिए—(१) अभिज्ञात होना (२) क्षुद्र एवं उपघाति न होना (३) जाति संपन्न होना (४) गोत्र संपन्न होना (५) पूर्व पुरुष युग से संपन्न होना (६) अभिजात पुरुष युग से संपन्न होना (७) अभिलसित पुरुष युग से संपन्न होना, (८) महेश नामक पुरुष युग से संपन्न होना (९) अनेक स्त्रियों से युक्त होना (१०) अनेक पुरुषों से युक्त होना, (११) निर्भय होना (१२) अदीन एवं अलीन होना (१३) अलुब्ध होना (१४) कुल के लोगों का शीलवान होना (१५) प्रज्ञावान होना (१६) अमात्यजनों द्वारा सुरक्षित होकर भोगयुक्त होना (१७) सफल शिल्पियों से युक्त होना (१८) दृढ़मित्रों वाला होना (१९) तिर्यग्योनिगत प्राणियों की हिंसा करने वाला न होना (२०) कृतज्ञ होना (२१) स्वच्छन्द आचरण वाला न होना (२२) दोष युक्त कार्यों का न करना (२३) मोहवश कार्य में प्रवृत्त न होना (२४) अभयपूर्वक विचरण करने वाला होना (२५) धर्मभीरु होना (२६) मोहरहित होकर विहार करने वाला होना (२७) स्थूल आहार करने वाला (२८) क्रियाओं से अधिमुक्त होना (२९) त्याग से अधिमुक्त होना (३०) दान से अधिमुक्त होना (३१) पुरुषार्थी होना (३२) दृढ़पराक्रमशाली होना (३३) बलविक्रमशाली होना (३४) श्रेष्ठ विक्रम करने वाला होना (३५) ऋषियों की

१. ल० वि० (वैद्य), पृ० १६, पं० ९, १०
२. वही, पृ० १५, पं० १४, १५, १६

पूजा करने वाला होना (३६) देवताओं की पूजा करने वाला होना (३७) चैत्यों की पूजा करने वाला होना (३८) पूर्वप्रेत की पूजा करने वाला होना (३९) वैर बांधनेवाला न होना (४०) दशों दिशाओं में घोषित शब्दवाला अर्थात् जिसका यश सर्वत्र फैला हो ऐसा होना, (४१) विशाल परिवार वाला होना (४२) अभेद्य परिवार होना (४३) अनुत्तर अर्थात् श्रेष्ठ परिवार वाला होना (४४) कुलों में ज्येष्ठ होना (४५) कुलों में श्रेष्ठ होना (४६) कुल में सभी का वशिता सिद्धि से युक्त होना (४७) महेश नामक होना (द्रष्टव्य सं० ८), (४८) माता का आदर करने वाला (४९) पिता का आदर करने वाला (५०) श्रमण लोगों का आदर करने वाला (५१) ब्राह्मणों का आदर करने वाला (५२) प्रभूत धन-धान्य कोष और कोष्ठागार से युक्त होना (५३) प्रभूत हिरण्य-सुवर्ण-मणि-मुक्ता-जातरूप और रजतरूप विनिमय साधनों वाला (५४) बहुत अधिक हाथी, घोड़े, ऊंट, गौ, भेड़, बकरी वाला होना (५५) पर्याप्त दासी, दास कर्मचारी एवं श्रमिकों से युक्त (५६) दुष्प्रधर्ष्य होना (५७) सर्वार्थ-सिद्ध होना (५८) चक्रवर्ती राजाओं वाला (५९) पूर्व कुशल मूल सहायताओं से समृद्ध (६०) बोधिसत्त्व का कुल होना (६१) निष्पाप होना (६२) समस्त जाति संबंधी निन्दा के दोषों से रहित होना इत्यादि चौंसठ गुणों से युक्त होना किसी भी कुल की श्रेष्ठता का प्रमाण होता है।[1] इस प्रसंग में स्मरणीय है कि ग्रन्थकार ने ६४ गुणों की चर्चा करके भी केवल ६२ गुणों का ही परिगणन किया है।

इनके अतिरिक्त मातृशुद्धि, पितृशुद्धि, स्थिरता, विपुल पुण्य-तेज से युक्त होना, उच्चकुल परम्परा, अपरिमित धन-धान्य रत्न, निधि से युक्त होना।[2] उज्ज्वल तेज से युक्त होना, माता-पिता एवं स्वयं के तेज से क्रियाओं को संपन्न करने का सामर्थ्य, परस्पर न्यायवादिता, धर्माचरण, उच्च, मध्य, ज्येष्ठ एवं वृद्धजनों की मर्यादा का निर्वाह।[3] शूरवीर, वराङ्गरूप सम्पन्नता, शत्रु सेना का विमर्दन करना,[4] प्रभूत हाथी, घोड़े, रथ, पदाति सेना से युक्त होना, प्रभूत हिरण्य सुवर्ण-मणिमुक्ता, वैदूर्य, शंख, शिला, प्रवाल-जातरूप, रजत आदि वित्त उपकरणों से युक्त होना मित्रवान होना, धर्मप्रियता, राजा का युवा होना, सन्तान उत्पादन में सक्षम होना इत्यादि।[5]

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १६, पं० १६, पृ० १७ पं० १४
२. वही, पृ० १५, पं० २,६
३. वही, पृ० १५, पं० ९, १०, १५
४. वही, पृ० १६ पं० २७, २८
५. वही, पृ० १६, पं० ३-५,७

ललितविस्तरकार के अनुसार राजकुलों में कुछ विशिष्ट दोष भी हुआ करते हैं, जो निम्नलिखित हैं—जारज सन्तान से युक्त होना, चंचलता, अनवस्थितता।[1] नीचकुल से संबंध हीन अधिमुक्ति,[2] गंवार होना, क्रोधी होना, परपुरुष से संबंध होना, तेजहीन होना, उच्छेदवादी विचारधारा का होना, अहंमन्यता, शिष्यत्व का अभाव[3], चण्द्र, चपल, रौद्र, कठोर तथा अभद्र कार्यों के लिए साहस करने की प्रवृत्ति होना,[4] मिथ्यादृष्टि युक्त होना, दस्यु स्वभाव का होना,[5] राजा का अतिवृद्ध होना तथा सन्तान उत्पत्ति में समर्थ न होना, इत्यादि।[6]

ललितविस्तरकार के अनुसार किसी भी कुल या राजकुल के सबसे प्रमुख गुण हैं कुलीनता, विशुद्ध गोत्र होना, सम्पत्तिशाली होना, निश्छलता, आकुलता रहित होना, गौरवशाली होना, सज्जन और धार्मिक होना, शुद्ध विचारों वाला होना, तथा उद्यान, आराम, विहार आदि साधनों से संपन्न होना—

शुद्धोदनो राजकुले कुलीनो
नरेन्द्रवंशे सुविशुद्धगोत्रः।
ऋद्धं च स्फीतं च निराकुलं च
सगौरवां सज्जन धार्मिकं च॥
अन्येऽपि सत्त्वा कपिलाह्वये पुरे
सर्वे सुशुद्धाशय धर्मयुक्ताः।
उद्यान आराम विहार मण्डिता
कपिलाह्वये शोभति जन्मभूमिः॥[7]

किसी भी राजकुल में विद्यमान पुरुष और स्त्रियां गुणशाली हों, यह भी आवश्यक है। ललितविस्तरकार के अनुसार—कुलीन माता-पिता की सन्तान होना, कुलीन पत्नी युक्त होना, सुन्दर पुष्ट डील-डौल वाला होना, पुण्य और तेज से युक्त होना, प्रतिष्ठित कुल में जन्म लेना, चक्रवर्ती राजाओं के कुल का

१. ल० वि० (वैद्य), पृ० १५, पं० १, ५
२. वही, पृ० १५ पं० ५
३. वही, पृ० १५ पं० ६-१५, १६
४. वही, पृ० १५, पं० २०
५. वही, पृ० १५, पं० २५
६. वही, पृ० १६, पं० ७
७. वही, श्लोक ३७, ३८

होना, अपरिमित धन, निधि, रत्न आदि से युक्त होना, कर्म पर दृष्टि रखना, पाप-दृष्टि से रहित होना, सभी भद्रजनों, श्रेष्ठिजनों, गृहपतियों, मन्त्रिजनों एव पारिषद्यों का आदर करने वाला होना, दर्शनीय होना, अतिवृद्ध न होना, रोगी न होना, समस्त गुणों से युक्त होना, शिल्पों का जानकार, समय को समझने वाला, आत्मतत्त्व का ज्ञाता, धर्म और लोकतत्त्व को समझने वाला, लक्षणों को जानकर तथा धर्म के अनुसार प्रजाओं का पालन करने वाला होना आदि पुरुषों के मुख्य गुण हैं।[1]

ललितविस्तर के अनुसार राजकुल की स्त्रियों के अन्दर यदि बत्तीस गुण हों तो उन्हें प्रशस्त माना जाता है। वे बत्तीस गुण निम्नलिखित हैं—

(१) अभिज्ञता (२) अभिलक्षिता (३) अछिद्र उपचार करने वाली (४) जाति सम्पन्ना (५) कुलवती होना (६) रूपवती होना (७) नाम वाली होना (८) उचित लम्बाई चौड़ाई होना, (९) अप्रसूता होना (अविवाहित स्त्री के लिए अप्रसूत होना तथा विवाह के बाद प्रसव वाली होना), (१०) शीलवती होना (११) त्यागसम्पन्ना होना (१२) स्मितमुखी होना (१३) प्रदक्षिणग्राहिणी होना (१४) स्पष्ट स्वभावशाली होना (१५) विनीत होना (१६) विशारदा अर्थात् कुशल होना, (१७) बहुश्रुत होना (१८) पण्डिता होना (१९) शठ न होना (२०) मायाविनी न होना (२१) क्रोधी स्वभाव का न होना, (२२) ईर्ष्यारहित होना (२३) मात्सर्यरहित होना (२४) अचंचल होना (२५) मुखर न होना (२६) क्षमाशील होना (२७) सौरभयुक्त होना (२८) ह्री अर्थात् लज्जाशील होना (२९) निर्लज्ज न होना (३०) रागद्वेष अति मंद हो, (३१) मातृदोष तथा ग्राम्यदोष से रहित होना (३२) पतिव्रता एवं सुरूप होना।[2] माया देवी के के गुणों के वर्णन के प्रसंग में[3] भी कवि ने स्त्रियों के गुणों का विवरण दिया है।

इन विशिष्ट गुणों के कारण ही राजा शुद्धोदन के कुल को सर्वश्रेष्ठ कुल माना जाता था। क्योंकि उनके कुल की स्त्रियों में रागद्वेष नहीं था, वे कोमल एवं स्निग्ध स्वभाव की थीं, कर्कशता एवं परुषता का उनमें लेश भी नहीं था। वे सौम्य स्वभाव की स्मितमुखी महिलाएं थीं, भृकुटी का दर्शन होना तो वहां संभव ही नहीं था—

---

१. ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १७ पं० ३० पृ० १८ पं० १ से ६

२. वही, पृ० १७ पं० १५ से २२

३. वही, पृ० १८, पं० ६ से ३२

न रागरुक्ता न च दोषदृष्टा
श्लक्ष्णा मृदु सा ऋजुस्निग्धवाक्या ।
अकर्कसा चापरुषा च सौम्या
स्मितीमुखी सा भृकुटीप्रहीणा ॥[1]

वे ह्लीमती, अपत्रपा, धर्मचारिणी, क्रियाशील, जडतारहित, अचंचल, ईर्ष्यारहित, शठतारहित, मायारहित, त्यागशील स्वभाववाली मैत्री भावना से भरी हुई, कर्म पर विश्वास करने वाली, मिथ्या आचार से रहित, सत्य व्यवहार करने वाली, शरीर और मन से संयमशील, स्त्रियों के लिए गिनाये गये दोषों से पूर्णतया रहित, व्रतों का आचरण करने वाली, तपस्विनी. पति के व्रत को अपना धर्म मानकर, उसका सहभाव से आचरण करने वाली थीं ।[2]

उत्तम स्त्रियां प्रतिदिन स्नान, अनुलेपन, अलंकार धारण करना एवं सुखद तथा आकर्षक वस्त्रों को पहिनती थीं । स्वयं प्रसन्न रहती थीं एवं दूसरों को भी प्रसन्न रखती थीं । वे अवसर निकालकर अपने पतियों को समझाती थीं कि तुम व्रतशील और उपवासों का आचरण करो । अष्टांगिक मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करती थीं । वे अपने पतियों को निरन्तर हिंसा से विरत रखने के लिए प्रयत्न करती थीं । वे स्वयं के लिए भी निश्चय रखती थीं कि वे स्तैन्य, मद, लोभ, व्यभिचार और विशुनता से दूर रहेंगी तथा सत्य, धर्म का आचरण करेंगी, कभी कठोर वचन का प्रयोग नहीं करेंगी, नहीं कोई अशुभ वचन मुख से निकालेंगी । इसी भांति व्यापाद अर्थात् हिंसा, अथवा किसी के अकल्याण करने की कामना, द्वेष, निष्ठुरता, मोह, मद, लोभ और मिथ्या दृष्टि से स्वयं को पूर्णतया दूर रखेंगी । मन में छल, ईर्ष्या के भाव उठने भी न देंगी, इस प्रकार इन दस कुशल कर्मों के आचरण के लिए सर्वदा निरन्तर सचेष्ट रहेंगी—

गृहणामि देव व्रतशीलवरोपवासं, अष्टांगपोषधमहंजनि मैत्रचित्ता ।
प्राणेषु हिंसविरता सद शुद्धभावा, प्रेमं यथात्मनि परेषु तथा करोमि ॥
स्तैन्याद् विवर्जित मना मदलोभहीना, कामेषु मिथ्या नृपते न समाचरिष्ये ।
सत्ये स्थिता अपिशुना परुषप्रहीणा, संधिप्रलापमशुभं न समाचरिष्ये ॥
व्यापाददोषखिलमोहमदप्रहीणा, सर्वा अभिध्यविगता स्वधनेन तुष्टा ।
सम्यक्प्रयुक्त अकुहानिलया अनीर्ष्यु, कर्मा यथा दश इमे कुशला चरिष्ये ॥[3]

---

१. ल० वि०, श्लोक ४१, ४२

२. वही, श्लोक ४३, ४४-४७

३. वही, श्लोक ७६, ७७, ७८

इस प्रकार प्रशस्त राजकुल में विविध पौरुष गुणों से युक्त पुरुष तथा बत्तीस लक्षणों (गुणों) से युक्त नारियां मिलकर, प्रशस्त राजकुल का निर्माण करते हैं।

उत्तम राज्य

ललितविस्तर के अनुसार उत्तमराज्य वह है जहाँ न किसी प्राणी को राग सताता है, न द्वेष, न मोह, न ईर्ष्या, न मात्सर्य, न मान न परगुण विद्वेष न मद, न क्रोध, न किसी को मार डालने की भावना किसी में उत्पन्न होती है, न जलन होती है। उस राज्य में सभी प्राणी मन से एक दूसरे से मैत्री रखते हैं, मन से एक दूसरे का हित चाहते हैं, माता-पिता की भाँति दूसरों के कल्याण की कामना करते हैं, प्रेम में बँधे रहते हैं।[1] मूर्धाभिषिक्त राजा अन्य राजाओं को निर्देश देकर आशा भी करता था कि उसके राज्य में सभी राजा अपने-अपने क्षेत्र में धर्मपूर्वक राज्य करें। प्राणिहिंसा, दूसरों के धन का हरण (चोरी) उनके राज्य में कहीं न हो, सभी प्रजाजन ब्रह्मचर्य का पालन करें, व्यभिचार से विरत रहें और सदा सत्य भाषण ही करें मिथ्याभाषण और मिथ्याव्यवहार से सदा ही दूर रहें, क्योंकि उन राजाओं की मान्यता थी कि प्रजा द्वारा किये गये पाप का भागी राजा भी होता है अतः वे प्रजा में भी अधर्म आचरण को कभी पसन्द नहीं करते थे। वे चाहते थे प्रजा पञ्चशील का पालन करे—'राजा क्षत्रियो भिर्धाभिषिक्तः त्राता तान् राज्ञो मण्डलिन एतादवोचत्—कारयन्तु भवन्तः स्वकानि राज्याणिधर्मेण। हन्त भवन्तो मा प्राणिनं घातयिष्यथ, मादत्तादास्यथ, मा कामेषु मिथ्या चरिष्यथ, मा मृषा वक्ष्यथ, यावन्मा मे विजिते अधर्ममुत्पद्यते, माधर्मचारिणो रोचेथ।...[2]

प्रजा में होने वाले धर्म अधर्म का भी उत्तरदायी राजा होता है और इसी लिए वह संपूर्ण प्रजा में धर्म की स्थापना के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। इस प्रकार समस्त प्राणिमात्र के कल्याण में समर्थ होने के कारण ललित-विस्तरकार ने चक्रवर्ती राजा और तथागत बुद्ध में बहुत अधिक अन्तर नहीं माना है—

'राजा वा भवि चक्रवर्ति वलवान् बुद्धो व लोकोत्तमः।[3]

---

१. ल० वि० (वैद्य) पृ० ३६, पं० २०-२४

२. वही, पृ० १२, पं० ३ से ६

३. ल० वि०, श्लोक २५६

राजा

राज्य के सात अंगों स्वामी (राजा), अमात्य, पुर (दुर्ग राजधानी), राष्ट्र, कोष, बल (सेना) और सुहृत् (Inter State Relations) में राजा ही सर्वश्रेष्ठ अंग तथा राजकुल का प्रधान होता है। इस राजा के परिवार में मुख्य रूप से अमात्य, नैगम अर्थात् नगर के श्रेष्ठ पुरुष, पार्षद्य अर्थात् राजपरिषद् के सदस्य-गण तथा बन्धुजन हुआ करते थे। राजा जहाँ कहीं जाता था, आमोद-प्रमोद के लिए उद्यान आदि में भी यदि जाता था तो वहाँ भी ये परिकर उसके साथ ही साथ रहते थे।[1]

राजा के चिह्न

ललितविस्तर राजतंत्रीय शासनव्यवस्था के दिनों में लिखा गया है। लेखक की मान्यता है कि राजा जन्म से ही राजा के रूप में उत्पन्न होता है। उसमें बत्तीस ऐसे लक्षण होते हैं कि जिससे यह जाना जा सकता है कि यह व्यक्ति राजा ही होगा। यद्यपि ये ही चिह्न लोकोत्तर महापुरुष के भी होते हैं अतः यह भी संभावना हो सकती है कि उन लक्षणों से युक्त व्यक्ति चक्रवर्ती राजा न बनकर लोकोत्तर महापुरुष बन जाए। इसीलिए असित मुनि बोधिसत्त्व को शिशु के रूप में देखकर अपनी गोद में लेकर, लक्षणों को देखकर कहते हैं कि 'यह बालक वेदशास्त्र में कुशल होगा, किन्तु यह या तो बलवान् चक्रवर्ती राजा बनेगा अथवा लोकोत्तम बुद्ध।[2] राजा के शरीर में जिन बत्तीस चिह्नों की चर्चा की गयी है उसका मैंने पुरुष गुणों में विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है, वह द्रष्टव्य है। इन बत्तीस लक्षणों से युक्त होने की बात ललितविस्तर में अनेक बार कही गयी है।[3] ललितविस्तर के अनुसार ये बत्तीस लक्षण निम्नांकित हैं—

(१) उष्णीषशीर्ष (२) बालों का अत्यन्त काला और घुंघराला होना (३) सम तथा विशाल ललाट (४) भ्रू मध्य में हिमरजत-प्रकाशा ऊर्णा (५) गोपक्ष्म नेत्र होना (६) अभिनील नेत्र होना (७) इनके दाँत सम तथा संख्या में चालीस हैं (८) अविरल अर्थात् छिद्ररहित दाँतवाला होना (९) शुक्ल दाँत वाला होना (१०) ब्रह्म स्वर वाला होना (११) रसरसाग्रवान् होना (१२) जिह्वा का लंबा और पतला होना (१३) सुसंवृत्त स्कन्धवाला होना

---

१. ल० वि०, (वैद्य) गद्यभाग, पृ० ४३ पं० २१-२२

२. (क) वही, पृ० ९६, पं० ३-१०
   (ख) वही, (शास्त्री) श्लोक २५८

३. ल० वि०, श्लोक २५५, ९२९, और १०१३

(१४) सप्तोत्सद होना अर्थात् लम्बाई सात वित्ते की होवे (१५) चितान्तरांश अर्थात् दोनों कंधों के बीच का स्थान भरा-पूरा होना (१६) सिंहहनु होना (१७) ये सूक्ष्मसुवर्णवर्णछविवाले अर्थात् सोने जैसी वर्णवाली त्वचा का होना, (१८) आजानुबाहु होना (१९) सिंहपूर्वार्धकाय होना (२०) न्यग्रोध (वटवृक्ष) परिमण्डल होना (२१) एकैकरोम होना (२२) रोमों का अग्रभाग दाहिनी ओर मुड़ा होना (२३) ये कोशोपगतवस्तिगुह्य हैं अर्थात् जननेन्द्रिय अश्वादि की भाँति कोश=थैलों से युक्त हैं (२४) दोनों ऊरुओं का सुवर्त्तुल होना (२५) पिंडलियों का मृगराज के सदृश होना (२६) दीर्घांगुली होना (२७) एन्द्रियों का विस्तृत होना (२८) उत्संगपाद होना अर्थात् पैरों के तलवों के माध्यभाग का ऊपर उठा हुआ होना (२९) मृदु-तरुण-हस्तपाद का होना (३०) जालाङ्गुलिहस्तपाद का होना (३१) पैरों की उंगलियाँ लंबी तथा पैर में चक्रचिह्न होना (३२) सुप्रतिष्ठित समपाद होना। महापुरुष तथा चक्रवर्ती राजा के शरीर में उपर्युक्त वत्तीस लक्षण जन्म से ही होते हैं।

शरीर में इन वत्तीस लक्षणों के अतिरिक्त ललितविस्तर में अस्सी अनुव्यंजनों की चर्चा भी की गई है—अस्सी अनुव्यंजन निम्नलिखित हैं—(१) तुङ्गनख होना (२) ताम्रनख होना (३) स्निग्धनख होना (४) वृत्ताङ्गुलि होना (५) अनुपूर्वविचित्रांगुली वाला होना (६) गूढ़शिराओं (नसों) वाला होना (७) गूढ़गुल्फ (टखने) वाला होना (८) घनसिंधि (जोड़ोंवाला) होना (९) समपाद होना (१०) आपतपार्ष्णि (११) स्निग्धपाणिलेख होना अर्थात् स्निग्ध हस्तरेखाएँ होना (१२) तुल्यपाणिलेख होना (१३) गम्भीरपाणिलेख होना (१४) अजिह्मपाणिलेख होना (१५) अनुपूर्वपाणिलेख होना, हस्तरेखाओं का क्रमशः स्थूल या सूक्ष्म होना (१६) बिम्बफल की भाँति ओष्ठ होना (१७) धीर-गम्भीरस्वरवाला होना, (१८) ताम्रवर्ण की जिह्वा होना (१९) गजगर्जित, मेघगर्जित स्वर की तरह गम्भीर-मधुरनादवाला होना (२०) समस्त चिह्नों का स्पष्ट होना (२१) दीर्घबाहु होना (२२) निर्मल शरीरवाला होना (२३) कोमलगात्र होना (२४) विशालगात्र होना (२५) अदीन होना (२६) अनुपूर्वोन्नतगात्र होना (२७) सुन्दर एवं सुसमाहित शरीर होना (२८) सुविभक्त शरीर होना (२९) पृथुविपुलसपरिपूर्ण जानुमण्डल वाला होना (३०) वृत्तमात्र होना (३१) सुपरिमृष्टगात्र होना (३२) अजिह्म वृषभगात्रतुल्य होना (३३) अनुपूर्वशरीरवाला होना (३४) गम्भीर नाभि होना (३५) अजिह्म नाभि होना (३६) अनुपूर्वनाभिवाला होना (३७) शुचि आचारवाला होना (३८) ऋषभ

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ७४ पं० २१ से पृ० ७५ पं० ६ तक

(वृषभ) के समान सब ओर से प्रासादिक होना (३९) वितिनिर आलोक की प्रभा से युक्त होना (४०) हाथी के समान मन्दगामी होना (४१) सिंह के समान विक्रमशील होना (४२) वृषभ के समान विक्रमशील होना (४३) हंस के सदृश विक्रमगामी होना (४४) दक्षिण की ओर मुड़कर चलनेवाला होना (४५) वृत्त-कुक्षि अर्थात् गोल कोरववाला होना (४६) निर्दोष कुक्षिवाले होना (४७) अजिह्म कुक्षिवाला होना (४८) धनुष की मुष्टि के तुल्य उदर होना (४९) रंगदोष तथा धब्बों से रहित शरीरवाला होना (५०) वृत्तदंष्ट्रावाला होना (५१) तीक्ष्ण दंष्ट्रावाला होना (५२) अनुपूर्व दंष्ट्रावाला होना (५३) लम्बी नाक वाला होना (५४) शुद्ध नेत्रोंवाला होना (५५) निर्मल नेत्र होना (५६) प्रहसित नेत्रोंवाला होना (५७) आपत नेत्रोंवाला होना (५८) विशाल नेत्रोंवाला होना (५९) नील कमल की पंखुड़ियों के सदृश नेत्रोंवाला होना (६०) भौंहें रोएँ सहित हैं (६१) इनकी भौंहें सुन्दर हैं चित्रलिखित सी विचित्र हैं (६२) श्याम भौंहोंवाला होना (६३) मिली हुई भौंहोंवाला होना (६४) अनुपूर्व भौंहोंवाला होना (६५) पीन अर्थात् भरे हुए कपोलोंवाला होना (६६) अविषम कपालोंवाला होना (६७) दोषरहित कपालों वाला होना (६८) रागद्वेष और क्रोध के विकार रहित रंगवाला होना (६९) शोभन ज्ञानेन्द्रियों वाला होना (७०) परिपूर्ण इन्द्रियोंवाला होना (७१) सुसंगत मुख और ललाटवाला होना (७२) परिपूर्ण उत्तमाङ्ग (सिर) वाला होना (७३) श्याम केशयुक्त होना (७४) सुसंगत (बराबर) केशयुक्त होना (७५) सुगंधित केशोंवाला होना (७६) स्निग्ध केशों-वाला होना (७७) बिना उलझे (अनाकुल) केशोंवाला होना (७८) घुँघराले केशोंवाला होना (७९) क्रम (अनुपूर्व) से सजे हुए केशोंवाला होना (८०) केशों का आकार-प्रकार (संस्थान) श्रीवत्स, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त्त तथा वधमान जैसा होना। इन अस्सी शारीरिक चिह्नों को अनुव्यंजन अर्थात् विशेष मंगलचिह्न कहते हैं। इन चिह्नों से युक्त मनुष्य विशेष भाग्यशाली होता है, ऐसा माना गया है।[1] ग्रन्थकार के अनुसार ये चिह्न परिव्राजक के होते हैं, अर्थात् इन चिह्नों से युक्त मनुष्य गृहस्थाश्रम को छोड़कर वैराग्य जीवन व्यतीत करता है।[2]

राजा के कर्त्तव्य

ललितविस्तर में विविध प्रसंगों में स्पष्ट रूप से राजा के कर्तव्यों का संकेत हुआ है। लेखक ने एक स्थान पर चक्ररत्न की चर्चा करते हुए, चक्रवर्ती राजा

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ७५-७६

२. वही

के मुख से ही, अन्य राजाओं के कर्तव्य का निदेश करना चाहा है, उसके अनुसार राजा को धर्मपूर्वक राज्य का संचालन करना चाहिए। प्राणियों की हिंसा, दूसरे की संपत्ति का हरण, काम के प्रसंग में स्वच्छन्द आचरण, असत्य भाषण आदि नहीं करना चाहिए।[1] वह अपने कर्मचारियों के माध्यम से देश में विद्यमान संपूर्ण संपत्ति का ज्ञान रखता है, और अस्वामिक संपत्ति को अपने अधिकार में भी ले लेता है।[2] सागर पर्यन्त भूमि को अपने आधीन करके निष्कण्टक राज्य की स्थापना करता है और विना दण्ड तथा विना शास्त्र प्रयोग के समस्त भूमि को अपने आधीन रखता है।[3] देवों और मनुष्यों सभी पर शासन करता है। वह प्रयत्न करता है कि उसका राज्य ऋद्ध, स्फीत योग-क्षेमयुक्त और सुभिक्ष रहे।[4] साथ ही कुल की शुद्धि सुस्थिर बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहे। शुद्धोदन के राजकुल को सर्वश्रेष्ठ एवं बोधिसत्त्व के जन्म ग्रहण के योग्य इसीलिए माना गया है कि उनका कुल सभी राजकुलों में कुलीन था। उनके लोगों के शरीर पूर्ण शुद्ध रहते थे। राज्य ऋद्ध, स्फीत, आकुलता से रहित, गौरवशाली, सज्जन एवं धार्मिक पुरुषों से युक्त था।[5] केवल मनुष्य ही नहीं, अन्य प्राणी भी सद्विचारवाले एवं धर्मयुक्त थे। ललित-विस्तर के अनुसार राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह समस्त प्रजाजनों की सुख, सुविधा के लिए उद्यान, आराम, विहार आदि के निर्माण को प्रोत्साहन प्रदान करे।[6]

राजा प्रजा के सम्बन्ध

ललितविस्तर के अनुसार भले ही उस काल में राजतंत्र था, तथापि राजा और प्रजा के मध्य पिता-पुत्र जैसा सम्बन्ध रहा करता था। उनका प्रयत्न होता था कि प्रजा को व्यर्थ का राजदण्ड कभी न मिले, प्रजा का उत्पीडन न हो, धमकाने और मारने की घटनाएँ भी प्रजा में न हों, और जिस प्रकार पुत्र का पालन एवं नियमन स्नेहपूर्वक किया जाता है उसी प्रकार प्रजा का भी पालन किया जाए—

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १२, पं० ३-६
२. वही, पृ० १३, पं० १४-१६
३. वही, पृ० १३, पं० २२-२४
४. वही, पृ० १४, पं० २७-२८, पृ० १७, पं० २९-३०
५. वही, (शास्त्री) श्लोक ३७
६. वही, श्लोक ३८

न च राज दण्ड न भटा न तथा कुदण्डा
नोत्पीडना नपि च तर्जन ताडना वा ।
सर्वान् प्रसन्नमनसो हितमैत्रचित्ता
वीक्षस्व देव जनतां यथ एक पुत्रं ॥[1]

देवी, राजपत्नी और अग्रमहिषी का भी राजकार्य से सम्बन्ध होता था। माया देवी ने गर्भवती अवस्था में अपना दोहद प्रकट किया है कि सभी बंदियों को कारागार से मुक्त कर दिया जाए, तथा निर्धनों को वस्त्र, अन्न, द्रव्य, बैलों से जुते हुए रथ, घोड़ा-गाड़ियाँ आदि प्रदान कर सुख समृद्धि से संपन्न किया जाए—

ये रोधबन्धनगताः परिमुञ्च सर्वान्
द्रव्याम्बराश्च पुरुषान् धनिनः कुरुष्व ।
वस्त्रान्नपान रथयुग्य तथाश्वयानं
दद सप्तरात्रकमिदं जगतः सुखार्थम् ॥[2]

राजकीय शिष्टाचार

ललितविस्तर में अनेक स्थलों पर राजकीय शिष्टाचार के संकेतों का निबन्धन हुआ है। इस ग्रन्थ के अनुसार जब एक राजा के यहाँ कोई दूसरा राजा, मुख्य रूप से कोई बड़ा राजा आता था तो उसके स्वागत तथा अतिथेय के लिए, मुख्यतः माण्डलिक राजा चाँदी के पात्र में स्वर्ण चूर्ण अथवा स्वर्णपात्र में रजतचूर्ण लेकर उसका प्रत्युत्थान अर्थात् स्वागत करते थे, तथा वह स्वागत वचन बोलते हुए, उससे अपने राज्य की समृद्धि, विस्तार, कल्याण, सुभिक्षता अर्थात् धनधान्यसंपन्नता और रमणीयता का उल्लेख करते हुए आवास के लिए निमंत्रित करता था।[3]

यदि किसी राजा के यहाँ कोई ब्राह्मण, विद्वान् अतिथि के रूप में पहुँचे तो उसके स्वागत की व्यवस्था कुछ भिन्न प्रकार की रही है। राजद्वार पर स्वागत अधिकारी सारथी होता था। वह सारथी अतिथि का परिचय प्राप्त करके, तत्काल राजभवन में प्रविष्ट होकर, राजा को उसकी सूचना देता था, साथ ही उस अभ्यागत अतिथि की भावना की विस्तृत सूचना राजा को देने का

१. ल० वि०, (शास्त्री) श्लोक ८४
२. वही, श्लोक ८२
३. वही, (वैद्य), पृ० ११ पं० २५, पृ० १२ पं० ३

प्रयत्न करता था। सब विवरण जानकर राजा उस प्रसंग में उचित निदेश प्रदान करता रहा है। यह सरकार का निदेश अतिथि के अनुरूप ही होता था। शुद्धोदन के द्वार पर असितमुनि के आने पर राजा शुद्धोदन ने कहा, सर्वप्रथम उन्हें आसन प्रदान करो, उन्हें प्रवेश के लिए निवेदन करो कि राजा दर्शन करना चाहते हैं और उन्हें आदर पूर्वक लिवा लाओ।

अभ्यागत ब्राह्मण सर्वप्रथम राजा के लिए अभिनन्द वाक्य बोलकर उसे आशीर्वाद प्रदान करता है, जय-जयकार करता है, आनन्द के साथ दीर्घ-आयुष्य प्राप्त करो, यह आशीर्वाद भी देता है। ब्राह्मण की ओर से शिष्टा-चार की उपर्युक्त प्रक्रिया को स्वीकार करके राजा ब्राह्मण से आगमन का कारण पूछता है।[1]

अभ्यागत द्वारा अपना अभीष्ट प्रगट करने पर राजा उसे अविलम्ब पूर्ण करने का प्रयत्न करता है किन्तु यदि उसकी पूर्ति उस समय न हो सके तो राजा अत्यन्त विनयपूर्वक अपनी असमर्थता के लिए क्षमा माँगता है और जैसे भी हो उसकी इच्छा की पूर्ति के लिए प्रयत्न करते थे। असित मुनि जब शुद्धोदन के यहाँ आते हैं और नवजात कुमार शिशु को देखने की इच्छा करते हैं—उस समय कुमार तथागत सो रहे थे, अतः तत्काल असित मुनि की यह इच्छा पूरी न हो सकेगी, इसके लिए राजा ने अत्यन्त विनम्र शब्दों में प्रतीक्षार्थ निवेदन किया एवं कुछ काल (मुहूर्त्त भर) बाद स्वयं ही बालक को गोद में लेकर मुनि की कामना पूर्ण की।[2]

इसी प्रकार गुप्तवेश में जब देवगण राजा शुद्धोपन के यहाँ घर पर आते हैं द्वारपाल से राजा को सूचना देने का निवेदन करते हैं।[3] द्वारपाल राजा की अनुमति प्राप्त कर जब राजदरबार में उन्हें लेकर पहुँचता है तब राजा उठकर उनका पूर्ण सम्मान करता है अभिवादन करता है यद्यपि उन्होंने अपना परिचय गुप्त ही रखा हुआ था।[4]

विशिष्ट विद्वानों और सन्तों के आगमन पर राजा लोग उन्हें अपनी श्रद्धा

१. ल० वि०, श्लोक २५४
२. वही, श्लोक २५६, २५७
३. वही, श्लोक २६६-२६७
४. वही, श्लोक २७३-२७४

के अनुसार आधा अथवा पूर्णराज्य देने को भी प्रस्तुत रहा करते रहे हैं।[1] और उन्हें संपूर्ण गौरव प्रदान करते हुए, उनकी वन्दना पूजा करते थे ।[2]

छोटे कर्मचारी अथवा द्वारपाल जब भी राजदरबार में प्रवेश करते थे, राजा की जय-जयकार करके उसके बाद ही कुछ निवेदन करते थे ।[3]

राज्य-अभिषेक

ललितविस्तर के अध्ययन से पता चलता है कि जिस प्रकार प्राचीन काल से राज्य प्राप्ति अथवा युवराज पद की प्राप्ति पर अभिषेक करने की परम्परा का विशेष महत्त्व था, उसी प्रकार किसी भी विशिष्ट उपलब्धि के समय, उस उपलब्धि को प्राप्त करने वाले व्यक्ति का अभिषेक किया जाता था। इस अभिषेक की परम्परा इतनी अधिक प्रचलित थी कि उपलब्धि विशेष को प्राप्त करने वाला व्यक्ति आशा करता था कि उसका भी अभिषेक किया जाएगा। बोधि प्राप्त करने के पश्चात् तथागत ने भी भद्रासन पर बैठकर महाभिषेक की प्रतीक्षा की थी—

अथ सो मनुष्यचन्द्रः सविलम्बितमासनात् समुत्थाभ्य ।
भद्रासने निषीदत्महाभिषेकं प्रतीच्छंश्च ॥[4]

राज्य-अभिषेक की प्रक्रिया

अभिषेक के समय अभिषेचनीय व्यक्ति किसी भद्रासन पर बैठ जाता था और अनेक व्यक्ति, बहुधा देवगण भी हजारों रत्नघटों में सुगन्धित जल लेकर स्नान कराते थे। उस समय विविध वाद्य बजाये जाते थे तथा अपरिमित संख्या में स्त्रियाँ, अप्सराएं आदि विविध उपचारों से पूजा किया करती थीं।[5] इस प्रकार का अभिषेक न केवल राज्य-प्राप्ति आदि अत्यन्त विशिष्ट उपलब्धियों के अवसर पर होता था बल्कि ज्ञान-प्राप्ति के अवसर पर भी इस प्रकार का महाभिषेक किया जाता था। बोधिप्राप्ति के अनन्तर इस प्रकार का अभिषेक तथागत का किया गया था।[6]

---

१. ल० वि०, श्लोक ७६२, ७६३ और ७६४
२. वही, श्लोक ७७८
३. वही, श्लोक २०१
४. वही, श्लोक १२६७
५. वही, श्लोक १२६८-१२६६
६. वही, श्लोक १२६८-१२६६

पुत्ररत्न की प्राप्ति के बाद इस प्रकार से अभिषेक तो नहीं किया जाता था, क्योंकि प्रसव के बाद अधिक स्नान स्वास्थ्य के लिए कुमार भृत्य के अनुसार हानिकर माना जाता है किन्तु उपर्युक्त प्रकार से अभिषेक सामग्री प्रस्तुत अवश्य की जाती थी। बोधिसत्त्व तथागत सर्वार्थसिद्ध के जन्म के पश्चात् उनकी माता माया देवी के लिए, अभिषेक की सामग्री उपस्थित की गयी थी। उनके लिए त्रितय-निष्यन्द अम्बुकूप स्वयं प्रादुर्भूत हो गये थे और सुगन्धित तेलों की पुष्करिणी अनेक संख्याओं में प्रकट हो गयी थीं —

त्रितयविष्यन्दाम्बुकूपाः प्रादुरभूवन् अपि च सुगन्धतैल पुष्करिण्य।[1]

अभिषेक के समय अन्य अनुलेपन आदि साधनों का भी पर्याप्त मात्रा में उपयोग किया जाता था। इन उपकरणों में दिव्य गन्धों से अनुवासित तेल, दिव्य अनुलेपन आदि होते थे।[2]

छत्र-चामर

अभिषेक के अनन्तर युवराज को विशाल छत्र एवं शुभ-श्वेत चामर से अलंकृत करने की प्रथा थी। ललितविस्तर के अनुसार अत्यन्त प्रभावशाली होनहार बालक के जन्मकाल में ही स्वयं देवगण उसे छत्र और चामर से अलंकृत कर देते थे। तथागत बोधिसत्त्व के साथ ऐसा ही हुआ था—

श्वेतं च विपुलं छत्रं चामरांश्च शुभाम्बरान्।
अन्तरीक्षे गता देवा स्नपयन्ति नरर्षभं॥[3]

रत्न-छत्र

एक अन्य प्रसंग में ललितविस्तरकार ने दक्षिण दिशा में एक रत्नव्यूह नामक लोक धातु की चर्चा की है, जहाँ रत्न-छत्र-कूट-संदर्शन नामक कोई बोधिसत्त्व रहते थे, जिनके पास एक रत्न-छत्र रहा है। एक रत्न-छत्र का स्वरूप क्या था? इस प्रसंग में ग्रन्थकार मौन है किन्तु नाम के यौगिक अर्थ को देखकर पता चलता है कि यह छत्र रत्न से ही निर्मित्त था और उसका इतना आयाम था कि उससे न केवल एक व्यक्ति का आच्छादन संभव था बल्कि उससे बोधिसत्त्व का जितना कान्तिमंडल था, वह भी संछादित हो जाता था।[4]

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ६६, पं० १७, १८
२. वही, पृ० ६६ पं० १६-२४
३. वही, श्लोक २२७
४. वही, (वैद्य) पृ० २११, पं० २१-२४

इस प्रकरण में ग्रन्थकार ने दक्षिण-पश्चिम दिशा में रत्न संभव नामक लोकधातु का तथा रत्नसंभव नामक बोधिसत्त्व के होने की चर्चा की है उसने तथागत बोधिसत्त्व की पूजा करते हुए, असंख्य रत्नव्योमक के निर्माण की चर्चा की है। यह रत्नव्योमक क्या है ? इसके विषय में कुछ स्पष्ट नहीं है।

रत्नों की चर्चा से पता चलता है कि ग्रन्थ-रचना के समय में अत्यन्त बहु-मूल्य उपयोगी पदार्थ रत्न कहलाते थे। ये पदार्थ जहाँ हीरे, जवाहर, मणि-माणिक्य होते थे, वहीं सचेतन हाथी, घोड़े, स्त्री आदि की गणना भी रत्नों में की जाती थी। प्रायः सभी व्यक्ति रत्नों का संग्रह किया करते थे। यद्यपि तथागत बोधिसत्त्व जैसे कुछ व्यक्ति रत्नों का परित्याग भी कर देते थे। ये रत्न विविध प्रकार के तथा असंख्य होते थे।[1]

ग्रन्थकार के अनुसार ये वैदूर्य, सुवर्ण आदि रत्न पृथ्वी से निर्गत होते हैं इसीलिए वह अधस्तात् दिशा में रत्नगर्भ नामक बोधिसत्त्व की चर्चा करता है जो तथागत बोधिसत्त्व की पूजा के समय वैदूर्यमय मण्डल लेकर उनकी पूजा करता है।[2]

इन प्रसंगों से यह भी पता चलता है कि उस काल में वैदूर्य आदि रत्नों से विविध प्रकार के पात्र, छत्र आदि का निर्माण कराया जाता था। कुछ लोग इनसे (सुवर्ण आदि से) कृत्रिम पद्म आदि पुष्पों का निर्माण कराया करते थे।[3]

उस काल में जडरत्न कितने विदित हैं अथवा कौन-कौन से रत्न प्रायः संकलित किये जाते थे ? इस प्रसंग में स्पष्ट रूप से कहीं विवरण नहीं मिलता। यद्यपि ग्रंथकार के अनुसार मिथिला नगरी में सुवर्ण, हिरण्य, मणि, मुक्ता, वैदूर्य, शंख, शिला (संभवतः हीरा), प्रवाल, जातरूप और रजत प्रभूतमात्रा में थे। इन्हें वित्त-उपकरण के रूप में अर्थात् पदार्थों के विनिमय के लिए उस समय स्वीकार किया जाता था।[4] इस विवरण में हिरण्य, सुवर्ण तथा जातरूप को अलग-अलग गिना गया है, जबकि इन तीनों को पर्यायवाची ही स्वीकार किया जाता है।

---

१. ल० वि०, श्लोक ६१३
२. वही, (वैद्य) गद्यभागपृ० २१४ पं० १-७
३. वही, पृ० २१४, पं० ५
४. वही, पृ० १६, पं० ४, ५

उस काल में कुछ वृक्षों को भी रत्न के रूप में स्वीकार किया जाता था, जिनमें अतिमुक्त, चम्पा, पाटल, कोविदार (कचनार), मुचिलिन्द (तिलपुष्पी) अशोक, न्यग्रोध, तिन्दुक (तेन्दू), असन (विजयसार), कर्णिकार, केसर, और शाल आदि मुख्य थे ।[1] इन सभी वृक्षों को रत्नवृक्ष क्यों कहा जाता था ? इसके लिए कोई एक मानदण्ड निर्धारित कर पाना कठिन है क्योंकि कुछ इनमें पुष्प हैं तो कुछ ऐसे जिनमें पुष्प होते ही नहीं । शाल, न्यग्रोध कुछ अत्यन्त विशाल वृक्ष हैं तो कुछ कर्णिकार जैसे सामान्य क्षुप हैं। केसर को क्षुप कहना भी कठिन है । एक सामान्य धर्म केवल यह कहा जा सकता है कि इनमें प्रत्येक का किसी न किसी दृष्टि से विशेष महत्त्व अवश्य है ।

सप्त रत्न

अन्यत्र 'नानारत्नव्यूह' नामक महाप्रासाद की चर्चा हुई है । इस प्रसंग में रत्नों के सम्बन्ध में जिज्ञासा हो सकती है । वैसे तो रत्न शब्द बहुमूल्य, हीरा, जवाहरात, मोती, माणिक्य आदि के लिए प्रयुक्त होता है यह अर्थ सुविदित है किन्तु ग्रन्थकार ने रत्न शब्द का उपर्युक्त अर्थों में प्रयोग अनेक बार किया है। बोधिसत्त्व के लिए सहापति ब्रह्मा जो पालना भेंट करते हैं उसका नाम रत्न-व्यूह-परिभोग था, जो विविध रत्नों के द्वारा ही बनाया गया था और उसमें विविध रत्न जटित थे । इसमें स्थित कूटागार उरगसार और चन्दन से बना था, जिसका मूल्य एक हजार सुवर्णधारिणी था, उसका वर्ण नीलम मणि के सदृश था ।[2] उसके चारों ओर ऐसे पुष्प लगे थे, जिसकी समानता दिव्य पुष्प भी नहीं कर सकते थे ।[3] रत्नों से निर्मित होने के कारण वह वज्र के समान अभेद्य एवं दृढ़ था, किन्तु साथ में वह स्पर्श में मखमली वस्त्र (काचिलिन्द) के समान अत्यन्त कोमल था ।[4]

तात्पर्य यह है कि रत्नव्यूह प्रासाद एवं रत्नव्यूह परिभोग में रत्न शब्द मणि, मुक्ता, माणिक्य तथा चन्दन आदि अति-मूल्यवान् जड़ पदार्थों का बोधक है । जबकि यही रत्न शब्द अन्य प्रसंगों में अत्यन्त मूल्यवान्, उपयोगी हाथी, घोड़े आदि चेतन प्राणियों के लिए भी प्रयुक्त हुआ है । ग्रन्थकार ने कुल शुद्धि परिवर्त्त में सात रत्नों की चर्चा की है। वे रत्न हैं—चक्ररत्न, हस्तिरत्न,

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ८, पं० २४-२५-२६

२. वही, पृ० ४६ पं० ३, ६,७

३. वही, पृ० ४६, पं० ८

४. वही, पृ० ४६ पं० १०, ११

अश्वरत्न, स्त्रीरत्न, मणिरत्न, गृहपतिरत्न और परिणायक (अमात्य) रत्न ।[1] इन रत्नों का परिचय ग्रन्थकार निम्नलिखित रूप से देता है ।

चक्ररत्न—यह रत्न चक्रवर्ती राजाओं के पास ही रहता है। यह एक विशेष प्रकार का रथ है। जिसके चक्र हजार अरों वाले नेमि एवं नाभि से युक्त होते हैं। इसका रंग सुनहला होता है तथा इसकी ऊंचाई सात ताल की ऊंचाई के बराबर होती है।[2] इस चक्ररत्न के रहने से राजा की समृद्धि होती है और वह आकाश मार्ग से जाने में समर्थ होता है। चतुरङ्गिणी सेना इसका अनुवर्त्तन करती है[3]। इसके रहने का प्रभाव यह भी होता है कि मण्डलेश्वर राजा जो मण्डल-नीति में विश्वास करता है रजत पात्र में सुवर्ण अथवा सुवर्णपात्र में रजत लेकर इसकी अगवानी करते हैं।[4] उसके राज्य में सदा धनसमृद्धि होती रहती है और हमेशा कल्याण और सुभिक्ष रहता है।[5] इसकी सहायता से वह सभी दिशाओं को जीतकर, सभी समुद्रों का अवगाहन कर, आकाश मार्ग से राजधानी में पहुँचकर शासन कार्य चलाता है।[6]

हस्तिरत्न—हस्तिरत्न द्वितीय महान रत्न है जो चक्रवर्ती राजा के पास रहता है। यह एक विशेष प्रकार का हाथी है जिसका संपूर्ण शरीर श्वेत रहता है। इसके सातों ही अंग सुप्रतिष्ठित रहते हैं। इसके स्वर्णशिखा, स्वर्ण-छत्र, स्वर्णध्वज एवं स्वर्ण अलंकार स्वतः रहते हैं। वह कभी इनसे रहित नहीं होता। इसके रहने से भी राज्य में समृद्धि रहती है और राजा आकाश मार्ग से गमन करता है एवं संपूर्ण पृथिवीमंडल का अवगाहन कर, अपनी राजधानी में पहुँचकर धर्मपूर्वक शासन करता है।[7]

अश्वरत्न—अश्वरत्न एक विशेष प्रकार का अश्व है, जिसका संपूर्ण शरीर नीलवर्ण का होता है, शिर श्याम (काली) रंग का होता है। उसके शरीर के बाल मूँज के सदृश होते हैं। उसका वर्ण अत्यन्त मनोहर लगता है। स्वर्ण-निर्मित ध्वज और स्वर्ण अलंकार तथा स्वर्णजाल से निर्मित आच्छादन इसे

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ६६पं० ६, ७, ८ पृ० ११, पं० ११,१२, १३
२. वही, पृ० ११ पं० १७, १८
३. वही, पृ० ११ पं० २४, २५
४. वही, पृ० ११ पं० २७ पृ० १२ पं० I
५. वही, पृ० १२ पं० २, ३
६. वही, पृ० १२ पं० ७-११
७. वही, पृ० १२ पं० १४, १५ पृ० १२ पं १७, १८

प्राप्त रहता है। यह भी आकाश में गमन करने में समर्थ होता है तथा राज्य को समृद्धि प्रदान करता है। इस अश्वराज को बालाहक नाम से लोग पुकारते हैं। सूर्योदय काल में राजा इस पर चढ़कर, समुद्र सहित संपूर्ण पृथिवी का भ्रमण करके अपनी राजधानी में पहुँचकर धर्मपूर्वक शासन करता है।[1]

मणिरत्न—मणिरत्न भी सात रत्नों में एक है। ललितविस्तरकार ने मणि-रत्न की चर्चा करते हुए कहा है कि यह मणिरत्न शुद्ध नील वैदूर्य मणि होता है आठ पहल की इस मणि की आभा से समस्त अन्तःपुर अवभासित रहता है। इसमें इतनी कान्ति होती है कि जब कभी इसे ध्वजाग्र पर नियोजित करके, इसे ऊपर उठा दिया जाए तो रात्रि में भी सब कुछ स्पष्ट प्रतिभासित होता है। इतना ही नहीं बहुधा लोगों को भ्रम होने लगता है। कि सूर्योदय हो रहा है और वे न केवल स्वयं दिन में किये जाने वाले कार्यों में प्रवृत्त होने लगते हैं बल्कि दूसरे को भी प्रेरित करने लगते हैं।[2] इस प्रकरण में ललितविस्तर में किया गया वर्णन यद्यपि एक मणि विशेष' से सम्बद्ध है किन्तु इसे प्रतीक समझते हुए मणि सामान्य का विवरण समझना चाहिए।

स्त्रीरत्न—ललितविस्तर के अनुसार स्त्री भी एक रत्न है। यदि उस स्त्री में कुछ विशिष्ट गुण हों तो वह महान रत्न कहलाता है। ग्रन्थकार के अनुसार जिस पुरुष के पास वह है उसके बाहरी और आन्तरिक गुणों के अनुकूल हो वह क्षत्रिया तेजस्विनी होती है। शरीर से न बहुत दीर्घ और न बहुत छोटी, न अधिक स्थूल और न अधिक कृशकाया, न अधिक गोरी और न काली। वह सर्वाङ्ग सुन्दरी तथा प्रसन्न स्वभाववाली होवे। प्रशस्त्र स्त्रीरत्न के रोम-कूप से चन्दन की सी सुगन्ध निकलती है मुख से कमल की गन्ध निकलती है। उसका शरीर शीतकाल में उष्णस्पर्श वाला तथा उष्णकाल में शीतस्पर्श वाला होता है। उसके अनुराग में चञ्चलता नहीं रहा करती है।[3]

गृहपतिरत्न—गृहपति रत्न का तात्पर्य है अत्यन्त कुशल प्रबन्धक जो समस्त गृह प्रबन्ध को देख सके। यह अतिशय बुद्धिमान, सुस्पष्ट, स्वभाव वाला मेधावी एवं दिव्यचक्षु संपन्न पुरुष होता है। यह अपनी दिव्यदृष्टि के द्वारा एवं अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के द्वारा, किसी के भी आधीन विद्यमान संपत्ति

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १२, प० २०-२२, पृ० १२ पं० २३-२४
२. वही, पृ० १२ पं० २७, पृ० १३ पं० ६ तक
३. वही, पृ० १३ पं० ८ से १२ तक

को तथा स्वामिरहित संपत्ति को देखता है और स्वामिरहित संपत्ति को चक्रवर्ती राजा के आधीन करने का प्रयत्न करता है।[१]

परिणायक (अमात्य) रत्न—यह सबसे महत्त्वपूर्ण रत्न ललितविस्तर में माना गया है। परिणायक का अर्थ है अमात्य या सेनानी। यह रत्न भी अतिशय बुद्धिमान, सुस्पष्ट एवं मेधावी होता है। वह राजा की इच्छा के अनुसार अपेक्षित सेना को तैयार कर देता है।[२]

इन रत्नों के प्रभाव से ही चक्रवर्ती राजा सागर पर्यन्त पृथिवी का निष्कंटक राज्य करता है। ग्रन्थकार का कथन है इन सात रत्नों को धारण करने का प्रभाव यह होता है कि इनसे युक्त राजा बिना दण्ड के और बिना शास्त्र के ही संपूर्ण पृथिवी को जीतकर उस पर शासन करता है।

यात्राएं

ललितविस्तर में प्राप्त विवरण से पता चलता है कि जब कभी राजा, महारानी अथवा राजकुमार कहीं प्रयाण करते थे तो उसकी शोभा दर्शनीय होती थी। बोधिसत्त्व जन्म के बाद जब प्रथम बार नगर में प्रवेश कर रहे थे, उनके आगे-आगे पांच हजार कन्याएं, सुगन्धित जल से भरे पूर्ण कलश लेकर चल रही थीं। पांच हजार कन्याएं मयूर हस्तक (मोरछल) लेकर आगे-आगे चल रही थीं, पांच हजार कन्याएं ताड़वत्त लिए हुए चल रही थीं, पांच हजार कन्याओं के हाथ में सुगन्धित जल की झारियां थीं, जिससे वे मार्ग पर जल का छिड़काव कर रही थीं। पांच हजार कन्याओं ने विचित्र पटलक (पिटारियां) ले रखी थीं, पांच हजार कन्याएं रंग-बिरंगी लटकती हुई ताजे फूल की मात्राएं लेकर आगे चल रही थीं। पांच हजार कन्याओं के हाथ में मांगलिक आभूषण थे और पांच हजार कन्याओं के हाथ में भद्रासन थे। उनके पीछे पांच हजार ब्राह्मण मंगल ध्वनि का उच्चारण करते हुए चल रहे थे, उनके पीछे पूर्णतया अलंकृत बीस हजार हाथी, बीस हजार घोड़े चल रहे थे। बोधिसत्त्व के पीछे ऊंची-ऊंची ध्वजा पताकाओं से सुशोभित अस्सी हजार रथ थे, जो बोधिसत्त्व के रथ का अनुगमन कर रहे थे। उसके पीछे चालीस हजार पैदल सैनिक चल रहे थे। बोधिसत्त्व जिस रथ पर विद्यमान थे, वह कामधातु के देवताओं द्वारा अलंकृत किया गया था तथा रत्नमालाओं से विभूषित बीस हजार देवकन्याएं उसे खींच रही थीं।[३]

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १३ पं० १४-१६
२. वही, पृ० १३ पं० १६
३. वही, पृ० ७१ पं० ३ से १६

इस विशिष्ट राजपरिकर में एक बात मुख्य रूप से ध्यान देने योग्य है कि यहां रथ को खींचने का कार्य कन्याओं से लिया जा रहा है। अर्थात् घोड़े आदि के स्थान पर बीस हजार देवकन्याएं रथ खींच रही थीं। इनके अतिरिक्त पांच-पांच हजार कन्याओं के सात समूह अर्थात् पैंतीस हजार कन्याएं अन्य सात कार्यों के लिए नियुक्त रही हैं। इस प्रकार पचपन हजार कन्याओं का समूह सेविका के रूप में जुटा था। शेष कर्मकरों में पांच हजार ब्राह्मण मंगलाचरण में व्यस्त थे किन्तु शरीरतः सेवा में नहीं। हां, सैनिकों की विशाल संख्या अवश्य ऐसी थी, जिसमें महिलाओं के होने न होने की कोई सूचना यहां प्राप्त नहीं है।

रक्षक वर्ग में भी स्त्रियों की संख्या पर्याप्त रही होगी, इसकी सूचना हमें एक अन्य प्रसंग में मिलती है जहां राजा शुद्धोदन कहते हैं कि—'जो भी शक्तिशाली स्त्रियां हों वे तथागत गौतम की शय्या को घेरकर रखें और पूरी चौकसी बरतें कि निकल न जाएं, वेणु आदि वाद्य इतने बजाए जाएं कि किसी को नींद न आए तथा यदि नींद आने भी लगे तो वे एक-दूसरे को जगाते रहें।[1]

यात्रा की तैयारी के क्रम में हाथी, घोड़े और रथ आदि वाहन पंक्तिबद्ध रूप से तैयार किये जाते थे।[2] माया देवी के उपवन प्रस्थान के समय इनमें हाथी का स्थान सर्वप्रथम था और वे नीलगिरि पर्वत के सदृश मेघमाला की भांति क्रमबद्ध बीस हजार तैयार किये गये थे। वे मणि, स्वर्ण आदि से सजे हुए थे, उनके दोनों ओर घंटे लटक रहे थे।[3] इनके बाद वायु के समान वेग वाले बीस हजार घोड़े थे। वे बिल्कुल श्वेतवर्ण के थे, उनके दोनों ओर स्वर्ण निर्मित किंकिणीजाल लटक रहा था।[4] उनके पीछे तीस हजार शूरवीर सैनिक थे जिन्हें युद्ध का नशा सा चढ़ा रहता था। इन सैनिकों के हाथों में तलवार, धनुषबाण, शक्ति, पाश और खड्ग सुशोभित हो रहे थे।[5]

इस यात्रा में इन सैनिकों के पीछे विविध वाद्य बजाए जा रहे थे, इनमें तूर्य, ढोल, (पणव), मृदङ्ग, वेणु, वीणा आदि असंख्य बाजे बजाए जाते थे।[6] साथ ही मंगल के लिए हजारों घंटे भी बजाए जा रहे थे।[7]

---

१. ल० वि०, (शास्त्री) श्लोक ६०७, ६०८
२. वही, श्लोक १९६
३. वही, श्लोक १९७
४. वही, श्लोक १९८
५. वही, श्लोक १९९
६. वही, श्लोक २०४
७. वही, श्लोक २०६

ललितविस्तर के अनुसार जब राजा की सवारी निकल रही होती थी, सब ओर से प्रकाश किया जाता था, फूलों की वर्षा की जाती थी, बाजे बजाये जाते थे, वस्त्र फहराये जाते थे। नगाड़ों पर चोट दी जाती थी, जिसके फलस्वरूप तीव्र ध्वनियां गर्जन के साथ निकलती थीं। घोड़े, हाथी और वृषभ गर्जन करते थे तथा असंख्य शुक, सारिकाएं, कोयल, गौरैया, मयूर, चक्रवाक लाखों की संख्या में कूजन करते थे मानों वे भी मंगलध्वनि कर रहे हों।[1]

इस प्रकार की यात्राओं के प्रसंग में राजा, रानी और राजकुमार प्रायः अकेले ही विशाल रथ पर बैठा करते थे। इन विशाल रथों को विविध प्रकार से सजाया जाता था। इन्हें हजारों चमरों, दिव्य सिंहासनों और फूलों से सजाया जाता था। इसमें रत्न वृक्ष भी लगाए जाते थे तथा हंस क्रौञ्च और मयूर भी बैठे हुए अपनी ध्वनियों से उसे मुखर बनाते थे।[2] इन वृक्षों और पक्षियों की योजना से प्रतीत होता है कि वे रथ विशाल प्रासाद के समान होते थे।

किसी विशिष्ट पुरुष अथवा राजा आदि की यात्रा के अवसर पर संपूर्ण यात्रा-पथ को झाड़ुओं से बुहारी देकर साफ किया जाता था, सुगन्धित जल का छिड़काव किया जाता था, मार्ग में फूल बिखेरे जाते थे, वृक्षों की शाखाएं यात्रा-पथ की ओर झुका दी जाती थीं, अथवा ऐसा विश्वास किया जाता था कि शाखाएं तथा वृक्षों का ऊपरी भाग विशिष्ट पुरुष के प्रभाव से स्वयं झुक जाता था। यात्रा-पथ के दोनों ओर वेदिकाएं बनाकर उन्हें रत्नजाल से आच्छादित किया जाता था तथा दिव्य रत्नों और ध्वजा-पताकाओं से अलंकृत किया जाता था। वेदिकाओं के बीच में पुष्करिणियां बनाई जाती थीं, उनमें सुगन्धित जल भरा जाता था, तथा उनके तट पर सोने की बालुका बिछाई जाती थी। पुष्करिणियों में उत्पन्न, पद्म, कमल, कुमुद, पुण्डरीक आदि लगाये जाते थे। पुष्करिणियों के चारों ओर रत्नमयी वेदिकाएं बनाई जाती थीं, जिनके सोपान वैदूर्यमणियों के द्वारा बनाये जाते थे। पुष्करिणियों में जलमुर्गियां, सारस, हंस, चक्रवाक और मयूर कूजन करके, वातावरण को मधुरतम बनाते थे। हजारों की संख्या में दिव्य अप्सराएं (परम सुन्दरी स्त्रियां) पुष्प बिखेरने के लिए नियुक्त की जाती थीं। अनेक सुन्दरियां चन्दन, अगर के चूर्ण लेकर धूपदानियों के साथ दोनों ओर खड़ी होती थीं।[3] बोधिसत्त्व जब नैरंजना

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २००, पं० ६ से १०

२ वही, (शास्त्री) श्लोक २०७

३. वही, (वैद्य), पृ० १९९ पं० २१ पृ० २०० पं० ४ तक

नदी से बोधिमंडप की ओर जा रहे थे तब मार्ग के दोनों ओर अस्सी हजार दिव्य अप्सराएं पुष्प बिखेर रही थीं, एवं इतनी ही अर्थात् अस्सी हजार चन्दन, धूप, अगर का चूर्ण और धूपदानियों को लिए हुए खड़ी थीं।[1] तथा तालवृक्षों के सामने लगे हुए रत्नव्योमकों में से प्रत्येक में पांच-पांच हजार अप्सरायें दिव्य संगीत ध्वनियां कर रही थीं।[2]

नगर की रक्षा के लिए अथवा यात्रा के समय राजा, महारानी एवं राजकुमार तथा विशिष्ट व्यक्तियों की रक्षा के लिए जिन सैनिकों को नियुक्त किया जाता था वे न केवल अत्यन्त शूरवीर होते थे बल्कि युद्ध शौण्ड भी होते थे। युद्ध का अवसर मिलने पर उनमें एक ऐसा पागलपन छा जाता था कि वे यही निश्चय करके युद्ध भूमि में उतरते थे कि ग्राम्यमृत्यु अर्थात् घर में पड़े-पड़े मरने को धिक्कार है मृत्यु तो युद्धभूमि में ही प्रशस्त है, पराजित होकर जीने से युद्धभूमि में मर जाना अधिक श्रेष्टकर होता है।[3]

ललितविस्तरकार के अनुसार उपर्युक्त संपूर्ण रक्षा व्यवस्था के बाद विशिष्ट व्यक्ति की रक्षा व्यवस्था देवगण भी किया करते थे "अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितम्" इत्यादि सुप्रसिद्ध सूक्ति उपर्युक्त भावना को समस्त भारतीय संस्कृति में अनुस्यूत बतलाती है। ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ में उसे पूर्णतया प्रतिरूपित करने का प्रयास किया है। उसके अनुसार माता के गर्भ में अवक्रांत बोधिसत्त्व की रक्षा, देवताओं के इन्द्र शक्र के नेतृत्व में चारों महाराजिक देवता, अट्ठाइस महायक्ष सेनापति, तथा वज्रपाणि यक्षकुल के स्वामी गुह्यकाधिपति अहर्निश कर रहे थे। इतना ही नहीं बोधिसत्त्व के निजी परिचारक भी उत्खली, समुत्खली, ध्वजवती एवं प्रभावती के रूप में परिचारिका बनकर नित्य निरन्तर रक्षा कर रहे थे। स्वयं इन्द्र अपने साथ साढ़े पांच सौ देवपुत्रों को भी रक्षा में लगाये हुए थे।[4]

जैसाकि पहले संकेत किया गया है कि सेना में राजकुमार अर्थात् अपने पुत्र आदि ही मुख्यतया रहा करते थे क्योंकि उनकी विश्वसनीयता में कभी संदेह नहीं रहता। जब बोधिसत्त्व अभिनिष्क्रमण के लिए सोच रहे थे, तब उनको रोक रखने के लिए पांच-पांच सौ शाक्यकुमार प्रत्येक नगर-द्वार पर लगा दिये

---

१. ल० वि० (वैद्य), पृ० २०० पं० ४-५

२. वही,

३. वही, पृ० १६२, पं० ८-१०

४. वही, पृ० ५० पं० ११-१६ एवं पृ० १११ पं० १-२

गये थे।[1] ये सभी शाक्यकुमार सामान्य सैनिक रूप में नहीं, सेनापति के रूप में थे, क्योंकि प्रत्येक के साथ पांच रथ परिवार थे तथा प्रत्येक रथ परिवार पांच सौ पदाति सैनिकों से युक्त था, जिसका अर्थ हुआ कि प्रत्येक शाक्यकुमार के आधीन (५०० × ५०० = २५००००) ढाई लाख सैनिकों का सेनानी था।

संपूर्ण सुरक्षा व्यवस्था की समग्र रूप से देखभाल राजा स्वयं करता था। बोधिसत्त्व के अभिनिष्क्रमण के भय के उपस्थित होने पर उपर्युक्त शाक्यकुमारों की नियुक्ति करके भी शुद्धोदन निश्चिन्त नहीं थे, बल्कि स्वयं भी कभी हाथी पर और कभी घोड़े पर चढ़कर शाक्यकुमारों के साथ निगरानी में तत्पर रहते थे।[2]

ललितविस्तर के अनुसार उपर्युक्त, अश्व, गज, रथ एवं पदाति सेना का प्रत्येक सैनिक अपनी रक्षा के लिए कवच पहनता था तथा अपनी रक्षा एवं शत्रु पर आक्रमण करने के लिए असि, धनुष, बाण, शक्ति और तोमर आदि शास्त्रों को धारण करते थे।[3] एक अन्य स्थल पर असि, धनुष, बाण, शक्ति, बर्छी, तोमर, भाले के साथ कुठार, पट्टिस, बल्लभ, भुशुण्डी (बन्दूक व अग्नि-बाण), मूसल, पाश, गदा, चक्र, वज्र, कँटीली बर्छियाँ आदि कुछ अन्य शस्त्रास्त्रों के साथ ही शरीर रक्षा के लिए वर्म एवं कवच नामक दो स्वरक्षा उपकरणों का वर्णन मिलता है।[4] इन शस्त्रास्त्रों के अतिरिक्त युद्धभूमि में वज्राशनि, जलवर्षा तथा बड़ी-बड़ी पर्वत शिलाओं का और लोहे के गोलों का भी प्रयोग किया जाता था।[5]

ललितविस्तर में उपर्युक्त सेना सन्निवेश एवं उसके अस्त्र-शस्त्र का विवरण निबद्ध होने के साथ आध्यात्मिक शत्रुओं और उनकी सेना की चर्चा भी मिलती है। ग्रन्थकार के अनुसार मार की आठ नौ सेनाएं हैं जो आध्यात्मिक जगत् में शत्रु के रूप में सामने उपस्थित होती हैं। इनमें प्रथम सेना कामना है। द्वितीय है अरति अर्थात् बेचैनी, तृतीय सेना क्षुधा और पिपासा है, चतुर्थ तृष्णा, पंचम तंद्रा (स्त्यान), छठीं भय, सातवीं संशय (विचिकित्सा) एवं आठवीं क्रोध एवं दूसरों के प्रति तिरस्कार की भावना तथा नवीं सेना लोभ, मोह, संस्कार

१. ल० वि०, पृ० १४५ पं० २८ पृ० १४६ पं० ३

२. वही, पृ० १४६

३. वही, श्लोक ६०४

४. वही, (वैद्य), पृ० २२१ पं० २१-२२, पृ० २२२ पं० १३-१४

५. वहीं, पृ० २२२ पं० १८-२३ एवं पृ० २३२ पं० ७-९

आडम्बर से प्राप्त या प्राप्तव्य यश इत्यादि गिने जाते हैं ।[1] मार की यह सेना उसे अत्यन्त प्रतापी बना देती है, और प्रायः सभी प्रकार के श्रमण और ब्राह्मण इन सेनाओं के द्वारा पराजित किये जाते हैं ।

एक अन्य स्थल पर पुनः मोह, काम, क्रोध[2] नौ प्रकार के मान, ममता, आस्रव, तृष्णा, अविद्या[3] आदि को भयंकर शत्रु बताते हुए, ज्ञान को उन सभी को नष्ट करने में उपाय के रूप में स्वीकार किया गया है ।[4] इस विषय का ग्रन्थकार ने विस्तार पूर्वक वर्णन किया है ।[5] विस्तार मय से मैं यहां उनकी चर्चा नहीं कर रही हूं ।

सिंहासन

राजा अथवा राजकुमार जहां कहीं भी बैठते थे, जो उनकी सभा आदि का स्थल होता था, उसको विविध प्रकार से अलंकृत किया जाता था । उनके आसन को सिंहासन कहते थे । वह इतना सुखद होता था मानों स्वपुण्य के परिपाक से ही मण्डित हो । उसे अनेक दिव्य सुवास द्रव्यों से सुवासित किया जाता था । चन्द्र, अगर एवं विविध सुगन्धित पुष्पों के सार इत्र आदि से भी अलंकृत किया जाता था । उसको अलंकृत करने के लिए विविध प्रकार के पुष्पों, मणियों, रत्नों का प्रयोग होता था, जिससे वे अतिशय देदीप्यमान होते रहते थे । इसमें स्थान-स्थान पर किंकिणी (छोटी घंटियों) को भी संयोजित किया जाता था, रत्न निर्मित अनेक घंटे घंटियां भी उससे संयुक्त होते थे । शायद वे आजकल के Call bell की तरह रही होंगी, जिनका प्रयोग अलग-अलग लोगों को बुलाने के लिए किया जाता रहा होगा । उसके चारों ओर रत्नों की झालरें लगाई जाती थीं, अनेक वस्त्रों से उसे ढका जाता था, मालाओं से अलंकृत किया जाता था ।[6] वितर्दि-निर्व्यूह-तोरण-गवाक्ष-कूटागार आदि से युक्त प्रासाद अथवा विमान में रखे हुए, उस सिंहासन को ऊंची-ऊंची ध्वजाओं और पताकाओं, छत्रों से भी अलंकृत करते थे । मान्दार, महामान्दार आदि पुष्प उस पर बिछाये जाते थे, उसे रत्नवृक्षों से भी युक्त किया जाता था । पूर्ण कुम्भों की स्थापना भी उसके

१. ल० वि० (शास्त्री) श्लोक ८३७, ८३९
२. वही, श्लोक १२४०
३. वही, श्लोक १२४१-१२४२
४. वही, श्लोक १२४२
५. वही, (शास्त्री) १२४०-१३००
६. वही (वैद्य), पृ० २२ पं १० से १५

पास की जाती थी। पूर्ण-प्रकाश और पूर्ण शीतल वायु का भी प्रबन्ध उसके साथ रहता था, संभवतः यह व्यवस्था आजकल की ट्यूब लाइट तथा कूलर और एअर कण्डीशन की व्यवस्था के समानान्तर की जाती थी।[1]

(ग) ललितविस्तर में सामाजिक अवस्था

आहार

पूर्व वैदिक काल और उत्तर वैदिक काल के भारतीय समाज के व्यक्ति शाकाहारी और मांसाहारी दोनों प्रकार के थे। प्राचीन काल से ही शुद्ध, स्वच्छ, सादा भोजन आर्यों का प्रिय आहार रहा है। गीता में सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकार के आहार का वर्णन है।[2]

ललितविस्तर के निदान परिवर्त्त में श्रावस्ती में राजाओं, राजकुमारों, मंत्रियों, महामात्रों आदि को चारों परिषदों ने बुद्ध को प्रचुर खाद्य, भोज्य, अस्वाद्य पदार्थों द्वारा तथा पिण्डपात (भिक्षा), शयन, आसन, रोगिपथ्य, भैषज्य और भिक्षुओं के उपयोग की वस्तुओं आदि से सम्मानित, पूजित, सत्कृत और लाभान्वित किया।[3] इस प्रसंग में किसी विशेष खाद्य, भोज्य, अस्वाद्य पदार्थ का उल्लेख नहीं है।

षड्वर्षीय दुष्करचर्या के प्रकरण में निकृष्टव्रती तपस्वियों के तथा उत्कृष्ट-व्रती तपोधनों के आहार का वर्णन है—निकृष्टवर्ती, जहां कुत्ता होता है वहां से भिक्षा नहीं लेते हैं, तुम्हारे लिए भिक्षा रखी है ऐसा बोलने वाले की भिक्षा नहीं लेते हैं। 'ठहरो' ऐसा बोलने वाले की भिक्षा नहीं लेते हैं, केवल कुल से एक भिक्षा लेकर अपने आपको शुद्ध मानते हैं। कोई घी, तेल, राब (फाणित), दही, दूध, मछली-मांस का त्याग करते हैं। सावां चावल और सान-पात खाते

---

१. ल० वि० (वैद्य), पृ० ८ पं २२ से २६

२. आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च पत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥
—गीता, अ० १७ श्लोक ८, ९, १०

३. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २

हैं। मृणाल और तृणधान्यों के तण्डुल (गर्डुल-कण) खाते हैं। कोई फल, मूल और पत्र खाते हैं, कुश, गुदड़ी, चर्म तथा कम्बल पहनते हैं। दूसरे नंगे घूमते हैं और मोह में पड़े हुए सोचते हैं कि यही सत्य है और सब मिथ्या है।[1]

कुछ व्यक्तियों ने उत्कृष्टव्रती या तपस्वी का आहार एक बदरफल, तिल, तण्डुल के रूप में अल्पाहार को माना है।[2] षड्वषीय तप के बाद बोधिसत्त्व ने स्थूल अन्न को ग्रहण किया, वहां कुछ खाद्य पदार्थों का वर्णन है, जैसे राब, मूँग की दाल का जूस, मटर का जूस, मट्ठा, भात (ओदन), कुल्माष (घुघरी) आदि।[3] जिस समय सर्वार्थसिद्ध तप कर चुके, पांच भद्रवर्गीयों ने उन्हें एक बेर, एक तण्डुल, एक तिल के भोजन का दान देकर उनकी सेवा की। दस कुमारी ग्रामनेता की पुत्रियों ने[4] सिद्धार्थ को विविध प्रकार के जूस बनाकर दिये, जिन्हें पीकर बोधिसत्त्व भिक्षा देने वाले ग्रामों में, भिक्षा ग्रहण करने में समर्थ होकर रूपवान और बलवान हो गए। ग्रामनेता की पुत्री सुजाता प्रतिदिन आठ सौ ब्राह्मणों को इस अभिलाषा से भोजन खिलाती थी कि बोधिसत्त्व सम्यक् संबोधि प्राप्त करें।[5]

सुजाता ने ताजे दूध से, नए चावलों को, नई बटलोई में पकाया और खीर सिद्ध की। जिसमें श्रीवत्स, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त्त, पद्म, वर्धमान आदि मंगलसूचक सगुन (पूर्वनिमित्त) प्रकट हुए। वह मधुपायस सुजाता ने बोधिसत्त्व सिद्धार्थ को सुवर्णपात्री में अर्पित किया, जिसे खाकर बोधिसत्त्व के बत्तीस लक्षणों वाले और अस्सी अनुव्यंजनों वाले शरीर में दिव्य और उत्तम आभा तथा तेज प्रकट हुआ और उन्हें सम्यक् संबोधि प्राप्त हुई।[6]

त्रपुष-भल्लिक परिवर्त्त में दोनों वणिक् भाइयों ने सर्वार्थसिद्ध बुद्ध को मधु-तर्पण (मधु और सत्तू) तथा छोले और गन्ने (लिखितक-इक्षु)[7] श्रद्धा से भिक्षा

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ७९५-७९७
२. वही, श्लोक ८०५
३. वही, (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १९३
४. बला, बलगुप्ता, सुप्रिया, विजयसेना, अतिमुक्तकमाला, सुन्दरी, कुम्भकारी, उलबिल्लिका, जटिलिका, सुजाता। —वही, पृ० १९४
५. वही, पृ० १९४
६. (क) वही, पृ० १९५, १९६
(ख) वही, (शास्त्री), श्लोक ८४५ ८४९
७. वही, (वैद्य) गद्यभाग, पृ० २७७

के रूप में अर्पित किये । अनेकों गौवों के सर्पिमण्ड (घी के सार) से बना हुआ भोजन चन्द्रनामिका रत्नपात्री में, मधु (शहद) के साथ, भोज्य पदार्थ के रूप में आहार की विधि में खाने को दिया, जिसे खाकर वे धर्मचक्र प्रवर्त्तन कर सकें ।[1]

ललितविस्तर के अध्ययन से विदित होता है जूस, चावल, मूँग की दाल, पायस, मधु, मधुपायस आदि इस काल के व्यक्तियों का प्रिय आहार था । यह आहार विशेष रूप से उत्तम व्रती और साधकों का था । जूस, दालें, चावल, मट्ठा, मधु, मधुपायस आदि आहार सात्त्विक और पौष्टिक माना जाता था।

भिक्षा

ललितविस्तर के अनुसार भिक्षु प्रातः अपने नित्य-कर्म से निवृत्त होकर, साधना सम्बन्धी कर्म भी पूर्ण करके, पिण्डपात्र लेकर नगर में विचरण करने निकल जाता था ।[2] भिक्षुओं के प्रति सामान्य नागरिकों में पर्याप्त आदर भाव था और वे अपनी आदरपूर्ण दृष्टि से उनका स्वागत किया करते थे ।[3] यदि भिक्षु कहीं उत्तम तपस्वी और प्रभावशाली व्यक्ति हुआ तो राजा के कर्मचारी उसकी सूचना राजा को देते थे[4] और राजा स्वयं उसकी आगवानी करता था और उसे प्रार्थना पूर्वक अपने राज्य या राज्यांश सौंपकर कृतार्थता का अनुभव करता था ।[5]

भिक्षुओं की समुचित भिक्षा के लिए सामान्य जनता में बड़ा उत्साह रहा है, भिक्षा देकर उन्हें अतिशय प्रसन्नता होती है । भिक्षा देने का कार्य प्रायः कुमारियां करती थीं । इस कार्य के लिए वे विशेष भोजन तैयार किया करती थीं । नन्दिक ग्रामनेता की पुत्री सुजाता ने एक हजार गौओं के दूध का सात बार सार निकालकर, उससे तथागत के लिए भिक्षा तैयार की थी ।[6] यहां यह स्पष्ट नहीं किया है कि दूध का सार सात बार किस प्रकार निकाला गया था, किन्तु संभव है आयुर्वेद शास्त्र की परम्परा के अनुसार कुछ गौओं का दूध लेकर

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १३३३, १३३४, १३३५
२. ल० वि० श्लोक ७४८
३. वही, श्लोक ७५०-७५२
४. वही, श्लोक ७५३
५. वही, श्लोक ७६०
६. वही, (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १९५ पं० १३, १४

उसके एक तिहाई अर्थात् प्रति गौ को तीन गौओं का दूध पिलाया गया हो। उनके दूध को लेकर पुनः तिहाई गौओं को दिया गया हो। इस प्रकार छठे सार-भूत दूध को पीने वाली चार गौओं का दूध एक गौ को पिलाया गया हो और उस एक गौ के दूध से बोधिसत्त्व के लिए सुजाता ने सार (मण्ड) तैयार किया हो। उस दूध के सार से सुजाता ने खीर (मधुपायस) तैयार किया था।

ललितविस्तर के अनुसार विशिष्ट भिक्षु को लक्ष्य में रखकर जब भिक्षा हेतु आहार तैयार होता था तो स्त्रियां अनेक बार इस सप्तसार दूध का प्रयोग तो करती ही थीं, नवीन अन्न (तण्डुल आदि), नवीन पात्र, तथा नवीन चूल्हे तक का प्रयोग करती थीं—'गृहीत्वा च सा तत्क्षीर-(मभिनवम) भिनवैस्तण्डुलैरभिनवायां स्थाल्यामभिनवां चुल्लीमुपलिप्य तद्भोजनं साधयति स्म।'[1] इस संपूर्ण श्रद्धा-भावना के पीछे उनका विश्वास था कि इस भिक्षा को ग्रहण करके, भिक्षा को आहार के रूप में ग्रहण करने वाला व्यक्ति जीवन में कुछ अद्भुत सफलता प्राप्त करेगा – एवं 'च प्रणिदाधाति, स्म, मम भोजनं भुक्त्वा बोधिसत्त्वोऽनुत्तरां सम्यक् संबोधिमभिसंबुध्येतेति।'[2] भिक्षा को ग्रहण करने वाले के हृदय में इस प्रकार का विश्वास और साथ ही यह कामना भी रहा करती थी। बोधिसत्त्व के मन में यह बात आई कि सुजाता ने जैसा भोजन अर्पित किया है आज निस्सन्देह इस भोजन का भोगकर मैं सम्यक् संबोधि प्राप्त करूंगा।[3]

ललितविस्तर से यह भी पता चलता है कि उस काल में भिक्षा किसी पात्र में रखकर दी जाती थी और वह पात्र भी भिक्षा का एक अंग समझा जाता था—'नाहं विना भाजनेन कस्यचिद् भोजनं प्रयच्छामि'[4] ये पात्र प्रायः बहुमूल्य होते थे। सुजाता ने तो सुवर्णपात्र में बोधिसत्त्व को भिक्षा प्रदान की थी – 'अथ बोधिसत्त्वस्तद्भोजनं प्रतिगृह्य सुजातां ग्रामिकदुहितरमेतदवोचत्— इयं भगिनि सुवर्णपात्री।'[5] भिक्षुजन धन, द्रव्य और रत्नों के प्रति पूर्णतया अपरिग्रही होते थे, और उस पात्र को अथवा अन्य इस प्रकार के अल्पमूल्य अथवा बहुमूल्य पदार्थों को निःस्पृह भाव से फेंक देते थे। किन्तु सामान्य जनता ही नहीं सभी जन इन

---

१. ल० वि० (वैद्य) पृ० १६५, पं० १४-२०
२. वही, (वैद्य), पृ० १६४, पं० ८,
३. वही, पृ० १६६, पं० ४, ५
४. वही, पृ० १६६ पं० ८, ९
५. वही, पृ० १६६ पं० ४, ५

अपरिग्रही भिक्षुओं द्वारा प्रयोग की गयी वस्तुओं का संग्रह कर उनको चैत्यों, (पूजा-मन्दिरों) में स्थापित कर उनकी पूजा किया करते थे। इस प्रसंग में कभी-कभी उनकी होड़ और उस वस्तु विशेष के लिए छीना-झपटी या मांगने की प्रवृत्ति दर्शनीय होती थी—परिभुज्य च तां सुवर्णपात्रीमनपेक्षो वारिणि प्राक्षिपति स्म।......पुरंदरो......आदरेण याचित्वा त्रायत्रिंशद् भवनं नीतवान् पूजार्थं चैत्यार्थं च।[1] इस प्रकार की वस्तुओं को पावन समझा जाता था तथा उनकी प्राप्ति के अवसर को वार्षिक महोत्सव के रूप में मनाया जाता था।[2]

वस्त्र

वस्त्रों का प्रयोजन यद्यपि शरीर को आवृत्त करना एवं शीत, उष्ण से रक्षा करना मात्र रहता है तथापि वस्त्र कोमल हों, सुखद हों और सुन्दर हों, इस बात के लिए सदैव ध्यान दिया जाता रहा है। इसीलिए सभी समयों में राजा महाराजाओं और भिक्षुजनों (साधु संन्यासियों) के वस्त्र भिन्न-भिन्न प्रकार के रहे हैं। ललितविस्तर के अनुसार राजा महाराजाओं के काचिलिन्दक वस्त्र होते थे। ये वस्त्र स्पर्श से अत्यन्त सुखद एवं वर्ण से नील तृण अथवा मयूर की ग्रीवा के रंग के समान होते थे।[3] इस प्रकार के वस्त्रों को दिव्य वस्त्रों के नाम से भी जाना जाता था।[4] ये दिव्य वस्त्र काशी नगरी में बना करते थे, इसलिए इन्हें दिव्यकाशिक वस्त्र भी कहते थे।[5] वस्त्रों को सुन्दर बनाने के लिए उन पर कसीदाकारी भी की जाती थी और उसे चीवर कहते थे। बोधिसत्त्व के गर्भावक्रान्ति काल में महाब्रह्मा ने चीवर ही दिया था, ऐसा समझा जाता था कि वह देखने में बहुत सुन्दर होता है।[6] स्मरणीय है कि बौद्ध-भिक्षुओं के पहनने

---

१. (क) ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १९६ पं० २८
(ख) भुक्त्वा भोजनु यावदर्थं मतिमान् पात्रीं जले प्राक्षिपत्।
तां जग्राह पुरंदरः सुरगुरुः पूजां करिष्याम्यहम्॥
—ल० वि०, श्लोक ८४९

२. 'सुविभक्तविस्तीर्णनीलतृणमयूरग्रीवासंनिभे काचिलिन्दिकसुखसंस्पर्शे....'।
—ल० वि० (वैद्य), पृ० ६१, पं० १२, १३

३. वही, पृ० ४८, पं० ५, ६

४. 'बोधिसत्त्वं परमगौरवजातौ दिव्यकाशिकवस्त्रान्तरितम्।'
—वही, पृ० ६१, पं० २४

५. 'यत् खलु महाब्रह्मणा चीवरं प्रावृतमभूत्' —वही, पृ० ४९, पं० I

६. 'पिण्डपात्रं चीवराणि...' —वही, पृ० १९६ पं० II

के वस्त्रों को भी चीवर कहते हैं इसका कारण संभवतः इसका सिला हुआ होना है।

ललितविस्तर के अनुसार राजा और भिक्षुओं के वेष या वस्त्रों का विभाजन यदि करना चाहें तो राजाओं के वस्त्रों को काशिक वस्त्र एवं भिक्षुओं के वस्त्रों को काषायवस्त्र और चीवर कह सकते हैं। कोई भिक्षु काशिक वस्त्र पहनकर अपने भिक्षु होने पर स्वयं भी सन्देह करने लगता था। इसीलिए ललितविस्तर के कथानायक तथागत बोधिसत्त्व अपने आप सोचते हैं कि प्रव्रज्या के साथ कासिक वस्त्रों की कहां संगति हो सकती है? और इसीलिए वे भिक्षुवेश के अनुरूप काषायवस्त्र की कामना करते हैं तथा लुब्धक वेष में काषायवस्त्र पहने किसी आगत देवपुत्र को देखकर उससे वस्त्र बदलने का प्रस्ताव रखते हैं और बदल लेते हैं।[1]

महल (प्रासाद)

महलों अथवा राज-भवनों की चर्चा प्रसंगतः अनेक स्थानों पर प्राप्त होती है किन्तु प्रायः सभी स्थानों पर वर्णन एक जैसा ही है। इस प्रसंग में वैशाली महानगरी के महलों एवं बोधिसत्त्व द्वारा अध्यवसित तुषितवर महल का वर्णन एक जैसा ही है। दोनों ही वितर्दिनिर्यूह तोरण गवाक्ष-कूटागार और प्रासाद-तल से समलंकृत थे।[2] ये घर ऊँचे-ऊँचे ध्वजावाले पताकाओं से, रत्न-किंकिणियों

---

१. (क) बोधिसत्त्वस्यैतदभूत्---कथं हि नाम प्रव्रज्या च काशिकानि वस्त्राणि। स चेद्वनवासानुरूपाणि काषायाणि वस्त्राणि लभेयम्, शोभनं स्यात्। तत्रैको देवपुत्रोदिव्यं रूपमन्तर्धाप्य लुब्धकरूपेण काषायवस्त्रप्रावृतो बोधिसत्त्वस्य पुरतोऽस्थात्। अथ बोधिसत्त्वः तमेतद्वोचत्—स चेन्मे मार्षा काषायाणि वस्त्राणि दद्याः, इमानि तेऽहं काशिकानि वस्त्राणि दद्याम्। सोऽवोचत्—एतानि वस्त्राणि तव शोभन्ते। इमानि मम। बोधिसत्त्व आह—अहं त्वां याचामि। ततस्तेन लुब्धकरूपाणि देवपुत्रेण बोधिसत्त्वाय काषायाणि वस्त्राणि दत्तान्यभूवन्। काशिकानि गृहणीते स्म। —ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १६४, पं० ५-१२

(ख) अनेन कुमाराय काषायाणि वस्त्राणि दत्तानि। कुमारेण चास्यैतानि काशिकानि वस्त्राणि दत्तानि!
—ल० वि०, पृ० १६५, पं० २१, २२

२. (क) तस्मिन् महाविमाने सुखोपविष्टस्य द्वात्रिंशद्भूमिसहस्र प्रतिसंस्थिते वितर्दिनिर्यूहतोरणगवाक्षकूटागारप्रासादतल समलंकृते···।
—वही, पृ० ८ पं० २३, २४

के जाल के वितान से अलंकृत थे। ललितविस्तर के अनुसार लोग इन महलों में विस्तर, मन्दार, महामन्दार आदि पुष्पों से सुसज्जित किये जाते थे।[1] इनको सुसज्जित और अलंकृत करने के लिए पुष्प वाटिका एवं वृक्षों की पंक्तियों से अलंकृत किया जाता था।[2]

यहाँ लगाये जाने वाले वृक्षों में मुख्य रूप से अतिमुक्तक, चम्पक, पाटल, कोविदार, मुचिलिन्द, महामुचिलिन्द, अशोक, न्यग्रोध, तिन्दुक, विजयसार, कर्णिकार, केसर, साल, सहकार, लेखक, कुरवक, तिलक आदि हुआ करते थे।[3] इन घरों को सोने के तारों से वनी जालियों से घेरा जाता था। स्थान-स्थान पर पूर्णकुम्भ की स्थापना मंगल की दृष्टि से की जाती थी। इन्हें दीप-मालिकाओं से भी अलंकृत किया जाता था।[4] महलों में अनेक प्रकार के पक्षी भी पाले जाते थे, एवं उनकी कूजन से महलों को अलंकृत समझा जाता था।[5] घर के साथ उद्यान में जलाशयों का निर्माण भी किया जाता रहा है, इन जलाशयों को पुष्करिणी कहते थे। इनमें उत्पल, पद्म, कुमुद और पुण्डरीक लगे होते थे। हंस, मयूर, कोकिल, चक्रवाक, क्रौञ्च, सौरस आदि पक्षी भी इन जलाशयों की शोभा वढ़ाते रहते थे।[6] महलों के समक्ष रत्नों से निर्मित चबूतरे हुआ करते थे और उनके चारों ओर रत्नों का जाल वनाकर उन्हें घेर दिया जाता था।[7] महलों और प्रासादों की सृष्टि के समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि वे प्रत्येक ऋतु की दृष्टि से सुखद हों। इस दृष्टि से प्रत्येक ऋतु के अनुकूल सुविधाओं से युक्त अलग-अलग कमरे तहखाने, वरसाती, बारादरी

(ख) रमणीया चाकीर्णबहुजनमनुष्या च वितर्दिनिर्यूहतोरणगवाक्ष हर्म्य-कूटागारप्रासादतलसमलंकृता च।

—ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १५, पं० ११, १२

१. ल० वि० (वैद्य), पृ० ८ पं० २३, २४

२. पुष्पवाटिकावनराजिसंकुसुमिता···। वही, पृ० १५ पं० १२-१३

३. (क) वही, (वैद्य) पृ० ८, पं० २४-२५
(ख) वही, पृ० १५२, पं० २३

४. वही, पृ० ८ पं० २६

५. वही, पृ० १५२ पं० २२

६. वही, पृ० १५२, पं० २२-२३

७. रत्नवेदिकापरिवृताः रत्नजालसंछन्नाः। —वही, पृ० १५२ पं० २४

आदि के आकार के बनाये जाते थे।[1] महलों और प्रासादों में स्त्रियों के निवास की व्यवस्था अलग रहती थी। घर का वह भाग जिसमें स्त्रियाँ रहती थीं, अन्तःपुर कहलाता था। अन्तःपुर में नृत्य, संगीत, वाद्य की शिक्षा के लिए अलग-अलग कमरे हुआ करते थे, यहाँ हास्य एवं शृंगार प्रधान क्रीड़ाएँ प्रायः हुआ करती थीं, जिससे वहाँ रहनेवालों का मनोरंजन होता रहे। अन्तःपुर में जिन वाद्यों का प्रचार था, उनमें मुख्य निम्नलिखित रहे हैं—तुणव, पणव, वीणा, वेगु, संयता अवचर, अंकिपल, नकुल, सुघोषक, मृदङ्ग, पटह आदि।[2]

महलों और प्रासादों की सृष्टि स्वामी की समृद्धि के अनुसार होती थी, फलतः कुछ महल सामान्य होते थे जब कि कुछ महल या प्रासाद विशिष्ट भी होते थे। तथागत बोधिसत्त्व जिस प्रासाद में विराजते थे, उसे तुषितवर प्रासाद कहा गया है।[3] ऐसे प्रासादों को प्रासाद-श्रेष्ठ भी कहते थे। समय विशेष पर आवश्यकतानुसार उनकी वैभवपूर्ण साज-सज्जा में वृद्धि भी की जाती थी, उसे पुष्पों से सजाया जाता था, तथा धूप आदि जलाकर उन्हें सुगन्धित किया जाता था एवं छात्रों और पताकाओं से आकस्मिक रूप से अलंकृत किया जाता रहा है।[4] जिससे उसमें रहने वाले व्यक्ति को पूर्ण सुख की प्राप्ति हो सके।

अन्तःपुर मे स्नानगृह की मनोरम व्यवस्था रहती रही है, जिसमें स्नान के बाद, शरीर में लगाने के लिए विलेपन के उपादान रखे रहते थे। ये विलेपन विविध वर्ण के चन्दन आदि से अथवा आजकल के समान क्रीम, पाउडर आदि इस सम्बन्ध में कुछ स्पष्ट नहीं है।[5]

पुरों और राज-प्रासादों की रक्षा के लिए, विविध प्रकार की कवचों से आवृत्त, युद्धभूमि में पहुँचते ही मदमस्त होकर युद्ध करनेवाले हजारों वीरों की सेना हुआ करती थी। बोधिसत्त्व की माता जिस महल में निवास करती थी, उसकी रक्षा के लिए उपर्युक्त प्रकार के बीस हजार सैनिक नियुक्त थे। उनके हाथों में नाराच, शूल, धनुष-बाण, शक्ति और खड्ग आदि शस्त्रास्त्र हुआ करते थे। ये सैनिक निरन्तर अन्तःपुर की रक्षा में सचेष्ट रहते थे।[6]

---

१. यथर्तुकालपरिभोगाग्रीष्मशिशिरहेमन्तसुखसंवासाः।
—ल० वि० (वैद्य) पृ० १५२, पं० २४

२. वही, पृ० १५२, पं० २७-२६

३. वही, पृ० ७, पं० २

४. ल० वि० (शास्त्री) श्लोक ८६

५. वही, श्लोक ८८ पं० २

६. वही, श्लोक ८७ एवं १३३

इन महलों में विशेषतः राजप्रासादों की रक्षा के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाता था। यह विशेष प्रबन्ध दोनों दृष्टियों से हुआ करता था। प्रथम यह कि बाहर के अनपेक्षित व्यक्ति प्रासाद में प्रवेश न कर सकें, दूसरा यह भी कि अन्दर के लोग भी बाहर न जाने पाएँ। स्वयं बोधिसत्त्व घर से निकल न जाएँ, इस दृष्टि से उनके पिता राजा शुद्धोदन ने विशाल सुरक्षा व्यवस्था की थी। जिस प्रासाद में बोधिसत्त्व रह रहे थे, उसकी रक्षा के लिए महाराज शुद्धोदन ने चारों ओर समुन्नत प्राकार (चहारदीवारी) और परिखाएँ (खाइयाँ) बनवा दी थीं, उसमें सुदृढ़ द्वार लगे थे, उसकी रक्षा के लिए रक्षक पुरुष और वीर-पुरुष नियुक्त थे। उन योद्धाओं के पास तीव्रगामी वाहन थे, एवं सुदृढ़ कवच पहने हुए थे।[1] वे रक्षक-पुरुष अत्यन्त वीर थे और युद्ध में उत्साह रखनेवाले थे। उनके हाथों में खड्ग आदि आयुध थे। हाथी, घोड़े और रथ सदा तैयार रहते थे। प्रासाद की रक्षा के लिए ऊँचे प्राकार में खोटक और तोरण आदि बने हुए थे। द्वार अत्यन्त दृढ़ तो थे ही। वहाँ ऐसी व्यवस्था की गयी थी कि उनके खोलने पर, इतनी तेज ध्वनि हो जो एक कोश तक अर्थात् तीन किलो-मीटर तक सुनाई पड़ सके। अर्थात् उसमें Burgallers Alarm लगे हुए थे।[2] शस्त्रास्त्र के रूप में, उस काल में असि, धनुष-बाण और शक्ति का सर्वाधिक प्रयोग होता था।[3]

ललितविस्तर के अनुसार उस काल के सभी राजा और प्रतिष्ठित व्यक्ति अपने अपने निवास-गृहों को लोकोत्तर अर्थात् सर्वाधिक उत्कृष्ट बनाने का प्रयत्न करते थे, और उन गृहों को अपनी प्रतिष्ठा की कसौटी के रूप में मान-कर, उन्हें उत्कृष्ट, उत्कृष्टतर और उत्कृष्टतम बनाने का प्रयत्न करते थे तथा उनका नामकरण अपने अथवा परिवार के किसी सदस्य के नाम पर रखते रहे हैं। उदाहरण के लिए देवराज शक्र के भवन का नाम वैजयन्त था। शक्र के अनुसार त्रयस्त्रिंश दिकपालों के विमानयुक्त प्रासाद, इस वैजयन्त प्रासाद की अपेक्षा अतिशय हीन थे।[4] स्वयं राजा शुद्धोदन का प्रासाद जिसमें उन्होंने जन्म के चार मास बाद तथागत बोधिसत्त्व को रखा था, रत्नव्यूह नामक महाप्रासाद था। इस प्रासाद का स्वरूप विवरण यद्यपि ललितविस्तर में प्राप्त नहीं है

---

१. ल० वि०, गद्यभाग, पृ० १३६, पं० १३ से १८

२. वही, (शास्त्री, श्लोक ५६०

३. वही, श्लोक १३३

४. वही, श्लोक १७०

तथापि इसके नाम को देखकर यह कल्पना की जा सकती है कि यह विविध प्रकार के रत्नों से रचित विशाल प्रासाद रहा होगा।

इससे पूर्व गर्भावक्रान्ति परिवर्त्त में तथागत बोधिसत्त्व के जन्म से पूर्व माया देवी के सुख-निवास के लिए, जब राजा शुद्धोदन चिन्ता कर रहे थे, उस समय देवों के शक्र इन्द्र, देवपुत्र, सुयाम, देवपुत्र संतुषित एवं देवपुत्र सुनिर्मित के मुख से ग्रन्थकार ने महल के कुछ गुणों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उल्लेख कराया है। साथ ही उनके द्वारा अपने अपने घरों की विशेषताओं का उल्लेख करके उसे तथागत बोधिसत्त्व की माता के लिए समर्पित करने का प्रस्ताव भी कराया है। इसके अनुसार देवेन्द्र शक्र द्वारा देने के लिए, प्रस्तावित प्रासाद वैजयन्त-प्रासाद के सदृश था, जो सम्भवतः उनके द्वारा अपने पुत्र के लिए बनवाया गया होगा। यह भवन विमान-शैली का भवन था, सभी दिक्पालों के विमान तथा त्रयस्त्रिंश नामक देवताओं के भवन इस प्रस्तावित भवन की अपेक्षा बहुत हीन थे।[1]

सुयाम देवपुत्र अपना महल देने का प्रस्ताव करते हैं, जो सुयाम भवन के नाम से ही प्रसिद्ध रहा है। सुयाम का कहना है कि उस भवन को देखकर सभी आश्चर्यान्वित हो जाते थे।[2]

देवपुत्र संतुषित के अनुसार उनका भवन तुषितलोक के भवनों में सर्वश्रेष्ठ रहा है। उसकी एक विशेषता यह भी है कि उसमें तथागत बोधिसत्त्व तुषित लोक में निवास-काल में रह भी चुके थे।[3]

सुनिर्मित देवपुत्र जो भवन बोधिसत्त्व की माता मायादेवी के निवास के लिए देना चाहते हैं, सम्पत्ति और शोभा से युक्त तो था ही, वह रत्नमय था, वह दिव्य-पुष्पों से बनाया गया था।[4]

ग्रन्थकार ने यहीं पर निर्मितवशवर्ती नामक देवपुत्र के भवन का भी उल्लेख किया है जो इतना सुन्दर था कि उसके समक्ष विश्व में कहीं भी कामधातु से निर्मित सुन्दर से सुन्दर विमान इसके समक्ष कान्तिहीन एवं हतप्रभ थे। यह भवन दिव्य पुष्पों से सुशोभित एवं दिव्यगन्ध से सुवासित था।[5]

---

१. ल० वि० (शास्त्री) श्लोक १७०

२. वही, श्लोक १७१

३. वही, श्लोक १७२

४. वही, श्लोक १७५, १७६

५. वही, श्लोक १७४-१७६

कूटागार

कूटागार भवन का एक विशेष प्रकार होता था, जिसमें राजा, राजकुमार अथवा महारानी निवास करती थीं। इस प्रकार के कूटागारों में एक भवन के अन्दर दूसरा, दूसरे में तीसरा, और तीसरे के बीच में चौथा भवन होता था। बोधिसत्त्व को गर्भ में धारण करने पर महारानी को जिस प्रासाद में रखा गया था, वह भी एक कूटागार था। किन्तु इसमें केवल तीन ही अन्तर-भवन थे। इसके सबसे अन्दरवाले भाग में बोधिसत्त्व की माता को रखा गया था। क्योंकि सबके बीच में स्थित भवन सबसे अधिक सुरक्षित रहता है, अतः प्रयोग में आने-वाले बहुमूल्य रत्न आदि उसमें ही सुरक्षित किये जाते थे और इसी कारण वह भाग रत्नकूटागार कहलाता था। उससे बाहर के भाग में सुरक्षा एवं सहज उपलब्धि आदि को ध्यान में रखते हुए, गन्धद्रव्य, विलेपन आदि रखे जाते थे, अतः वह भाग गन्धकूटागार कहलाता था। इसके बाहर के भाग में अन्य वे सब रत्न आदि रखे जाते थे, जिनका उपयोग अन्तःपुर में प्रतिदिन नहीं होता है किन्तु उनकी सुरक्षा की आवश्यकता है। इसे पुनः रत्नकूटागार ही कहा जाता था और उसके बाहर भवन का एक भाग और होता था, जिसे कूटागार का बाहरी भाग कह सकते हैं।[1]

कुछ कूटागार ऐसे भी बनाए जाते थे, जिन्हें एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जा सकता था और प्रायः किसी विशिष्ट व्यक्ति से सम्बद्ध होने पर उस कूटागार को लोग स्मारक के रूप में रखने का प्रयत्न करते थे।[2] अनेक बार कूटागारों का निर्माण पूजा-गृह के रूप में भी हुआ करता था। गुणमति नामक बोधिसत्त्व ने पूजा के लिए ही कूटागार का निर्माण किया था, उसका प्रयत्न था कि उस कूटागार में कूटागार के सभी गुण विद्यमान हों। ऐसे सर्व-गुण सम्पन्न कूटागार को कूटागार-व्यूह कहते थे।[3]

स्त्रियों के कुछ विशेष गुण

स्त्रियों के गुणों की चर्चा विस्तारपूर्वक पहले की जा चुकी है। उन गुणों से युक्त स्त्रियों को स्त्रीरत्न माना जाता रहा है और उनकी गणना सात रत्नों में की जाती रही हैं इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त स्त्री-गुणों में सौन्दर्य का प्रथम स्थान ललितविस्तर में स्वीकार किया है और इस

१. ल० वि०, गद्यभाग, पृ० ५० पं० २२ से २६
२. वही, पृ० ६१
३. वही, पृ० २१२

विषय में कामदेव की पत्नी रति को सौन्दर्य का प्रतिमान माना जाता रहा है। सौन्दर्य के अतिरिक्त गुणवती होना, प्रशस्तपुत्र की मात्रा होना भी स्त्रियों के प्रधान गुणों में स्वीकृत था—

रतिरिव सदृशी गुणान्विता च, जननिरिपं प्रवराग्रपुंगलस्य ।
मणिरत्न यथा सुभाजनस्य तथ इव भाजन देवि देवदेवे ॥[1]

अंगों का ऐसा मनोरम और दिव्य होना कि देखते हुए तृप्ति न मिले, जब तक देखे निरन्तर मन हर्ष का अनुभव करता रहे।[2] इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने सूर्य के सदृश विमलता एवं चन्द्रमा के सदृश दीप्त होना[3] सौन्दर्य का प्रतीक माना है। शारीरिक रंग के प्रसंग में लेखक सुन्दर नारी शरीर को सुवर्ण के रंगवाला स्वीकार करता है जबकि उसके केश भ्रमर की भाँति काले घुँघराले होने चाहिए।[4] रूप के साथ यौवन भी स्त्री का प्रधान गुण माना गया है किन्तु यदि रूप और यौवन को प्राप्त करके स्त्री यदि मतवाली होने लगे तो उसे दोष भी माना जाता था। स्त्री का आचरण अपनी माता और बहिन के आचरण को आदर्श मानकर होना चाहिए। त्यागशील होना, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान देना भी विवाहयोग्य स्त्री का गुण माना जाता रहा है।[5]

विवाह विज्ञापन

ललितविस्तर के अनुसार उस काल में अनेक माता-पिता अपने पुत्र के विवाह के लिए योग्य कन्या की खोज करने के लिए, कुछ विशिष्ट गुणों को मानदण्ड के रूप में स्वीकार करके गाथा-लेखों के रूप में उसका प्रचार सुदूर तक किया करते थे। स्वयं तथागत बोधिसत्त्व के विवाह के लिए उनके पिता ने कन्या के गुणों का अंकन कर रखा था।[6] उसके अनुसार वह कन्या अधिक योग्य मानी जाती थी, जो रूपवती होने के साथ यौवन-संपन्न भी हो किन्तु उसे रूप का अभिमान न हो। माता बहिन आदि के प्रति उसके हृदय में स्नेह हो, त्याग-प्रवृत्ति वाली हो, ब्राह्मणों और संतों के प्रति आदर भाव रखती हो इत्यादि—

---

१. ल० वि० श्लोक १२४
२. वही, श्लोक १२५
३. वही, श्लोक १२६
४. वही, श्लोक १२७
५. वही, श्लोक ३४५
६. वही, श्लोक ३४४

या रूपयौवनवरा न च रूपमत्ता
माता स्वसा व यथ वर्तति मैत्रचित्ता ।
त्यागे रता श्रमणब्राह्मणदानशीला
तां तादृशां मम वधूं वरयस्व तात ।।[1]

अंगप्रदर्शन अथवा वक्षस्थल पर पड़े आभूषणों का प्रदर्शन ग्रन्थकार को स्वीकार्य नहीं है वह उन्हें वस्त्रों से आच्छादित रखने का ही परामर्श देता है ।[2] यद्यपि दासियों के वस्त्र प्रायः शरीर से विगलित होते रहते थे ।[3]

प्रसाधन

स्वाभाविक सौन्दर्य के अतिरिक्त अपने सौन्दर्य की वृद्धि के लिए अथवा उसकी अभिव्यक्ति के लिए स्त्रियां प्रसाधन भी पर्याप्त मात्रा में करती थीं । इन प्रसाधन सामग्रियों को स्त्रियां स्वयं प्राप्त करती थीं, उनसे मिलने वाली महिलाएं मिलने के लिए आते समय प्रसाधन सामग्री लेकर आती थीं—

'वर प्रवरपुष्पधूपदीपगन्धमाल्यविलेपनचूर्णचीवरपरिगृहीता' 'ताश्च सहित पुष्पमाल्यहस्ता उपगमि वेश्म नृपस्यजातकांक्षा' पुष्प तथा विलेपनां गृहीत्वा दशनख अञ्जलिभिर्नमस्यमाना ।। [4]

प्रसाधन के क्रम में स्त्रियां स्नान के बाद अनुलेपन करती थीं और श्रेष्ठ वस्त्र धारण करती थीं ।[5]

वियोग की स्थिति में शृंगार आदि का विसर्जन

उपर्युक्त सभी-साज सज्जा (प्रसाधन) विवाहिता महिलाएं पति की सन्निधि में रहने पर ही किया करती थीं, यद्यपि कुमारियां भी प्रसाधन से दूर नहीं रहती थीं । पति से वियोग की स्थिति में वे प्रसाधन नहीं करती थीं, बल्कि

---

१. ल० वि० श्लोक ३४५

२. वही, श्लोक २०३

३. वही, श्लोक १२२

४. (क) वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ३६
   (ख) वही, श्लोक १२१

५. स्त्रीभिस्तु सा परिवृता यथ देवकन्या, स्नातानुलिप्त प्रवराम्बरभूषिताङ्गी ।
तूर्यैः सहस्रमनुगीतमनोज्ञघोषैः, आरुह्य देव्युपविशेष मरुत्स्नुषेव ।।
—वही, श्लोक ८८

पहने हुए आभूषणों को उतार कर फेंक देती थीं।[1] वियोग की स्थिति में स्त्रियां मधुपान आदि भी त्याग देती थीं, ऐसा संकेत ललितविस्तरकार ने किया है।[2]

दोष

कुछ स्वभावगत विशेषताएं स्त्रियों के दोष माने गये हैं। इन दोषों के रहने पर उस स्त्री से विवाह करना ठीक नहीं माना जाता था। अभिमान, खल-स्वभाव, द्वेष, शठता, ईर्ष्या, माया, स्वभावगत मृदुता का अभाव, पर-पुरुष-अनुरक्ति, अपने पति से संतुष्ट न रहना आदि।[3]

स्वप्नान्तरेऽपि पुरुषे न परेऽभिरक्ता।
तुष्टा स्वकेन पतिना शतेयऽप्रमत्ता॥
न च गर्विता न पि च उद्धत न प्रगल्भा।
निर्मान मानविगतापि च चेटिभूता।
न च पानगृद्ध न रसेषु न शब्दगन्धे।
निर्लोभभिध्यविगता स्वधनेन तुष्टा॥
सत्ये स्थिता न पि च चञ्चल नैवभ्रान्ता।
न च उद्धतोन्नतस्थिता ह्रिरिवस्त्रछन्ना॥
न च दृष्टिमङ्गलरता सद धर्मयुक्ता।
कायेन वाच मनसा सद शुद्धभावा॥
न च स्त्यानमिद्धबहुला न च मानमूढा।
मीमांसयुक्त सुकृता सद धर्मचारी॥
श्वश्रौ त तस्य श्वसुरे यथ शास्तृप्रेमा।
दासी कलत्र जनि यादृशमात्मप्रेम॥

रोग और रोगी का उपचार

ललितविस्तर में जरा-मरण को दुःख (रोग रूप) माना गया है तथापि प्रसंगतः व्याधिजन्य रोगपीडा की चर्चा भी हुई है। इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने प्रायः रोगों के नाम लेकर केवल उनके आश्रय-स्थान के आधार पर चक्षुरोग, श्रोत्ररोग, घ्राणरोग, जिह्वारोग, ओष्ठरोग, दन्तरोग, कण्ठरोग के नाम से रोगों की चर्चा की है गलगण्ड, उरगण्ड, कुष्ठ, किलासशोष उन्माद अपस्मार ज्वर गलगण्ड पिटक विसर्प विचर्चिका (हैजा) आदि का उल्लेख भी किया है। यद्यपि

१. ल० वि० श्लोक ६८६
२. वही, श्लोक ६९१
३. वही (शास्त्री), श्लोक ३४६-३४९

रोगों की संख्या अनन्त है किन्तु सभी रोग, वात, पित्त, कफ के विकारयुक्त होने से होते हैं।[1] उस काल में इन रोगों की चिकित्सा के लिए तृणगुल्मों (जड़ी-बूटियों) का प्रयोग किया जाता था—'तृणगल्मकमपि धरणितलादभ्युत्क्षिप्य ग्लानेभ्य: सत्त्वेभ्योऽनुप्रयच्छति स्म।'[2] आयुर्वेदशास्त्र में तृणगुल्मों का विशेष प्रयोग और महत्त्व है।

अनेक रोगों के कारणों के रूप में लोगों का विश्वास था कि कुछ रोग देव गन्धर्व नाग यक्ष असुर गरुड़ एवं भूत के आविष्ट होने से भी होते हैं। ऐसे रोगों की चिकित्सा के लिए लोग विशिष्ट प्रभावशाली महापुरुष के दर्शन करते थे। पौराणिक ग्रन्थों की भांति ललितविस्तर में भी समस्त शारीरिक और मानसिक रोगों की निवृत्ति के लिए अमृत को महौषधि माना गया है—

> **इह तन्मयानुबुद्धं सर्वपरवादिभियदप्राप्तं।**
> **अमृतं लोकहितार्थं जरामरणशोकदु:खान्तं ॥**[3]

परदा-प्रथा (घूँघट) का निषेध

वैदिक-युग के वाङ्मय से ज्ञात होता है कि पहली सदी ई० पूर्व तक हिन्दू समाज में स्त्रियों के लिए परदा-प्रथा या अवगुंठन या घूँघट की प्रथा नहीं थी। नव-विवाहिता-वधू सास, ससुर, ननद और देवरों पर सम्राज्ञी होती थी, किसी प्रकार के परदे का प्रचलन नहीं था। वैदिक-युग में गार्गी जैसी महिलाओं ने सभा-समिति, उत्सव-मेले, अध्यातमज्ञान की महासभाओं (Philosophical congress) आदि में निर्विघ्न, नि:सङ्कोच भाग लिया। रामायण में लिखा है कि विवाह, स्वयंवर; यज्ञ आदि के अवसर पर स्त्रियां निर्विरोध सामाजिक, राजनीतिक कृत्यों में सम्मिलित होती थीं। जातक साहित्य में लिखा है यद्यपि स्त्रियां आवरण-युक्त रथों में जाती थीं परन्तु वे अवगुंठन के विना मंत्रियों और अधिकारियों से वार्तालाप करती थीं। भास (दूसरी सदी ईस्वी) के प्रतिमा-नाटक में परदे का वर्णन है। दुष्यन्त की राज्य सभा में शकुन्तला ने अपने मुख पर आवरण किया हुआ था, जिसे बाद में दुष्यन्त ने मुख पर से हटा दिया। जहां रानियां रहती थीं, उसे अन्त:पुर अवरोध और शुद्धान्त कहा जाता था। इन साहित्यिक प्रमाणों से विदित होता है कि दूसरी सदी ईस्वी से ही कुछ

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ५३

२. वही,

३. वही, (शास्त्री) श्लोक १२७६

उच्च और राजकीय परिवारों में परदे की रीति का प्रचार हुआ, परन्तु बुद्ध की भार्या और जाया गोपा ने अवगुंठन का विरोध किया।

शाक्यकुमारी गोपा विवाह होने पर किसी को देखकर मुंह नहीं ढकती थी, चाहे वह सास हो या ससुर, चाहे भीतर का कोई और स्त्री-पुरुष या व्यक्ति हो। वे सब खीझते और सोचते थे कि नई बहू सिमटी-सिमटी रहती है परदा करती है पर गोपा तो खुल्लमखुल्ला मुंह खोले हुए है घूँघट नहीं निकालती है।[1] शाक्यदुहिता गोपा ने यह सब कटाक्ष सुनकर सबके सामने परदे का विरोध किया एवं शील आदि गुणों को महत्त्व दिया।

जो शरीर से संयत हैं, शरीर के दोषों को जिन्होंने जीत लिया है; जो वाणी से संयमी हैं और वृथालाप नहीं करते हैं, जितेन्द्रिय हैं जो शांत हैं जो मन से निर्मल हैं, प्रसन्नचित्त हैं, ऐसे व्यक्तियों को कृत्रिम आवरण से क्या लाभ? यदि कोई स्त्री हजारों वस्त्रों से अपने ऊपर आवरण करे परन्तु यदि उसके मन में लज्जा नहीं है, सत्यवाणी नहीं है तो वे व्यक्ति इस जगत में नग्न के समान हैं। जो स्त्रियां अपने मन की स्वामी हैं, संयतेन्द्रिय हैं, अपने पति से संतुष्ट हैं, चांद और सूर्य की तरह खुली हवा में बिना छुपे रहती हैं, ऐसी स्त्रियों के घूँघट करने से क्या लाभ?[2] चतुर महात्मा, ऋषिगण और देवतागण जानते हैं कि मुझमें शील है, गुण है, संयम है, सावधानी है, मैं अपना मुंह घूंघट से क्यों ढकूँ?[3]

गोपा की इन शीलभरी गाथाओं को सुनकर राजा शुद्धोदन ने रत्नजटित दुशाला और लाल मुक्तामणियों से जटित सुवर्णमाला प्रसन्न होकर शाक्यसुता गोपा को भेंट की और कहा कि मेरे पुत्र के समान पुत्रवधू भी गुणों से विभूषित है दोनों के मन का तादात्म्य परस्पर इस प्रकार हुआ है जैसे घी और घी का सार परस्पर मिलते हैं।[4]

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १०८

२. वही, (शास्त्री), श्लोक ३८०, ३८१, ३८२

३. जानन्ति आशयु मम ऋषयो महात्मा, परिचित्तबुद्धि कुशलास्तथ देवसंघा।
यथ मह्यशील गुणसंवरु अप्रमादो, वदनावगुण्ठनमतः प्रकरोमि किमे॥?
—वही (शास्त्री), श्लोक ३८३

४. यथा च पुत्रो मम भूषितो गुणैः तथा च कन्या स्वगुणा प्रभासते।
विशुद्धसत्त्वौ तदुभौ समागतौ, समेति सर्पिर्यथ सर्पिपिण्डे॥
—वही, श्लोक ३८४

स्वस्त्ययन

ललितविस्तरकार के अनुसार उस काल में संपूर्ण मंगल के उद्देश्य से प्रत्येक दशा के दिक्पालों और उनसे सम्बद्ध नक्षत्र तथा देवी-देवताओं की वन्दना की जाती थी। यह विश्वास किया जाता था कि इस प्रकार के मंगल-कार्य से न केवल कल्याण सिद्ध होता है अपितु संपूर्ण प्रयोजनों की भी सिद्धि होती है—

दिशां स्वस्तिकरं दिव्यं मङ्गल्यं चार्थसाधकं ।
अर्था वः सासतां सर्वे भवत्वाशु प्रदक्षिणा ॥[1]

यह विश्वास रहा है कि इस प्रकार की मांगलिक क्रियाओं के करने से न केवल उपासक को, अपितु वह जिसके लिए स्वस्त्ययन कर रहा है, उसे सर्वतोभावेन लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है। सभी प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं और सब प्रकार के सुखों की प्राप्ति भी हो जाती है—

श्रीर्वोऽस्तु दक्षिणे हस्ते श्रीर्वोवामे प्रतिष्ठिता ।
श्रीर्वोऽस्तु सर्वसङ्गेषु मालेव शिरसि स्थिता ॥[2]

स्वयं तथागत ने त्रपुष-भल्लिक वणिजों के सूखोदय एवं लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए स्वस्त्ययन-क्रिया की थी।

ललितविस्तर के अनुसार लोगों का यह विश्वास रहा है कि पूर्वदिशा में कल्याण की कामना से कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य और आश्लेख नक्षत्रों की वहां के दिक्पाल धृतराष्ट्र की तथा सूर्य की आराधना करनी चाहिए।[3] इसी प्रकार इसी दिशा में सूर्य के इक्यासी हजार पुत्रों की तथा जयन्ती, विजयन्ती, सिद्धार्था, अपराजिता, नन्दोत्तरा, नन्दिसेना, नन्दिनी, नन्दवर्धिनी नामक देवकुमारियों की आराधना भी पूर्व दिशा में रक्षा करती है।[4] इसी प्रकार दक्षिण दिशा की यात्रा में रक्षा के लिए मघा, दोनों फाल्गुनी नक्षत्र, हस्त, चित्रा, स्वाति, और विशाखा नामक सात नक्षत्रों, विरुढ़क नामक दिक्पति, उसके पुत्र तथा श्रियामती, यशमती, यशप्राप्ता, यशोधरा, सूत्थिता, सुप्रथमा, सुप्रबुद्धा और सुखावहा नामक देवकन्याओं की, पश्चिम दिशा की यात्रा में

---

१. ल० वि० श्लोक, १३३७
२. वही, श्लोक १३३८
३. वही, श्लोक १३४१-१३४३
४. वही, श्लोक १३४४-१३४६

अनुराधा. ज्येष्ठा, मूल, दोनों आषाढ़ा, अभिजित, और श्रवण इन सात नक्षत्रों, दिक्पति विरुपाक्ष, नागाधिपति वरुण, उनके इक्यासी हजार पुत्रों तथा अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका, अरुणा, एकादशा, नवमिका, सीता, कृष्णा, तथा द्रोपदी नामक देवकन्याओं की, उत्तर दिशा में रक्षा के लिए धनिष्ठा, शतभिषा, दोनों भाद्रपदा, रेवती, अश्विनी और भरणी नक्षत्रों, दिक्पति कुबेर, पक्षेश्वर मणिभद्र, उनके पुत्रों तथा इलादेवी, सुरादेवी, पृथिवी, पद्मावती, उपस्थिता, महाराजा, आशा, श्रद्धा, ह्री श्रीः इन देवकुमारियों की पूजा करनी चाहिए।[1]

चैत्यवन्दना

इनके अतिरिक्त समग्र कल्याण के लिए पूर्व दिशा में चापाल नामक तथा दक्षिण दिशा में पद्मनामक चैत्य की पूजा का निर्देश भी वहां किया गया है—

पूर्वस्मिन् वै दिशो भागे चापालं नाम चेतियं।
अवुस्तं जिनेभिः ज्ञातमर्हन्तंभि च तपिभिः।
ते पि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च॥
दक्षिणेस्मिन् दिशो भागे पद्मनामेन चेतिकं।
नित्यं ज्वलिततेजेन दिव्यं सर्वप्रकाशितं।
तेऽपि व अधिपालेन्तु आरोग्येन शिवेन च॥[2]

तथागत द्वारा त्रपुष भल्लिक की कल्याण-कामना से किये गये उपर्युक्त स्वस्त्ययन किये जाने के विवरण से सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि उस काल में धर्मगुरुओं अथवा धार्मिक साधना में थोड़ा आगे बढ़े हुए लोगों द्वारा सर्वसामान्य के लिए स्वस्त्ययन (मागल्य) कर्म करने की प्रक्रिया पूर्णतया प्रचलित थी।

श्रेष्ठ व्यक्ति की पूजा

ललितविस्तर के अनुसार सम्मान अथवा पूजन केवल देवी-देवताओं का ही नहीं बल्कि किसी भी प्रभावशाली, अध्यात्म के क्षेत्र में मुख्यतः प्रभावशाली व्यक्ति की पूजा लोग बहुत आदर के साथ करते थे। देवगण भी इस प्रकार की पूजा आदर के साथ करते थे।[3] इस प्रकार की पूजा कई बार अनुकरण के रूप में की जाती थी। अथवा दूसरों को पूजा करते देखकर लोग स्वयं भी श्रद्धापूर्वक

---

१. ल० वि० श्लोक, १३४६-१३५५, १३५८-१३६४, १३६७-१३७३
२. वही, श्लोक १३४७, १३५६
३. वही, श्लोक ८८१

पूजा करने में प्रवृत्त हो जाते थे। कालिक नागराज ने देव, दानवों तथा ब्रह्मा, इन्द्र और यक्षेश्वर को बोधिसत्त्व की पूजा करते देखा तो स्वयं भी पूजा में प्रवृत्त हो गया था—

> **सोऽभ्युत्थाय······मार्गो ह्ययं ॥**
> **संहृष्टः स हि नागराट्······तूर्याणि निर्नादयन् ॥**[1]

इस प्रकार की पूजा में परिवार की कन्याओं की मुख्य भूमिका हुआ करती थी। प्रत्येक गृहस्वामी अपनी कन्याओं के साथ ही किसी पूज्य की पूजा में प्रवृत्त हुआ करता था—(सोऽभ्युत्थाय च नागकन्य सहितो श्लोक ८८१) ऐसा संभवतः इसलिए किया जाता होगा कि कन्याओं पर पड़ा हुआ संस्कार यथासमय उनके पुत्रों और पुत्रियों में भी सुविधापूर्वक संक्रान्त हो सकता है।

पूजा-सामग्री

इस प्रकार की पूजा प्रक्रिया में नागपुष्प, वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य, मांगलिक द्रव्य, मुक्ताहार, वलय, रत्न, चूर्ण, धूप आदि द्रव्य तथा मृदङ्ग आदि के शब्दों से समवेत संगीत का महत्त्वपूर्ण स्थान होता था।[2] इस पूजा के अवसर पर जिस व्यक्ति की पूजा की जा रही होती है, उसके प्रायः सभी गुणों का गायन भी किया जाता था। ये गुण कुछ भावात्मक भी होते थे और कुछ अभावात्मक। कालिक नागराज की महिषी बोधिसत्त्व की पूजा के समय उनके अभ्रान्त, अत्रस्त, प्रकृष्ट, अलीन, अभीरु, अमूढ़, अलुब्ध, विरक्त, विमुक्त, विशंक, विशल्य, विनेय, सुवैद्य, जगत को दुःखों से मुक्त कराने वाला, अलेन-अत्राण-अहीन-स्थानहीन शरणहीन को शरण देने वाले आदि गुणों का गायन कर रही थी।[3]

सम्मान की पूर्णता

सम्मान अथवा पूजा के क्रम में एक बात स्मरणीय है कि ललितविस्तर के अनुसार पूजा की अथवा पूज्यता की पूर्णता तब समझी जाती थी, जब वह व्यक्ति किसी भी राज्य के सभी वर्णों में सम्मान प्राप्त कर ले। इन वर्गों में तीन राज्य परिषदें, राजा, राजकुमार, राजमंत्री, राजमहामात्र, राजा के सेवक, समाज के अंग क्षत्रिय, ब्राह्मण, गृहपति (वैश्य), अमात्य, पार्षद, पुर और जनपद

---

१. ल० वि०, श्लोक ८८१-८८२

२. वही (वैद्य), श्लोक, ८८० एवं गद्यभाग पृ० २०६ पं० २५-२६

३. वही, श्लोक ८९२-८९३

के अन्य निवासी, तीर्थों के स्वामी, श्रमण-ब्राह्मण, चरक और परिव्राजक आदि सम्मिलित हैं ।[1]

एक तथ्य और स्मरणीय है कि राजाओं के सम्मान में अन्य राजा सुवर्ण पात्र में रजत चूर्ण अथवा रजतपात्र में सुवर्णचूर्ण लेकर प्रत्युत्थान पूर्वक पूजा करते थे ।[2]

कुमारिकाओं की मांगलिकता

शक्ति के उपासकों में शक्ति का माता के रूप में स्मरण किया जाता है और उनकी संख्या सात मानी जाती है । वहां ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, चामुण्डा और इन्द्राणी इन सात को माता माना गया है— 'ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा' 'वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्त मातरः'[3] दुर्गासप्तशती, स्कन्धपुराण में इनकी संख्या आठ हो गयी है । उस परम्परा में उनकी पूजा के लिए उनके स्थान पर उतनी संख्या में ही कुमारिकाओं को प्रतिष्ठापित करके उनकी पूजा की जाती है । इस परम्परा के प्रभाव के कारण ही कालान्तर में कुमारिकाओं का दर्शन मांगलिक माना जाने लगा ।

ललितविस्तर में भी आठ संख्या में कुमारियों की अनेक बार चर्चा हुई है। ग्रन्थकार के अनुसार प्रत्येक दिशा में मंगल की दृष्टि से आठ-आठ देव-कुमारियों का निवास है । इनमें से पूर्व दिशा में—जयन्ती, विजयन्ती, सिद्धार्था, अपराजिता, नन्दोत्तरा, नन्दिसेना, नन्दिनी, और नन्दिवर्धिनी देवकन्याएं स्थित रहकर आरोग्य एवं कल्याण देकर विश्व का पालन करती हैं ।[4] इसी प्रकार दक्षिण दिशा में श्रियामती, यशामती 'यशप्राप्ता, यशोधरा, सु-उत्थिता, सुप्रथमा, सुप्रबुद्धा, और सुखावहा,[5] पश्चिम दिशा में—अलम्बुशा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका, अरुणा, एकादशा, नवमिका, सीता, कृष्णा, और द्रोपदी[6] तथा उत्तरदिशा—में इलादेवी, सुरादेवी, पृथ्वी, पद्मावती, उपस्थिता, महाराजा, आशा, श्रद्धा, ह्री एवं श्री (शिरी) इन आठ-आठ देवकुमारियों की आरोग्य एवं शिव देते हुए अधिपालन

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २, पं० ६-८
२. वही, पृ० ११, पं० २६, २७ पृ० १२ पं० १-३
३. अमरकोशः, स्वर्गवर्गः 1, १६५०, पृ० १५
४. ल० वि० श्लोक १३४५, १३४६
५. वही, श्लोक १३५४, १३५५
६. वही, श्लोक १३६६३, १३६४

करने की बात स्वीकार की गयी है।[1] एक तथ्य यह भी स्मरणीय है कि ग्रन्थ-कार के अनुसार आठ संख्या का महत्त्व बहुत अधिक है, इसीलिए उसने आठ श्रमण, आठ ब्राह्मण, आठ जनपदों के नैगम और इन्द्रसहित आठ देवताओं को रक्षा के लिए प्रायः सादर स्मरण किया गया है—

अष्टौ श्रमणाऽष्ट ब्राह्मणा. अष्टौ जनपदेषु नैगमाः ।
अष्टौ देवाः स-इन्द्रकाः, ते वो परिरक्षन्तु सर्वतः ।।[2]

परिवेश का प्रभाव

ललितविस्तर के अनुसार किसी व्यक्ति के निर्माण में परिवेश का भी पर्याप्त महत्त्व होता है। इसीलिए ग्रन्थकार बोधिसत्त्व के जन्म से पूर्व कुल शुद्धि की चर्चा करते हुए, नगरवासियों की भी चर्चा परिवेश के रूप में करता है।[3] बालक-बालिकायें अपने शैशव काल में अधिक समय अपने माता के ही परिवेश में रहते हैं अतः ग्रन्थकार माता के गुणों की चर्चा भी परिवेश की चर्चा के प्रसंग में ही करता है।[4] इतना सब होते हुए भी सस्कार की दृष्टि से उस काल में सबसे अधिक महत्त्व माता-पिता को दिया जाता रहा है। इसी-लिए ग्रन्थकार ने यह स्वीकार किया है कि माता-पिता के और उस कुल के संस्कारों के अनुरूप तथा प्रतिरूप बालक-बालिकाओं का स्वभाव होता है।[5]

वंश-परम्परा के संस्कार

ललितविस्तर के अनुसार उस काल में कुल परम्परा को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता था। भिन्न-भिन्न वर्णवाले पुरुषों अथवा स्त्रियों से संबंध के कारण किसी भी कुल की शुद्धि समाप्त समझी जाती थी।[6] पुत्र और पुत्रियों में उत्तम संस्कार के लिए माता का गुणवती होना आवश्यक समझा जाता रहा है। ललितवितरकार ने इस दृष्टि से माता में भी बत्तीस गुणों का होना आव-श्यक माना है। इन गुणों में अभिज्ञता के साथ अभिलक्षिता, अच्छिद्रोपचार और जाति तथा कुल की संपन्नता आदि गुण महत्त्वपूर्ण माने गये हैं।[7] कुल के

---

१. ल० वि०, श्लोक १३७२, १३७३
२. वही, श्लोक १३७७
३. वही, श्लोक ४०
४. वही, श्लोक ४२-४४
५. वही, श्लोक ३५
६. वही, पृ० १५-१६
७. वही, (वैद्य), गद्यभाग पृ० १७, पं० १५ से २३

महत्त्व के कारण ही ललितविस्तरकार ने सर्वोत्तम पुरुष बोधिसत्त्व के जन्म के योग्य कुल में ६४ गुणों, कलाओं आदि का अनुसंधान करना आवश्यक समझा है--

'चतुष्षष्ठ्याकारैर्मार्षाः संपन्नकुलं भवति···एभिर्मार्षाः चतुष्षष्ठ्याकारैः समन्वागतं च तत्कुलं भवति···'[1] शुद्धोदन का वंश कुलीन, विशुद्ध, स्फीत, निराकुल, सज्जन तथा धार्मिक-जनों वाला था, तभी उनके कुल में तथागत बोधिसत्त्व का जन्म हो सका।[2]

हर्ष की अभिव्यक्ति

ललितविस्तर के अनुसार समाज के लोगों में हर्ष की अभिव्यक्ति के अनेक माध्यम थे। सम्भवतः हर्ष के स्तर के अनुसार उनमें एक अथवा अनेक माध्यमों का प्रयोग जनसमान्य करता था। इन माध्यमों में पुष्प-वृष्टि सबसे मुख्य उपाय था।[3] कभी-कभी सामान्य-पुष्पों के स्थान पर दिव्य-पुष्पों की वृष्टि भी की जाती थी।[4] हर्ष की मात्रा अधिक होने पर, पुष्प-वृष्टि करते हुए, किलकिला शब्द भी करके हर्ष को प्रकट करते थे।[5] अतिशय हर्ष की स्थिति में सम्पत्तिशाली लोग, हर्ष को प्रकट करने के आनन्द-सूचक शब्द भी करते थे। पुष्प-वृष्टि तो करते ही थे, साथ ही दान, पुण्य भी करते थे। सर्वार्थसिद्ध बोधिसत्त्व के जन्म की सूचना पाकर, शाक्यगण सामूहिक रूप से आनन्दसूचक शब्द करते हुए, दान कर रहे थे। प्रतिदिन बत्तीस हजार ब्राह्मणों को भोजन करा रहे थे और याचकों में जिसने जो मांगा, उसे प्रदान करके तृप्त कर रहे थे।

'सर्वशाक्यगणाश्च संनिपत्यानन्दशब्दमुदीरयन्ति स्म, दानानि च ददन्ति स्म, पुण्यानि च कुर्वन्ति स्म। द्वात्रिंशच्च ब्राह्मणशतसहस्राणि दिने-दिने संतर्प्यन्ते स्म। येषां च येनार्थेन तेभ्यस्तद्दीयते स्म।[6]

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १६ पं० १६ से पृ० १७ पं० १३

२. शुद्धोदनो राजकुले कुलीनो, नरेन्द्रवंशे सुविशुद्धगोत्रः।
ऋद्धं च स्फीतं च निराकुलं च, सगौरवां सज्जन धार्मिकं च ॥
—वही, (शास्त्री), श्लोक ३७

३. वही, श्लोक २२१

४. वही, श्लोक २५६

५. वही, श्लोक ६४१

६. वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ७०

(घ) ललित विस्तर में आर्थिक अवस्था

बौद्ध कालीन आर्थिक दशा का ज्ञान ललितविस्तर में वर्णित स्वर्ण, रजत, इन्द्रनीलमणि, रत्न, बहुमूल्य धातुओं तथा बहुमूल्य पात्रों से होता है—'एवं चत्वारि रूप्यमयानि चत्वारि वैडूर्यमयानि स्फटिकमयानि मुसारगल्वमयानि अश्मगर्भमयानि। ततश्चत्वारि सर्वरत्नमयानि पात्राणि गृहीत्वा तथागतस्योपनामयन्ति स्म।'[1] परन्तु भारतीय आर्थिक जीवन, आर्थिक व्यवस्था का परिचय कृषि, पशुपालन, सिंचाई, व्यवसाय उद्योग-धन्धे और व्यापार-वाणिज्य पर आधारित है। ऋग्वेद में कृषि-प्रधान समाज चित्रित है। जुए में पराजित द्यूतकर को ऋषि ने उपदेश दिया है कि तुम जुआ खेलना छोड़कर, कृषिकर्म का अभ्यास करो, खेती करो—'अक्षैर्मा दिव्यः कृषिमित कृषस्व।'[2] अश्विन देवता का सम्बन्ध बीज बोने और कृषि-कला से माना जाता है। कौटिल्य ने 'वार्ता' का अर्थ किया है कृषि, पशुपालन और वाणिज्य।

व्यवसाय

कृषि—ललितविस्तर का कृषि ग्राम (Agricultural Village)परिवर्त्त ग्रामीण जीवन एवं कृषिकर्म के महत्त्व का सूचक है। कुमार सिद्धार्थ दूसरे कुमारों और शाक्य गणों तथा छन्दक आदि के साथ कृषिग्राम को देखने गए[3] तथा खेती का कामकाज देखकर उद्यानभूमि में भ्रमण करते थे। जम्बू वृक्ष आदि छाया और फलों वाले वृक्ष हैं[4] उसकी छाया में बोधिसत्त्व ने समाधि लगाई। इस प्रसंग में कृषिग्राम में सुमेरु पर्वत का व्यौरा दिया है। वनदेवता, राजाधिराज शुद्धोदन और राजमन्त्रियों का वार्तालाप दिखाया है।

यहां पर ग्रामीण जीवन का और प्राकृतिक सुषमा का बड़ा स्वाभाविक वर्णन है। सूर्य की प्रभा और वृक्षों की छाया दिखाई दे रही है। ग्रीष्म और

---

१. (क) ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २७७
　(ख) दत्तानि पात्राणि पुरे भवे मया
　　फूलपूरिता प्रेमणिया च कृत्वा।
　　तेनेमि पात्राश्चतुरः सुसंस्थिता
　　ददन्ति देवाश्चतुरो महर्द्धिकाः ॥　　—वही, श्लोक १३१९

२. ऋग्वेद, १०. ३४. ७

३. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ३२२

४. गांधी, डा० श्रीमती शारदा, कालिदास की कविता में बनौषधि, मेरठ, विश्वविद्यालय संस्कृत शोधपत्रिका, पृ० ८४-९६

वसंत का मनोहर वर्णन है, उस समय बहुत से शाक्यकुमार बाहर घूमने निकले हैं।[1] बालकों और बालिकाओं की तथा महिलाओं की मण्डली घूम रही है। मंचवाहक बालक हल्ला-गुल्ला कर रहे हैं। पांच सौ शाक्यकुमारों के साथ सिद्धार्थ ने कृषिग्राम की सैर की। उन्होंने कृषि को कठिन कार्य कहा तथा कृषि कर्म की निन्दा की।[2] खेती की निन्दा किसी भी महापुरुष को अभीष्ट नहीं है, संभवतः यह प्रक्षेप है। कृषि को कठिन कार्य कहने का कारण यह हो सकता है कि वैश्य के अलावा दूसरी जाति के लिए खेती का काम गर्हित बताने के लिए निन्दा की गई हो। शुद्धोदन का वंश क्षत्रिय वंश था, क्षत्रिय का धर्म प्रजा की रक्षा, दान देना आदि है। मनुस्मृति आदि के अनुसार कृषिकर्म और पशुओं की रक्षा तथा व्यवसाय-वाणिज्य मुख्य रूप से वैश्य का कर्त्तव्य है। वर्ण-व्यवस्था के नियमों के अनुसार ही संभवतः जीविका व्यवस्था भी इस महाकाव्य के लेखक को अभीष्ट है। किसी कवि ने कहा है कृषि (खेती) की स्वयं देख-भाल करनी चाहिए, क्षणभर की लापरवाही से गाय, सेवा, कृषि, भार्या, विद्या आदि नष्ट हो जाती हैं—

षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्त्तमनवेक्षणात् ।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्या वृषलसंगतिः ॥

वस्तुतः कृषिरत कृषक के शरीर में लक्ष्मी निवास करती है। कृषकों को संतुष्ट करना राजा का कर्त्तव्य है।

सिंचाई—प्रवेश और स्थान तथा फसल के अनुसार सिंचाई होती थी। जहां वर्षा के जल से सिंचाई होती थी, उस स्थान को 'देवमातृक", जहां सरिताओं और नदियों के जल से फसलें उगाई जाती थीं, उस प्रदेश या भूमि को "नदीमातृक", समुद्र के किनारे की भूमि को, जहां अधिक परिश्रम के बिना फसलें होती थीं "प्रकृतिमातृक" कहा जाता है। जहां इन तीनों में से कोई साधन उपलब्ध न हो, वहां कुएं, तालाब, पुष्करिणी आदि बनाकर उसके जल से सिंचाई की जाती थी। ललितविस्तर में कूप, पुष्करिणी आदि का वर्णन है जहां सिद्धार्थ का बाण लगा था, वहां 'शारकूप'।[3] बना दिया गया, जहां प्रजापती गौतमी ने छन्दक से सिद्धार्थ के आभूषणों को प्राप्त किया और जल में

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ३२१, ३२३
२. वही, श्लोक ३२४, ३३६
३. वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १०७

डाल दिया, वह स्थान 'आभरण पुष्करिणी' के नाम से विख्यात है।[1] जब बोधिसत्त्व को वस्त्र धोने के लिए जल की आवश्यकता हुई, वहां 'पाणिहतापुष्करिणी' (Ponds) बना दी गई।[2] इस प्रकार ये तालाब सिंचाई और जीवन-यापन के साधन थे। कुएं, बावड़ी, तालाब, जलाशय आदि खुदवाना धर्मकृत्यों में गिना जाता था, यह कार्य राजाओं और धनिकवर्ग का था। महाभारत[3] में लिखा है—

पानीयं परमं दानं दानानां मनुरब्रवीत् ।
तस्मात् कूपांश्च वापीश्च तडागानि च खानयेत् ॥

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य का प्रकाश शस्य का जनक है खाद्य-पदार्थों, कपास आदि की फसल के पकने के लिए सूर्य का तेज आवश्यक है यह सब वर्णन ललितविस्तर में प्राप्त है। निरञ्जना नदी का स्वाभाविक वर्णन है। गांव के लड़के, कठिहारे, घसिहारे, आदि सबका ग्रामीण जीवन है।[4] स्वस्तिक घसिआरे ने बोधिसत्त्व को आसन प्रदान किया।[5] ग्रामनेता की पुत्रियां बला, बलगुप्ता, सुप्रिया, विजयसेना, अतिमुक्तकमाला, सुन्दरी, कुम्भकारी, उलबिल्लिका, जटिलिका और सुजाता सेवाभाव रखती थीं, बोधिसत्त्व की परिचर्या करती थीं।[6] गांव के लड़के, लड़कियां, ग्वाले, चरवाहे, घसियारिनें, लकड़हारिनें या गोबर बटोरनेवाली स्त्रियां बोधिसत्त्व को धूल का बना पुतला (पांशुपिशाच) समझती थीं।[7]

गर्भवती माया देवी की दोहद (दोहल) की दान आदि की अभिलाषा तत्कालीन समृद्धि और दानपारमिता आदि की सूचक है।[8] गांव में धन आदि की कमी और गरीबी अनुभव कर शाक्यकुल-नन्दन सर्वार्थसिद्ध ने अन्न, वस्त्र, स्वर्ण, धन-धान्य आदि की वृष्टि करने के लिए कहा—

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १६६
२. वही, पृ० १९४
३. अनुशासन पर्व ६५.३
४. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ८११, ८१२
५. वही, श्लोक ८९३, ९०२-९०६
६. वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १९४
७. वही, पृ० १८७
८. वही, (शास्त्री,) श्लोक १९०, १९१

यदि स्वर्ण कार्यु अहु स्वर्ण प्रवर्षयिष्ये
यदि वस्त्र कार्यु अहमेव प्रदास्यि वस्त्रां।
अथ धान्य कार्यु अहमेव प्रवर्षयिष्ये
सम्यक् प्रयुक्त भव सर्वजगे नरेन्द्र॥[1]

सुभिक्ष—कपिल वस्तु आदि नगरों में सुभिक्ष था। प्रजाजन धनधान्य और स्थिर संपत्ति से युक्त थे। वहां योग और क्षेम की प्रतिष्ठा थी।[2]

पशुपालन—गाय, हाथी, घोड़े आदि पशुओं का पालन, संरक्षण, उनकी सेवा, उनकी उपयोगिता सभी कुछ इस ग्रन्थ में प्राप्त है। महाभारत के सभा पर्व में लिखा है कि राजा के लिए हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र, रथसूत्र आदि का ज्ञान आवश्यक है। यदि राजा के पास सप्तरत्नों में हस्तिरत्न, अश्वरत्न आदि हों तो वह चक्रवर्ती साम्राज्य प्राप्त करता है। सुजाता गौवों की सेवा करती थी, उसने गौ के सप्तसार दुग्ध से मधुपायस सिद्ध करके, बोधिसत्त्व को अर्पित की।[3] प्राचीनकाल से भारतीय संस्कृति में गौधन की रक्षा अनिवार्य मानी गई है। कृषि और पशुपालन वैश्य की वर्णगत जीविका मानी गई है। त्रपुष-भल्लिक नामक वणिजों के सुजात और कीर्त्ति नामक बैलों का बड़ा स्वाभाविक वर्णन है।[4] त्रपुष-भल्लिक वणिजों का सीमांत प्रांत में जो गो-यूथ रहता था, वहां गौवें ब्याईं और उन्होंने घी के सार (सर्पिमण्ड) जैसा दूध दिया। गो-समूह के पालक ग्वाले उस सर्पिमण्ड को लेकर दोनों वणिज् भाइयों के पास पहुंचे। शिखण्डी नामक ब्राह्मण ने दोनों भाइयों से कहा कि आपने संकल्प किया है कि आपके द्वारा समर्पित भोजन खाकर तथागत बुद्ध धर्म-चक्र प्रवर्त्तन करेंगे। इसलिए गौवों ने जो घृतसार जैसा दूध दिया है वह सुमांगलिक है।[5] हजार गौवों का जो दूध था, उसमें से उत्तम सार लेकर उन

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ३३७
२. (क) वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ५३
   (ख) वही, (शास्त्री), श्लोक ६२८
३ वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १९५, पं० १४-१६
४. यत्रान्ये बलीवर्दा न वहन्ति स्म तत्र तौ युज्येते स्म। तयों सुजातः कीर्तिश्च नामाजानेयौ द्वौ बलीवर्दावास्ताम्। नास्ति तयोः लग्नभयम्। यत्र चाग्रतो भयं भवति स्म, तत्र तौ कीलबद्धाविव तिष्ठेते स्म। न च तौ प्रतोदेन बाह्येते स्म, उत्पलहस्तकेन च सुमनादामकेन वा तौ वाह्येते स्म।
—वही, पृ० २७६, २७७
५. वही, (शास्त्री), श्लोक १३३०

दोनों वणिज् भाइयों ने बुद्ध के लिए भोजन सिद्ध किया और चन्द्रनामिका नामक रत्नपात्र में उन्हें अर्पित किया।[1]

दूध और घी मनुष्य का प्रधान खाद्य है। दूध और घी की उपयोगिता गौ-माहात्म्य को सूचित करती है उस ग्रंथ के अध्ययन से विदित होता है कि उस समय के समाज के व्यक्ति प्रचुर गो-धन के स्वामी थे। गौ एक विशेष संपत्ति मानी जाती थी, गौ की सेवा-शुश्रूषा को प्रशस्तकार्य माना जाता था। हजारों की संख्या में गौवों का पालन बौद्ध-संस्कृति की विशेषता है।

इस काव्य में हमें पशुधन की समृद्धि के साथ-साथ दास-धन की वृद्धि की सूचना भी मिलती है। जिस समय कपिलवस्तु में सर्वार्थसिद्ध (सिद्धार्थ) का जन्म होता है गौ आदि पशुओं ने साठ सौ काले चितकबरे बछड़ों को जन्म दिया। बीस हजार हाथी पैदा हुए।[2] कन्थक जैसी उत्तम नस्ल के, अश्वों में श्रेष्ठ दस सहस्र घोड़े उत्पन्न हुए और चेटियों के छन्दक जैसे आठ सौ दास बेटे पैदा हुए।[3]

उद्योग-धन्धे

बौद्ध साहित्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, दास आदि चार वर्णों के साथ-साथ अनेक व्यवसायों और शिल्पों से संबंधित विविध संगठनों और वर्गों का उल्लेख हुआ है। इन व्यावसायिक संगठनों को कुल, संघ, पूग, श्रेणी, गण, सार्थवाह, निगम आदि नामों से कहा गया है। ये संगठन सामूहिक हित के साथ-साथ व्यक्तिगत-हित की भी देख-रेख करते थे। विभिन्न व्यवसाय, उद्योग और शिल्प-समुदायों का सांस्कृतिक और आर्थिक-प्रतिष्ठा में महत्त्वपूर्ण योगदान है। विभिन्न व्यवसायों एवं शिल्पों के आधार पर अनेकों जातियों का उद्‌भव हो चुका था। जैसे तक्षा (बढ़ई), रथकार, इषुकार, भिषक् (वैद्य), कर्मार (लोंहार), सुराकार, हिरण्यकार, कुलाल (कुम्हार), वाणिज, कितव (द्यूतकार), आदि। धर्मसूत्रों, प्राचीन ग्रन्थों एवं मेगस्थनीज के उद्धरणों से विदित होता है कि भारतवर्ष के व्यक्ति सात जातियों में विभाजित थे— (१) दार्शनिक (२) कृषक (२) गोपाल एवं गड़रिया (४) शिल्पकार (५) सैनिक (६) अवेक्षक तथा (७) सभासद एवं करग्राही।[4] इन जातियों एवं उपजातियों आदि की

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १३३२, १३३३

२. वही, श्लोक २३२

३. वही, २३०

४. काणे, पांडुरंग वामन, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग १ (हिन्दी संस्करण) उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्था, लखनऊ, १९८०, पृ० ११७

व्याख्या करनी अति कठिन है, कहीं वे कुलों की सूचक हैं कहीं व्यवसाय और उद्योग-धन्धों तथा व्यापार-वाणिज्य की और कहीं देश-प्रदेश एवं दासता (गुलामी) आदि की। इन व्यवसायों, उद्योगों और शिल्पों के आधार पर समाज के व्यक्ति अपनी जीविका अर्जित करते आये हैं। इनमें से कुछ व्यवसाय और शिल्प ग्रामों में सुलभ हैं, कुछ शहरों में, तथा कुछ देश और कुछ विदेशों में। डा० पी० वी० काणे,[1] डा० जयशंकर मिश्र,[2] डा० अंगने लाल,[3] डा० कैलाशचन्द्र जैन,[4] डा० वासुदेव शरण अग्रवाल[5] आदि ने इन उद्योगों, शिल्पों और वाणिज्य आदि पर पर्याप्त लिखा है। ललितविस्तर के कुलशुद्धि परिवर्त्त, कृषिग्राम परिवर्त्त, शिल्पसंदर्शन परिवर्त्त और त्रपुष भल्लिक परिवर्त्त आदि तत्कालीन समाज की आर्थिक-व्यवस्था, व्यवसाय, उद्योग-धंधों, शिल्पों, व्यापार-वाणिज्य आदि के सूचक हैं। ललितविस्तर में प्रतिस्पर्धा एवं प्रतियोगिता के अवसर पर सर्वार्थसिद्ध बोधिसत्त्व विविध कलाओं और शिल्पों में अपना कौशल प्रदर्शित करते हैं, उनकी सूची यहां उद्धृत है[6]—

१. लंघित—लंबी कूद
२. लिपि—अक्षरविद्या
३. मुद्रा—हस्तरेखाविद्या,
४. गणना—गणितशास्त्र
५. संख्या—अंकशास्त्र
६. सालम्भ—मल्लविद्या
७. धनुर्वेद—दूरवेधविद्या आदि

वेस ने इन शिल्पों को सांसारिक कलायें कहा है—"In all the worldly arts, the Bodhisattva surpassed both gods and men, distinguishing himself as superior; in jumping, in the knowledge

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग I, लखनऊ, १९८०
२. प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार, १९७४
३. संस्कृत बौद्ध-साहित्य में भारतीय जीवन, लखनऊ, १९६८
४. प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं, भोपाल, १९७६
५. (क) पाणिनिकालीन भारत, वाराणसी
   (ख) इतिहास-दर्शन, वाराणसी, १९७८
६. (क) ल० वि० (शास्त्री), १९८४, पृ० २९६-२९९
   (ख) वही, (वैद्य), १९५८ पृ० १०८

of writing, astrology, mathematics and arithmetic; in wrestling, archery, running, swimming, and riding elephants mounted on the neck; in riding horse-back, chariot driving, and use of the bow; in firmness, strength, and courage, in feats of strength, in the use of the hook and the lasso, and in the action of throwing forward, backward and taking away; in the tying of the wrists, the tying of the feet, the tying of locks of hair; in the actions of cutting, separating, pentrating, and grinding, in cutting apart, in hitting the right place, hitting exactly the right place, in striking with a sound; in striking heavy blows; in the game of dice; in poetry, grammer, and composition of books, in painting, sculpture, drama, and the science of tending the fire; in the art of playing on the Vīnā; in instrumental musie, dance and song; in reading, decorating the body, and mimc; in placing of garlands; in use of the fan, in drama, and creative arts; in business and dyeing garments; in magic, the explanation of dreams, and the signs of the birds: in knowing the signs of women, the signs of men, the signs of elephants, horses, bulls, goats, sheep, and dogs; in the composition of vocabularies, holy scripture, the purāṇas, the Itihāsa, the Veda, grammer and the Nirukta; in the art of reciting poetry and the rites of offering; in astronomy, the systems of arithmetic, yoga and religious ceremonies; in the method of Vaiśeṣikas, in the knowledge of riches; in morality, the conditon of preceptar, the asura state, the language of birds and animals, and the knowledge of debate; in silk manufacturing, in dyes, working with wax, extracting oil, the cutting of palm leaves and things. (Baye, Gwendolyn, The Voice of the Buddha, the Beauty of Compassion, Vol. I, Dharma Publishing (Press), California, 1983, p, 234, 235

व्यापार एवं वाणिज्य

ललितविस्तर के त्रपुष-भल्लिक परिवर्त्त में यह वर्णन है कि उत्तरापथवासी दो भाई त्रपुष और भल्लिक नामक वणिक जो कि बुद्धिमान्, चतुर और व्यवसायी थे, विविध द्रव्यों (पण्यों) को लेकर बहुल-प्रचुर लाभ प्राप्त करके, दक्षिणापथ से उत्तरापथ की ओर, पांच सौ भरी-पूरी गाड़ियों के सार्थ (काफिले) के साथ यात्रा कर रहे थे। उन दोनों भाइयों की शकट में सुजात और कीर्त्ति

नामक उत्तम बैल जुते हुए थे, उन्हें किसी प्रकार लग्न आदि का भय नहीं था। जिन शकटों में दूसरे बैल काम नहीं देते थे, वहां उन दोनों को जोतकर काम लिया जाता था, वे उत्तम नस्ल के बैल थे, उनसे बोझा ढोने का काम लिया जाता था। वे दोनों भाई स्थल-मार्ग से यात्रा कर रहे थे रास्ते में उनकी मुलाकात बोधिवृक्ष के नीचे आसीन सर्वार्थसिद्ध बोधिसत्त्व से हुई। उन दोनों ने श्रद्धापूर्वक बोधिसत्त्व को मधुतर्पण (मधु और सत्तू) तथा छोले और गन्ने (लिखितक-इक्षु) अर्पित किये। उसके बाद दोनों भाई वणिजगण के साथ द्रव्यों से परिपूर्ण शकटों के साथ पुष्पित साल-वन में प्रविष्ट हुए—

तस्मिंश्च काले त्रपुषश्च भल्लिको
भ्रातृद्वयं वणिजगणेन सार्धं।
शकटानि तेषं च धनेन पूर्णा
संपुष्पिते सालवने प्रविष्टाः॥[1]

वहां शिखण्डी ब्राह्मण ने दोनों वणिक् भाइयों को स्मरण दिलाया कि आपका भोजन खाकर तथागत धर्मचक्र-प्रवर्त्तन करेंगे। उन दोनों ने हजारों गौवों के दुग्ध से भोजन सिद्ध किया और चन्द्रनामिका रत्नपात्री में मधु और भोज्य-पदार्थ भरकर अर्पित किये और उपभोग का अनुग्रह चाहा। बुद्ध ने प्रसन्न होकर उन दोनों वणिक् भाइयों को सफलता, अर्थसिद्धि और मंगल के लिए आशीर्वाद दिया और सभी दिशाओं से उनके लिए स्वस्ति की प्रार्थना की। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ भारतीय संस्कृति के लक्ष्य हैं। अर्थ (धन-संपत्ति, समृद्धि, लाभ, प्रयोजन) की सिद्धि के लिए निम्नलिखित स्वस्ति वचन कहे—

दिशां स्वस्तिकरं दिव्यं मङ्गल्यं चार्थसाधकं।
अर्था वः सासतां सर्वे भवत्वाशु प्रदक्षिणा॥
श्रीर्वोऽस्तु दक्षिणे हस्ते श्रीर्वो वामे प्रतिष्ठिता॥
श्रीर्वोऽस्तु सर्वसङ्गेषु मालेव शिरसि स्थिता॥
धनैषिणां प्रपातानां वणिजां वै दिशो दशः।
उत्पद्यन्तां महालाभास्ते, च सन्तु सुखोदयाः॥

अष्टौ श्रमणाऽष्ट ब्राह्मणा
अष्टौ जानपदेषु नैगमाः।

---

१. ल० वि०, (शास्त्री), श्लोक १३२२

अष्टौ देवाः स-इन्द्रका
ते वो परिरक्षन्तु सर्वतः ॥
स्वस्ति वो गच्छतां भोतु स्वस्ति भोतु निवर्ततां ।
स्वस्ति पश्यत वै ज्ञातिं, स्वस्ति पश्यन्तु ज्ञातयः ॥[1]

भारतीय जीवन में आर्थिक विकास पुरुषार्थ-चतुष्टय के माध्यम से हुआ है । 'अर्थ' प्रधान तत्त्व है । अर्थ के अन्तर्गत द्रव्य, वित्त, हिरण्य आदि को ग्रहण किया गया है । व्यापार करने वाले को 'वणिक्' और उसके कर्म को 'वाणिज्या' कहते थे । वैदिक काल से ही 'पणि' लोग (व्यापारियों का वर्ग विशेष) जल-मार्ग, स्थल-मार्ग[2] और आकाश-मार्ग से द्रव्यों (पण्यों) का आयात-निर्यात करते आये हैं । जिन वस्तुओं का आयात-निर्यात और क्रय-विक्रय होता था, वे खेती तथा उद्योग-धंधों से उत्पन्न होने वाली, वस्तुएं थीं, जैसे खाद्य-पदार्थ, सूती, ऊनी, रेशमी वस्त्र, और सोना, चांदी आदि धातुएं तथा मोती, मूंगा, माणिक्य इत्यादि । बाजार या दुकान के माध्यम से जो वस्तुएं बेची जाती थीं, वे 'पण्य' या 'पणितव्य' के नाम से अभिहित थीं । पण्य शब्द कालान्तर में भी व्यवहृत होता रहा । अपने-अपने मालों और भांडों को लेकर व्यापारी दूर-दूर तक

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १३३७-१३३९; १३७७-१३७८
पूर्व वैदिक काल से उत्तर वैदिक काल तक नगरों का विकास हो चुका था । पाणिनि ने अनेक वाणिज्य-पथों का उल्लेख किया है जो एक शहर से दूसरे शहर को और एक जनपद से दूसरे जनपद को मिलाते थे । ललितविस्तर में त्रपुष-भल्लिक को उत्तरापथवासी बताया गया है । पाणिनि (अष्टाध्यायी ५. १. ७७) के अनुसार उत्तर-पथ भारत का प्रसिद्ध मार्ग था । द्रव्यक नामक सार्थवाह विभिन्न प्रकार की वस्तुएं व्यापार के लिए ले जाते थे । सार्थवाह अपने उपयुक्त पथों का अनुगमन करते थे । कांधार से पाटलिपुत्र तक के विस्तृत भूभाग को यह मार्ग जोड़ता था । इस मार्ग के पश्चिम का भाग वंक्षु से कैस्पियन सागर तथा काला सागर होता हुआ योरप तक चला जाता था तथा पूरब का भाग गांधार की राजधानी पुष्कलावती होता हुआ तक्षशिला, सिन्धु, शुतद्रि और यमुना पारकर हस्तिनापुर, कान्यकुब्ज, प्रयाग, काशी और पाटलिपुत्र को संयुक्त करता हुआ, ताम्रलिप्ति तक चला जाता था । एक-एक कोस पर सूचक चिह्न थे । कापिशी, वाल्हीक और कन्नौज में चीन की अनेक वस्तुएं आती थीं । पश्चिम और मध्य एशिया के अनेक देश इस मार्ग से सम्बद्ध थे ।
२. मिश्र, जयशंकर, प्राचीत भारत का सामाजिक इतिहास, १९७४, पृ० ५५३

जाते थे, व्यापार करते थे, धन प्राप्त करते थे और अपने घर की ओर लौटते थे।

बौद्ध-युग में व्यापार और वाणिज्य की यथेष्ट उन्नति हुई, फलस्वरूप व्यापारी वर्ग अत्यन्त संपत्तिशाली हो गया था। बेची जाने वाली वस्तु 'पण्य' और सबसे बड़ा अध्यक्ष 'पण्याध्यक्ष' कहलाता था। पण्याध्यक्ष स्थल-मार्ग, जलमार्ग और आकाश मार्ग से आने वाली सभी वस्तुओं के मूल्य में तारतम्य रखता था। कौटिल्य ने राज्य के विभागों के अधिकारियों को अध्यक्ष कहा है। सभी उद्योग-धंधों और व्यापार-वाणिज्य पर राज्य का नियंत्रण रहता था, इसकी पुष्टि मेगस्थनीज के विवरण से होती है। ये अध्यक्ष कई प्रकार के थे, जैसे शुल्काध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, सीताध्यक्ष, सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष आकराध्यक्ष, पण्याध्यक्ष आदि।

दूर-दूर तक जाने वाले व्यापारियों अथवा वणिकों के समूह को 'सार्थ' कहा गया है। उनके ज्येष्ठ व्यापारी को 'सार्थवाह' कहा जाता था। अमरकोष[1] में व्यापार-वाणिज्य सम्बन्धी जिन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग है, उनमें से पण्य, सार्थवाह, वणिक् नैगम, शकट, वणिजगण आदि शब्दों का प्रयोग ललित विस्तर में भी मिलता है। भारत की आर्थिक अवस्था को समुन्नत करने में सार्थवाहों का विशेष स्थान है। ये सार्थवाह व्यापारी समूह के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करते थे, ये व्यापारियों के समूह को सकुशल, सुरक्षित, अभीष्ट स्थान पर पहुंचा देते थे। जो वणिक्, जो व्यापारी समूहों में लम्बी-लम्बी यात्राएं करते थे और विपुल धन अर्जित करते थे, वे सार्थवाह कहलाते थे। ये बैलों, घोड़ों, ऊंटों, कुत्तों, गदहों, भैंसों बैलगाड़ियों आदि पर माल लादकर व्यापार के लिए यात्रा करते थे। बैलों का उपयोग कृषि के साथ-साथ व्यापार-वाणिज्य के लिए भी होता था।

कौटिल्य के अनुसार व्यवसायों और उद्योग-धंधों पर नियंत्रण करने के लिए कंटक-शोधक न्यायालय को अधिकार दिए हुए थे। यह न्यायालय तीन अमात्य और तीन प्रदेष्टा से मिलकर बना था।[2]

---

१. वैदेहकः सार्थवाहो नैगमः वणिजो वणिक्।
पण्याजीवो ह्यापणिकः क्रयविक्रयिकश्च सः॥
विक्रेता स्याद्विक्रयिकः क्रायक-क्रयिकौ समौ।
वाणिज्यन्तु वाणिज्या स्यान्मूल्यं वस्नोऽप्यवक्रमः॥
—अमरकोश, १६५०, २.६.७८, ७६

२. जैन, कैलाशचन्द्र, प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं, भोपाल, १६७६, पृ० २१७

यातायात के साधन

ललितविस्तर के अनुसार उस काल में यातायात के लिए सामान्यजन पद-यात्रा करते थे, किन्तु समृद्ध लोग रथ, हाथी और घोड़ों का प्रयोग करते थे। राजकीय सेना में पदातिसेना के साथ रथ सेना, हाथी-सेना और घुड़सवार सेना ये चारों ही समान रूप से महत्त्व रखते थे, यह चर्चा पहले की जा चुकी है। राजा अथवा राजपरिवार के लोग प्रायः रथ पर ही यात्रा करते थे।[१] यद्यपि राजपरिवार के रक्षक लोग रथों के साथ हाथी और घोड़े पर ही नहीं पैदल भी साथ-साथ चलते थे।

युद्ध-रथों को खींचने के लिए उसमें घोड़े अथवा बैल जोते-जाते थे उसका स्पष्ट इस ग्रंथ में नहीं है। किन्तु राजपरिवार के लोग जिस रथ पर चलते थे, उस नगर में खींचने का कार्य कन्यायें करती थीं।[२] युवा राजकुमार प्रायः घोड़े से यात्रा करना पसन्द करते थे, सर्वार्थसिद्ध बोधिसत्त्व ने अभिनिष्क्रमण के समय यात्रा सारथि छन्दक के साथ कन्थक अश्व द्वारा की थी।[३] सिद्ध ऋषि मुनियों को यातायात के लिए रथ, अश्व आदि की अपेक्षा नहीं होती थी। वे स्वयं और जिसे चाहते थे उसे भी अपने साथ लेकर योगबल से आकाश मार्ग से यात्रा करते थे।[४]

(ङ) ललितविस्तर में भौगोलिक विवरण

ललितविस्तर में पर्वत, नदी, उनके संगम समुद्र, वनस्पतियों, नगरों, जन-पदों आदि का विस्तृत वर्णन नहीं है। ऋतुओं की शोभा का वर्णन करने में भी प्रायः कवि की दृष्टि नहीं रमी है। द्वीप-द्वीपान्तरों का वर्णन भी इस ग्रंथ में प्रायः नहीं है चार द्वीपों-जम्बुद्वीप, गोदानीय, पूर्वविदेह और उत्तर कुरु[५] का संक्षिप्त वर्णन प्राप्त होता है परन्तु जम्बुद्वीप का उल्लेख कई स्थानों पर अवश्य हुआ है।[६] वन, उपवन, वृक्ष और वनस्पतियों का ललित वर्णन इस ग्रंथ में नहीं हुआ है। यद्यपि एक स्थल पर अतिमुक्तक, चम्पक-पाटल, कोवि-दार, मुचिलिन्द, महामुचिलिन्द, अशोक, न्यग्रोध, तिन्दुक, असन (विजयसार) कर्णिकार, केसर, साल वृक्षों अथवा पुष्प क्षुपों का नामतः उल्लेख प्राप्त होता

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ६० पं० २७
२. वही, पृ० ६१ पं० २-५
३. वही, पृ० १५६, १६३ पं० २५; श्लोक ६६२-६६३
४. वही, (शास्त्री), श्लोक ३२६
५. वही, पृ० १०४, पं० ११, १२
६. वही, पृ० १४-१६, पं० १५, ९

है तथा इन्हें रत्नवृक्ष के विशेषण से विशेषित किया गया है। किन्तु यहां परिगणित वनस्पतियों के नामों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि शायद ग्रंथकार को वनस्पतियों की विशेष जानकारी नहीं थी, शायद यही कारण है कि उसने केसर की गणना वृक्षों में की है, जिसके पौधे एक-डेढ़ फीट से ऊपर नहीं बढ़ते। यही स्थिति पाटल की है वह एक सामान्य क्षुप कहा जा सकता है, वृक्ष नहीं। चम्पक और कर्णिकार बड़े क्षुप हैं इन्हें लघुवृक्ष भले कह लें, वृक्षरत्न कहते हुए शालवृक्ष के साथ परिगणित करना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। इनमें से कुछ जैसे पाटल, चम्पक, कर्णिकार, अतिमुक्तक पुष्प के रूप में जाने जाते हैं जबकि न्यग्रोध, असन, अशोक, तिन्दुक और साल ऐसे वृक्ष हैं जिनमें या तो पुष्प के कभी दर्शन नहीं होते अथवा सौन्दर्य और सुगन्ध का आकर्षण न होने से पुष्पों का कोई महत्त्व नहीं है।

पर्वत—ग्रंथकार ने इस ग्रंथ में प्राकृतिक शोभा के विवरण की दृष्टि से नदी, पर्वत आदि का वर्णन कहीं नहीं किया है। कुछ पर्वतों के नाम के साथ उनका कुछ विवरण कुछ स्थानों पर प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ त्रपुष-भल्लिक परिवर्त्त में अष्टंग एवं गन्धमादन पर्वत की चर्चा प्राप्त है। इस ग्रन्थ के कवि के अनुसार यह पर्वत भारतभूमि के उत्तर भाग में है यहां पर यक्ष लोग निवास करते हैं। इसके शिखर अत्यन्त चित्र-विचित्र, और दर्शनीय हैं यहां के निवासी यक्ष अत्यन्त उदार हैं वे आरोग्य एवं कल्याण प्रदान करके सभी का पालन करते हैं।[1]

ग्रंथकार मगधदेश के नगर राजगृह के निकट पांडव पर्वत की चर्चा करके उसे पर्वतराज कहता है—'मागधकानां राजगृहं नगरं तदनुसृतो येन च पाण्डवः पर्वतराजः।'[2] भगवान् तथागत यहां विहार कर रहे हैं ऐसी चर्चा काफी दूर तक उस काल में फैली हुई थी।[3]

नगर एवं जनपद

ललितविस्तर में राजगृह, वाराणसी, विदेह, मगध, कोशल,, वैशाली, मथुरा, मिथिला, हस्तिनापुर आदि जनपदों की चर्चा है तथा उनके कुलों के गुण-दोषों का विवेचन प्राप्त है।[4] साथ ही इसी प्रसंग में जम्बुद्वीप में सोलह जनपदों को स्वीकार किया गया है।[5]

---

१. 'उत्तरेस्मिन् दिशो भागे पर्वतो गन्धमादनः। —ल० वि० श्लोक, १३७४
२. वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १७५, पं० ४
३. वही, (शास्त्री), श्लोक ७४७
४. वही, (वैद्य), पृ० १४-१७
५. वही, पृ० १६ पं० ६

राजगृह को एक महानगर कवि ने स्वीकार किया है जो गोलांगूल परिवर्तन नामक पर्वत पर अथवा जहां गोलांगूल अर्थात् बन्दर बहुत घूमते रहते थे, ऐसे पर्वत पर स्थित है। वाराणसी को उसने ऋषिपत्तन कहा है जिसका अर्थ है ऋषियों का नगर अथवा ऋषियों से परिपूर्ण नगर। इस नगर में मृगवन विशेष प्रसिद्ध था, इसीलिए उसके साथ मृगदाव शब्द का भी विशेष प्रयोग हुआ है। मृगदाव का वर्णन बौद्ध-साहित्य में बहुत आदर के साथ आता है, क्योंकि भगवान् बुद्ध ने 'धर्मचक्र' का प्रवर्त्तन यहीं किया था। ग्रन्थकार के अनुसार यहां पर मृगसमूह निर्भय होकर विचरण करते थे, इसीलिए इस प्रदेश का नाम मृगदाव पड़ गया।[1]

इस ग्रन्थ के अनुसार उस समय मगध जनपद में वैदेही कुल शासन करता था। यह जनपद सम्पत्ति से भरा-पूरा, साफ-सुथरा, समस्त योग-क्षेम संपन्न एवं धनधान्य संपन्न (सुभिक्ष) था। किन्तु उसके अनुसार उस कुल में मातृवंश और पितृवंश दोनों ही शुद्ध नहीं हैं। चञ्चलता, अनवस्थितचित्तता, उनके स्वभाव में थी। इसी कारण उस कुल में और उसके कारण जनपद में भी पुण्यकर्मों का अभाव था। साथ ही उसमें आवश्यकता के अनुसार उद्यान, सरोवर, तडाग आदि नहीं थे।[2] हे भिक्षुओं! उस समय के मनुष्यों में इस प्रकार का पापी एवं अकुशल दृष्टियां उत्पन्न हुईं। यथा···'केचिदेवमाहुः—वाता न वास्यन्ति। केचिदेवमाहुः—अग्निर्न ज्वलिष्यति। केचिदाहुः—देवो न वर्षिष्यति। केचिदाहुः—नद्यो न वह्यन्ति। केचिदाहुः—शस्यानि न प्रजास्यन्ति। केचिदाहुः—पक्षिण आकाशे न क्रमिष्यन्ति। केचिदाहुः—गुर्विण्यो नारोग्येण प्रसविष्यन्ति।'[3]

इस नगर के कांस्यपात्र विशेष प्रसिद्ध थे।[4] मगध जनपद की राजधानी का मुख्यनगर राजगृह था (मागधानां राजगृहं नगरम्)[5] तथागत (सर्वार्थसिद्ध) ने जब वहां प्रवेश किया था तो राजकर्मचारियों से यह सूचना पाकर, वहां के राजा बिम्बिसार ने, तथागत से मिलकर, आधा राज्य देने का आग्रह करके, वहीं निवास करने का प्रस्ताव किया था[6]— तथागत ने उस प्रस्ताव को तत्काल

१. ल० वि० (वैद्य), पृ० १४ पं० ३-७, वही, पृ० २९३
२. वही, गद्यभाग पृ० १४
३. वही, पृ० २९० पं० १८-२२
४. वही, पृष्ठ २३३, पं० ४-५
५. वही, पृ० १७५
६. वही, (शास्त्री), श्लोक ७६०

अस्वीकार कर दिया ।[1] यद्यपि यहां तथागत ने काफी दिनों तक विहार किया था ।[2]

बिम्बिसार ने यहां शासन किया और तथागत की बिम्बिसार से यहां भेंट तथा वार्तालाप आदि की दृष्टि से यह मगध जनपद अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है ।

कौशल-जनपद में बड़े-बड़े परिवार थे, वाहन भी बहुत अच्छे-अच्छे थे । साथ ही धन संपत्ति भी वहां थी किन्तु उस जनपद के शासक का कुल मातङ्ग से प्रारम्भ हुआ था, अतः माता-पिता की शुद्धता उसके शासकों में नहीं थी । धनराशि और रत्नराशि भी इस कुल में सीमित थी ।[3]

वैशाली-नगरी बहुत विशाल, समृद्ध, स्वच्छ, कल्याणपूर्ण और सुभिक्ष थी । यहां के निवासियों की जनसंख्या बहुत अधिक थी । यह नगरी वितर्दि-निर्यूह-तोरण-गवाक्ष-हर्म्य-कूटागार-प्रासाद आदि से संपन्न थी । वहां पुष्पवाटिकाएं भी थीं, पुष्पित वनों की शोभा वहां दर्शनीय थी । यहां के भवन अमरपुर के भवनों के समान थे । किन्तु वहां न्यायवादिता, धर्माचरण का अभाव था । ऊंच-नीच और मध्यम जनों का सम्यक्तया पालन-पोषण नहीं होता था । वहां सभी स्वयं को राजा मानते थे । वहां के लोग धार्मिक नहीं थे और शिष्य बनकर उनमें कुछ सीखने की प्रवृत्ति नहीं थी ।[4]

ग्रन्थकार के अनुसार यह एक महानगरी थी—'वैशाली महानगरीमनुप्राप्तोऽभूत'[5] बुद्ध कुछ काल तक यहां रुके भी थे, यथाभिरामं वैशाल्यां विहृत्य[6]' तथा यहां बुद्ध ने आराड कालाप (कालाम) से दार्शनिक चर्चा की थी ।[7]

मथुरा – ललितविस्तर में वर्णित नगरियों में मथुरा भी एक नगरी है । यह पर्याप्त संपन्न, योग-क्षेम से युक्त, सुभिक्ष तथा समृद्ध थी । यहां विशाल जन समूह निवास करता था । कंस के कुल में उत्पन्न सुबाहु शूरसेन यहां का

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ७६१-७७३
२. वही, श्लोक ७७६
३. वही, (वैद्य) गद्यभाग पृ० १४
४. वही, पृ० १५
५. वही, पृ० १७४, पं० ११
६. वही, पृ० १७५
७. वही, पृ० १७४

राजा था । यद्यपि ग्रन्थकार के अनुसार इस नगरी का राजा दस्यु था, जिसकी पूर्ववंशजों में भी चिरकाल से मिथ्यादृष्टि विद्यमान थी ।[1]

हस्तिनापुर—पांडवों के कुल से अलंकृत शूरवीर राजाओं की राजधानी हस्तिनापुर प्रसिद्ध चली आ रही है । यहां के राजा अपनी शक्ति से शत्रुओं की सेनाओं का मर्दन करने में समर्थ थे तथा अत्यन्त सुन्दर भी थे । अपने राजाओं के सौन्दर्य के कारण इस नगरी की विशेष प्रसिद्धि रही है । इस ग्रन्थ के अनुसार इसके राजाओं के कुल में युधिष्ठिर, भीम, अर्जन, नकुल, सहदेव अपने पिता की सन्तान न होकर नियोग से उत्पन्न सन्तान थी । इस नगरी को और इसके शासकों को बहुत आदर से नहीं देखा जाता था ।

मिथिला नगरी—इसका शासक उस समय इस ग्रन्थ के अनुसार सुमित्र था । इस नगर की रक्षक सेना में हाथी, घोड़े, रथ और पदाति चारों प्रकार के सैनिक थे । अपनी इस चतुरङ्गिणी सेना के कारण इस नगरी को बहुत सशक्त माना जाता रहा है । स्वर्ण, रजत, मणि, मुक्ता, वैदूर्य, शंख, हीरा और प्रवाल आदि रत्नों से यह अत्यन्त समृद्ध भी रही है । इसके साथ ही यहां के राजा सुमित्र बहुत धार्मिक, सबसे मैत्री सम्बन्ध रखने वाले थे । यह मैत्रीस्वभाव इनका विशेष गुण माना जाता रहा है । क्योंकि इनके सामन्त राजा अत्यन्त पराक्रमी थे और इसी कारण पड़ोसी ा जा प्रायः इनसे भयभीत रहते रहे हैं ।

काशी—ब्राह्मण, जैन और बौद्ध साहित्य में काशी विद्या, व्यापार-वाणिज्य आदि तथा तीर्थस्थान के रूप में प्रसिद्ध रही है । इसकी राजधानी वाराणसी थी, जो 'वरुणा' और 'असि' इन दोनों नदियों के पास स्थित है । इसके पास प्रसिद्ध स्थान 'ऋषिपत्तन मृगदाव' है, बुद्ध ने सर्वप्रथम यहीं पर धर्मचक्र प्रवर्त्तन करके पञ्चभद्रवर्गीयों को उपदेश दिया था ।

तथागत बुद्ध ने काशीजनों की पुरी वाराणसी को अमृतदुन्दुभि और प्रथम उपदेश के लिए स्वयं चुना ।[2] वाराणसी के पास ऋषिपत्तनमृगदाव[3] आज सारनाथ में स्थित माना जाता है ।

वाराणसी—यह काशी जनपद की बुद्ध के समय राजधानी थी । यहाँ देश-विदेश से व्यापारी व्यापार-वाणिज्य के लिए आते थे । यह उत्तर प्रदेश में स्थित

---

१. ल० वि० (वैद्य), पृ० १५
२. वही, (शास्त्री), श्लोक १४२४-१४२५
३. (क) वही, श्लोक १४६७
(ख) वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २९३, पं०, २५-२६

है। वरुणा और असि नदियां इसके आस-पास स्थित हैं इसलिए यह वाराणसी कहलाती है। वाराणसी के ऋषिपत्तन मृगदाव में पाँच सौ प्रत्येक बुद्ध विहार करते थे।[1] वाराणसी नगरी में स्वल्प-जनगण थे।'[2] उस समय, फिर भी बुद्ध ने प्रथम उपदेश के लिए इसी स्थान को चुना। क्योंकि यह पुराने ऋषियों का निवास स्थान है। देवता और नाग इस नगरी की स्तुति करते हैं। यह धर्म की तराई है।[3]

लुम्बिनी-वन—लुम्बिनी वन का महत्त्व इसलिए है कि यहाँ पर शाक्यवंशी सर्वार्थसिद्ध का जन्म हुआ था।[4]

लुम्बिनी वन आज एक उपवन (Park) है जो कपिलवस्तु और देवदह के बीच में स्थित है। इसका प्रमाण सम्राट् अशोक द्वारा स्थापित स्तम्भ तथा उस पर अंकित अभिलेख है। यह स्थान आधुनिक समय में नेपाल की तराई में, भगवानपुर के पास, उत्तर में दो मील दूर 'रुम्मिनदेई के नाम से स्थित और प्रसिद्ध है, जो गोरखपुर प्रान्त में स्थित नौतनवा से दस मील दूर है।[5] सुत्त-निपात में लिखा है कि बुद्ध शाक्यों के 'लुम्बिनेचय जनपद' नामक ग्राम में उत्पन्न हुए थे। बुद्ध जब चारिका करते हुए देवदह गये तो लुम्बिनीवन में ठहरे और वहाँ 'देवदहसुत्त' का उपदेश दिया।

देवताओं द्वारा अलंकृत वह लुम्बिनीवन मिश्र का वन जैसा लगता था।[6] वह देवताओं के नन्दन वन जैसा अलंकृत था।[7]

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १३, १४
२. वही, गद्यभाग, पृ० १३, पं० २६
३. वही, (शास्त्री), श्लोक १४१८, १४१
४. (क) अद्यजगति श्रेष्ठो जायते लुम्बिनीये। —वही, श्लोक २०६
(ख) यदा जातोऽमे पुत्र लुम्बिनीसाह्वये सिंहवच्चाग्रहीतस्त्वंप्रक्रान्तः सप्तपदास्वयम्॥ —वही, श्लोक ७८२
(ग) योऽसौ तुषितालयाच्च्युत्वा ओक्रान्तु मातुकुक्षौ हि।
जातश्चलुम्बिनीवने प्रतिग्रहीतः शचीपतिना॥—वही, श्लोक १४२६
५. अंगनेलाल, संस्कृत बौद्ध-साहित्य में भारतीय जीवन, पृ० २२
६. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ६१
७. मणिकनकनिषितां लुम्बिनीं कारयध्वं विविधवसनरत्नैः सर्ववृक्षां प्रवेथा।
विविधकुसुमचित्रं नन्दनं वा सुराणां, वदथ च मम शीघ्रं सर्वमेतं विधाय॥
—वही, (शास्त्री), श्लोक २००

कपिलवस्तु —कपिलवस्तु नामक नगर में सभी प्राणी अत्यन्त शुद्ध हृदय के तथा धर्मात्मा हैं। कपिलवस्तु नामक जन्मभूमि उद्यानों, आरामों तथा विहारों से विभूषित शोभा पा रही थी।[१] सिद्धार्थ ने बिम्बिसार से कहा, हे राजन्! शाक्यों के अत्यन्त सुन्दर धनधान्य सम्पन्न कपिलपुर का नाम आपने सुना होगा। मेरे पिता का नाम शुद्धोदन है। गुणों का अभिलाषी मैं वहीं से प्रव्रजित हुआ हूं।[२] कपिलवस्तु चमकीले मन्दार, परिजात, आदि पुष्पों से अभिव्याप्त है।[३] कपिलाह्वय नामक महाश्रेष्ठ महानगर शतसहस्र उद्यानों द्वारा चारों ओर से सजा हुआ है।[४] यह महानगर धन-धान्य से और देवताओं से परिपूर्ण है, अप्पसराओं के वाद्यों की धुन सुनाई देती है।[५] देवताओं ने इस नगर ने दिव्यपुष्पों' की वृष्टि की, स्तुति और प्रदक्षिणा की।[६] बोधिसत्त्व के माता की कौरव में विराजने के कारण इस महानगरी में मंगलकामना के अधिष्ठान से रात-दिन दिव्य वाजे वजते थे। दिव्य पुष्पवृष्टि होती थी। समय पर हवायें चलती थीं, समय पर देवता पानी बरसाते थे। समय पर ऋतु तथा नक्षत्र बदलते थे। महानगर में कुशलक्षेम का, सुभिक्ष का राज्य था। इस महानगर में शाक्य और अन्य प्रजाजन खाते-पीते थे आनन्द मनाते थे। खेलते खाते थे, दान देते थे और पुण्य करते थे। चाँदनी रातों में क्रीड़ाओं के सुखमय विहारों में विहार करते थे।[७]

देवता मनुष्यों को देखते थे और मनुष्य देवताओं को। वहाँ पर वे आपस में न सताते थे और न मार-काट करते थे। सभी नगर निवासी मौज उड़ाते थे, क्रीड़ाएँ करते थे। एक-दूसरे को खान-पान देते थे, मन हर्षित और संतुष्ट हो आनन्द मनाते थे। राज्य कुशल क्षेमवाला और उपद्रव से रहित था। समय पर देव बरसता था। घास, फूल, पुष्प तथा औषधियाँ कपिलवस्तु महानगर में

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ३८
२. वही, श्लोक ७७५
३. वही, श्लोक ११४
४. वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ३६
५. वही, (शास्त्री), श्लोक १५०
६. वही, श्लोक २८६
७. 'कालेन देवा वर्षन्ति स्म। कालेन वायवो वान्ति स्मकालेन ऋतवो नक्षत्राणि च परिवर्तन्ते स्म। क्षेमं च राज्यं सुभिक्षं च सुमनाकुलमनुभवति स्म। सर्वे च शाक्या अन्ये च सत्त्वाः खादन्ति स्म, पिवन्ति स्म, क्रीडन्ति स्म……। —वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ५३

शुद्धोदन के राज्य में समय पर उगती रहती थीं। कोई प्राणी धनहीन और दुःखी नहीं था।

कपिल वस्तु नगरी अनेक प्रकार के वनों उपवनों और आरामों से मनोरम है। वहाँ अनेक देवालय हैं। महानगरी के उपवनों में नाना प्रकार के वृक्ष हैं। वहाँ के नागरिकों की पुष्पवृक्षों, फल-वृक्षों लता-गुल्मों और वितानों का आनन्द लेने में रुचि है। उनके उद्यान मिश्र का वन और नन्दन वन के समान सुगन्धित पुष्पों और फलों से झुके देखे जाते थे।[1] शुद्धोदन के घर के उद्यानों में शुक सारिका, कोकिल, हंस, मयूर, चक्रवाक, कोयल (कुणाल) गौरैया, चकोर आदि रंग-बिरंगे पक्षी प्रिय बोली बोलते हुए प्रासादों पर बैठते थे।[2] जिस रथ पर बैठकर माया देवी ने लुम्बिनी वन की यात्रा की, उस रथ पर पत्तियों और फूलों से युक्त चार रत्नों के वृक्ष सजाए गए थे, उस पर हंस, क्रौञ्च, मयूर मनोहर बोलियाँ बोल रहे थे।[3]

उस कपिल वस्तु नगरी में अनेक सरोवर, कूप, पुष्करिणियाँ, जलाशय आदि हैं जिनमें सभी ऋतुओं में अनेक प्रकार के पुष्प खिले रहते थे। पक्षी उन जलाशयों को अपने कलख से मुखरित करते रहने थे। अनेक स्थानों पर चैत्य बने हुए हैं जो निवास और पूजा दोनों के लिए उपयुक्त थे। वहाँ के निवासी अनेक प्रकार के व्यवसाय-उद्योगों और शिल्पों में पारंगत थे।

ललितविस्तर में कपिल वस्तु महानगर का प्राकृतिक, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक सांस्कृतिक जीवन का पूर्ण चित्र कवि ने चित्रित किया है। भौगोलिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से कपिलवस्तु महानगर महत्त्वपूर्ण है।

उरुवेला, सेनानीग्राम, क्रोड्य (कोलियों का देश), मल्लदेश, मैनेय (क्षत्रियों का देश), अनुवैनेय नामक कस्बा (निगम) आदि देश कपिलवस्तु के और मगध के रास्ते में स्थित थे। अभिनिष्क्रमण के समय ललितविस्तर के अनुसार सिद्धार्थ ने इन्हें पार किया।[4]

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ८, पं०, २२-२६

२. वही, पृ० २८, पं० २५-२६

३. वही, (शास्त्री) श्लोक २०७

४. वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १६३ पं० २२-२३

इसी प्रकार धर्मचक्र प्रवर्त्तन के समय जब सिद्धार्थ उत्तर की ओर चले। चारिका करते हुए पहले 'गया' पहुंचे। वहाँ से रोहितवस्तु, रोहितबस्तु से उरुविल्वाकल्प और वहाँ से अणाण, अणाल से सारथिपुर पहुँचकर, गंगा नदी को पार करके वाराणसी महानगरी में निवास किया। इन ग्रामों और नगरों के अतिरिक्त ललितविस्तर में अन्य ग्रामों, नगरों, वनों, उपवनों आदि का भी उल्लेख है, विस्तार-भय से यहां अधिक लिखना उचित नहीं है।[1]

प्रत्येक महानगरियों की सुरक्षा व्यवस्था एवं नगर-निवासियों के कल्याण के लिए, नगर के प्रत्येक भाग में समर्थ रक्षा-व्यवस्था तथा कल्याण के लिए समुचित उपाय किये जाते रहे हैं। इसका अनुमान त्रपुष-भल्लिक के लिए भगवान तथागत द्वारा की गयी संहर्षणा तथा स्वस्तिवाचन से लगाया जा सकता है। इस संहर्षणा में प्रत्येक दिशा में सुरक्षा, अधिपालन, आरोग्य एवं कल्याण के लिए भिन्न देवताओं (दिव्य पुरुषों) की कल्पना की गयी है जो द्रष्टव्य है।

इस प्रसंग में ग्रन्थकार ने पूर्वदिशा की रक्षा में कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य और आश्लेषा इन सात नक्षत्रों को लोकपाल के रूप में तथा उनके (अथवा पूर्व दिशा के) अधिपति के रूप में गन्धर्वपति धृतराष्ट्र की तथा उसके सहायक के रूप में सूर्य की भी कल्पना की है।[2] पूर्वदिशा के रक्षक के रूप में उसके इक्यानवे पुत्रों की चर्चा आयी है जिनमें प्रमुख इन्द्र हैं। जिस प्रकार आज आरोग्य की व्यवस्था के लिए चिकित्सालय एवं उसमें चिकित्सकों के साथ स्त्रीपरिचारिकाओं की व्यवस्था रहा करती है उसी प्रकार यहाँ भी ग्रन्थकार ने जयन्ती, विजयन्ती, सिद्धार्था, अपराजिता, नन्दोत्तरा, नन्दिसेना, नन्दिनी, एवं नन्दवर्धिनी नामक आठ देवकन्याओं की सूचना दी है, तथा उनसे अधिपालन और आरोग्य आदि की प्राप्ति होगी, ऐसा स्वीकार किया है।[3]

नगर के प्रत्येक द्वार के पास एक चैत्य अर्थात् देवमन्दिर का होना भी अनिवार्य माना जाता रहा है ऐसा प्रतीत होता है। इसलिए पूर्वदिशा में चापाल नामक चैत्य की स्थिति मानी है जिसमें एक बुद्ध का भी निवास रहता हो ऐसी सूचना मिलती है।[4]

इसी प्रकार ग्रन्थकार ने दक्षिण दिशा में मघा, दोनों फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति और विशाखा इन सात नक्षत्ररूप दिक्पालों एवं विरुढ़क नामक उनके

---

१. ल०वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २९७ पं० ८-१७, २२-२५

२. वही, (शास्त्री), श्लोक १३४१-१३४४

३. वही, श्लोक १३४५-१३४६

४. वही, श्लोक १३४७

राजा तथा यम को सहायक के रूप में वर्णित किया है।[1] यहाँ भी उसके इन्द्र इस एक नाम वाले ही इक्यानवे पुत्रों का, श्रियामती, यशमती, यशप्राप्ता, यशोधरा, सु-उत्थिता, सुप्रथमा, सुप्रबुद्धा और सुखावहा इन आठ देवकन्याओं का पालन एवं आरोग्य प्रदान करने वाले के रूप में वर्णन किया है। इस दिशा में पद्म नामक चैत्य की चर्चा मिलती है। जो दिव्य तेज से समन्वित है।[2]

ग्रन्थकार ने पश्चिम दिशा में अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, दोनों आषाढ़ा, अभिजित और श्रवण इन सात नक्षत्रों को तथा नागों के अधिपति वरुण के साथ विरुपाक्ष नामक दिक्पाल की चर्चा की है। इनके पुत्र भी संख्या में इक्यानवे वर्णित हैं जिन्हें केवल इन्द्र इस एक नाम से ही जाना जाता है।[3] इस दिशा में पालन करने एवं आरोग्य प्रदान करने वाली अलम्बुषा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका, अरुणा, एकादशा, नवमिका, शीता, कृष्णा और द्रोपदी इन नव देवकुमारिकाओं के नाम परिगणित हैं।[4] इस दिशा में चैत्य के स्थान पर सूर्य और चन्द्र से अधिष्ठित अष्टंग नामक कल्याणदायी पर्वत की स्थिति मानी गयी है।

उत्तर दिशा के रक्षक के रूप में ग्रन्थकार ने धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वा और उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी और भरणी, इन सात नक्षत्रों को लोकपाल के रूप में तथा उनके अधिपति कुबेर को दिक्पाल के रूप में वर्णित किया है जिनके सहायक यक्षाधिपति मणिभद्र हैं।[5] इनके भी पुत्रों की सख्या इक्यानवे है और सभी का इन्द्र यह एक नाम है। इस दिशा में इला, सुरा, पृथ्वी, पद्मावती, आशा, श्रद्धा, ह्री और श्री ये आठ देवकन्याएँ ग्रन्थकार ने गिनायी हैं।[6] जो इस दिशा में पालन एवं स्वास्थ्य की देखभाल करती हैं। इस दिशा में चित्र विचित्र सौन्दर्य से युक्त शिखरों वाले गन्धमादन नामक पर्वत की स्थिति ग्रन्थकार ने बतायी है, जो अत्यन्त सुन्दर है।

इस प्रकार इस प्रकरण में ग्रन्थकार अट्ठाइस नक्षत्रों, बत्तीस देवकन्याओं, तीन सौ चौंसठ इन्द्र नामक देवपुत्रों एवं चार सहायकों के साथ चार दिक्पालों की चर्चा करते हुए, किसी भी भवन या नगर की सुरक्षा करते हुए, पालन करके, कल्याण प्रदान करने की अत्यन्त सुन्दर व्यवस्था उपस्थित करता है।

---

१. ल०वि० (शास्त्री), श्लोक १३४६-१३५२
२. वही, श्लोक १३५२-१३५७
३. वही, श्लोक १३५८-१३६२
४. वही, श्लोक १३६३-१३६४
५. वही, श्लोक १३६८-१३७०
६. वही, श्लोक १३७१-१३७३

शिक्षा-व्यवस्था और शिक्षा के विषय

शिक्षालय एवं शिक्षा विषय

ललितविस्तर के अनुसार शिक्षालय या विद्यालय ही ज्ञानार्जन के स्थान नहीं होते थे। ज्ञान तो व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार विश्व के प्रत्येक स्थान में प्रत्येक समय अर्जित करता रहता है। शिक्षालय तो केवल लेखन-विधि एवं विविध लिपियों को सीखने, पढ़ने के लिए हुआ करते हैं इसलिए इन्हें शिक्षालय एवं विद्यालय कहने के स्थान पर लिपिशाला कहना अधिक उचित है। ग्रन्थकार ने 'लिपिशाला' शब्द का प्रयोग किया है।[1] इन स्थानों में लिपि की मुख्य शिक्षा के साथ-साथ शास्त्रों, संख्यागणनाओं, धातुतन्त्र अर्थात् रसायनशास्त्र, शिल्प-प्रयोग आदि की शिक्षा दी जाती थी—

शास्त्राणि यानि प्रचलन्ति मनुष्यलोके
संख्या लिपिश्च गणनापि च धातुतन्त्रम् ।
ये शिल्पयोग पृथु लौकिक अप्रमेयाः
तेष्वेषु शिक्षितु पुरा बहुकल्पकोट्यः ॥[2]

उपकरण

लिपि की शिक्षा के लिए उस काल में काष्ठपट्टिका का प्रयोग किया जाता था तथा लेखनी के रूप में धातुनिर्मित कलम का। तथागत बोधिसत्त्व के लिपि-अभ्यास के लिए जो पट्टी दी गयी थी, वह उत्कृष्ट चन्दन (अथ बोधिसत्त्वः उरगसारमयं लिपिफलकमादाय)[3] की तथा लेखनी तिरक सोने की बनी थी (दिव्यार्षसुवर्णतिरकं)[4] लेखनी को अलंकृत करके सुन्दर और आकर्षक बनाने की प्रथा भी थी। राजकुमारों की लेखनी को मणिरत्नों से जड़कर सुन्दर बनाया जाता था—'समन्तात् मणिरत्न प्रत्युप्तम्'[5] लेखनी की नोक प्रायः तिरछी बनायी जाती थी, आजकल के फाउण्टेन पेन के निब की भाँति सीधी या गोल नहीं। इसीलिए उसे 'तिरक' कहते थे।

लिपियां

उस काल में प्रथम ब्राह्मी और खरोष्ट्री दाहिने और बाएँ दोनों ओर से प्रारम्भ होने वाली प्राचीन लिपियों का अभ्यास कराने के बाद, निकटवर्त्ती

---

१. ल०वि० (वैद्य), पृ० ८७-८६
२. वही (शास्त्री), श्लोक २६७
३. वही (वैद्य), पृ० ८८ पं० ६
४. वही,
५. वही, पृ० ८८, पं० ६, १०

देशों में प्रचलित लिपियों की शिक्षा दी जाती थी। ग्रन्थकार के अनुसार उस काल में निम्नलिखित चौंसठ लिपियाँ प्रचलित थीं और प्रयत्न किया जाता था कि राजकुमारों को इन सभी लिपियों की शिक्षा प्रदान की जाए।

(१) ब्राह्मी (२) खरोष्ट्री (३) पुष्करसारि (४) अङ्गलिपि (५) वङ्गलिपि (६) मगधलिपि (७) मङ्गल्यलिपि (८) अङ्गुलीयलिपि (९) शकारिलिपि (१०) ब्रह्मवलिलिपि (११) पारुष्यलिपि (१२) द्राविड़लिपि (१३) किरातलिपि (१४) दाक्षिण्यलिपि (१५) उग्रलिपि (१६) संख्यालिपि (१७) अनुलोमलिपि (१८) अवमूर्धलिपि (१९) दरदलिपि (२०) खाष्यलिपि (२१) चीनलिपि (२२) लूनलिपि (२३) हूणलिपि (२४) मध्याक्षरविस्तरलिपि (२५) पुष्पलिपि (२६) देवलिपि (२७) नागलिपि (२८) यक्षलिपि (२९) गन्धर्वलिपि (३०) किन्नरलिपि (३१) महोरगलिपि (३२) असुरलिपि (३३) गरुड़लिपि (३४) मृगचक्रलिपि (३५) वायसरुतलिपि (३६) भौमदेवलिपि (३७) अन्तरीक्षदेवलिपि (३८) उत्तरकुरुद्वीपलिपि (३९) अपरगोडानीलिपि (४०) पूर्वविदेहलिपि (४१) उत्क्षेपलिपि (४२) निक्षेपलिपि (४३) विक्षेपलिपि (४४) प्रक्षेपलिपि (४५) सागरलिपि (४६) वज्रलिपि (४७) लेखप्रतिलेखलिपि (४८) अनुद्रुतलिपि (४९) शास्त्रावर्तालिपि (५०) गणनावर्तलिपि (५१) उत्क्षेपावर्तलिपि (५२) निक्षेपावर्तलिपि (५३) पादलिखितलिपि (५४) द्विरुत्तरपदसंधिलिपि (५५) यावद्दशोत्तरपदसंधिलिपि (५६) मध्याहारिणीलिपि (५७) सर्वरुत संग्रहणीलिपि (५८) विद्यानुलोमाविमिश्रितलिपि (५९) ऋषितपस्तप्तालिपि (६०) रोचमानालिपि (६१) धरणीप्रेक्षिणीलिपि (६२) गगनप्रेक्षिणीलिपि (६३) सर्वौषधिनिष्यन्दा सर्वसारसंग्रहणीलिपि (६४) सर्वभूतरुतग्रहणीलिपि।[1]

तथागत को ये सभी लिपियाँ जन्म से ही ज्ञात थीं।[2] यद्यपि उस राजकीय लिपिशाला के अध्यक्ष विश्वामित्र भी इन सभी लिपियों से परिचित नहीं थे। कई के तो उन्हें नाम भी विदित नहीं थे।[3]

वर्णमाला के उच्चारण के आधार पर विशिष्ट शब्द

जिस प्रकार आजकल बच्चों को वर्णमाला का ज्ञान देते समय प्रत्येक वण के साथ उस वर्ण का आदि अक्षर 'अ' आदि के रूप में, जिन पदार्थों के नामों से हुआ है, उन पदार्थों का चित्र एवं नाम लेने की परम्परा आज भी प्रचलित है।

---

१. ल०वि० (वैद्य), पृ० ८८, पं० १०-२०

२. वही, (शास्त्री), श्लोक ३०२

३. वही, श्लोक ३०३

उसी प्रकार उस समय भी यह प्रचलन था। यद्यपि जन्म से ही सभी विद्याओं में पारंगत होने के कारण ग्रन्थकार के अनुसार, किसी वर्ण का अकेला प्रयोग होने पर बोधिसत्त्व के मुख से अत्यन्त गूढ़ दार्शनिक एवं विश्व की अनित्यता को दर्शाने वाले शब्द अनायास मुख से निकल आते थे। जैसे 'अ' वर्ण के साथ समस्त संस्कारों की अनित्यता, 'आ' वर्ण के साथ आत्मपरहित शब्द का' इकार वर्ण का प्रयोग होने पर इन्द्रियवैकल्य का, ईकार का उच्चारण करने पर ईतिबहुल जगत है आदि का निदर्शन स्वतः प्रगट हो जाता था। इस प्रकार के प्रत्येक वर्णमाला के लिए प्रयोग किये गये विशिष्ट शब्द निम्नलिखित हैं[1] :—

अ = अनित्यः सर्वसंस्कारः
आ = आत्मपरहित
इ = इन्द्रियवैकल्य
ई = ईतिबहुल जगत्
उ = उपद्रवबहुल जगत्
ऊ = ऊनसत्त्व जगत्
ए = एषणा समुत्थान दोष
ऐ = ऐर्यपथ श्रेयान्
ओ = ओघोत्तर
औ = औपपादुक
अं = अमोघोत्पत्ति
अः = अस्तंगमन
क = कर्मविपाक अवतार
ख = खसमसर्व धर्म
ग = गम्भीरधर्मप्रतीत्य समुत्पादावतार
घ = घनपटलाविद्यान्धकार विधमन
ङ = अङ्गविशुद्धि
च = चतुर आर्यसत्य
छ = छन्दरागप्रहाण
ज = जरामरण समतिक्रमण
झ = झषध्वजबलनिग्रहण
ञ = ञापन
ट = पटोपच्छेदन

---

१. ल०वि० (वैद्य), पृ० ८६, पं० ६ से २३ तक

ठ = ठपनीयप्रश्न
ड = उमरमारनिग्रण
ढ = मीढ विषय
ण = रेणुक्लेश
त = तथतासंभेद
थ = थामबल वेग वैशारद्य
द = दानदमदमन (संयम)—सौरभ्य
ध = धनं आर्याणां सप्तविधम्
न = नामरूप परिज्ञा
प = परमार्थ
फ = फलप्राप्तिसाक्षात्क्रिया
ब = बन्धनमोक्ष
भ = भवविभव
म = मदमान उपशमन
य = यथावद् धर्मप्रतिषेध
र = रति-अरति-परमार्थरति
ल = लताछेदन
व = वरयान
श = शमथविपश्यना
ष = षडायतननिग्रहण-अभिज्ञ-ज्ञानावाप्ति
स = सर्वज्ञ-ज्ञानाभिसंबोधन
ह = हतक्लेशविराग
क्ष = क्षणपर्यन्ताभिलाप्यसर्वधर्म

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि लिपिशाला में बोधिसत्त्व ने जैसे बत्तीस हजार बालकों को अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि में पक्का किया था, उसी प्रकार बत्तीस हजार बालिकाओं में भी बोधिचित्त (ज्ञान) पैदा हुआ। बालक और बालिकाओं को सहशिक्षा (co-education) प्रदान की जाती थी। और तिब्बती संस्करण में "अनुत्तरायां सम्यक् संबोधौ चित्तान्युत्पादितानि द्वात्रिंश-द्वारिकासहस्राणि" यह पाठ नहीं है।[1]

विश्वामित्र इस लिपिशाला के अध्यक्ष थे। ललितविस्तर के अनुसार किसी भी लिपिशाला के अध्यक्ष को अपने यहाँ सिखाये जाने वाले विषयों

---

१. ल०वि० (शास्त्री), पृ० २५५

की पूर्णजानकारी होनी चाहिए किन्तु वे उन तमाम लिपियों को नहीं जानते थे, जिनकी जानकारी शिक्षा के लिए लाये गये राजकुमार को थी।[१] इसी कारण वे स्वयं के बारे में संदेह करते हैं कि वे किस प्रकार इस राजकुमार को कुछ सिखा सकेंगे—'शिक्षयिष्ये कथं ह्येनंलिपिप्रज्ञाय पारगम्'।[२]

ललितविस्तर के अनुसार लिपिशाला के शिक्षार्थियों का उपयोग भी अपने से कम लिपियों के जानकार शिक्षार्थियों की शिक्षा के लिए होता था।[३] यह भी पता चलता है कि कुछ प्रबुद्ध शिक्षार्थी अपनी विचारधारा का प्रचार भी लिपिशालाओं में करते रहते थे, इस विषय में कोई प्रतिवन्ध नहीं था।[४] कुछ शिक्षार्थियों का तो प्रवेश लेने का प्रयोजन भी यही होता था, कुछ सीखना नहीं—'अयं हेतुरयं प्रत्ययो यच्छिक्षितोऽपि वोधिसत्त्वोलिपिशालामु पगच्छति स्म।[५]

अनौपचारिक शिक्षा और उसके विषय

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है शिक्षालयों में केवल लिपियों की तथा एकाध विषयों की शिक्षा दी जाती थी किन्तु शिक्षा के अन्य अनेक विषय थे, जिनकी शिक्षा शिक्षार्थी शिक्षालय या विद्यालय से बाहर समाज में रहते हुए प्राप्त करता था। ललितविस्तर के अनुसार उस समय औपचारिक शिक्षा का प्रबन्ध कम था किन्तु अनौपचारिक शिक्षा का प्रसार बहुत अधिक था। इस अनौपचारिक शिक्षा में शिल्पों की शिक्षा पर विशेष बल था अथवा शिल्प की ही प्रधानता थी।

ललितविस्तर के अनुसार इन शिल्पों में तलवार चलाना, धनुषबाण चलाना कलाप-युद्ध अर्थात् अनेक लोगों से एक साथ युद्ध करना आदि, सालम्भयुद्ध किसी भारी पदार्थ को उठाकर दूर तक फेंकना इत्यादि मुख्य थे।[६] संख्याशास्त्र (गणित)[७] युद्ध शास्त्र[८], धनुर्विद्या, दौड़ना, तैरना, विशिष्ट अस्त्रों का संचालन

१. ल०वि० (शास्त्री), श्लोक ३०३
२. वही, गद्यभाग, पृ० ८८
३. वही, (वैद्य), पृ० ८९, पं० २५,२६
४. वही, पृ० ८९, पं० २६-२७
५. वही, पृ० ८९, पं० २७-२८
६. वही, पृ० १०१ पं० ९-१० एवं २२-२३
७. वही, पृ० १०२ पं० १५
८. वही, पृ० १०५ पं० २७

हाथी सवारी, घुड़सवारी, स्थिरता, शौर्य, व्यायाम, अंकुशग्रहण, पाशग्रहण, उद्याननिर्माण, निर्याण, अवयान, मुष्टिबन्ध, पदबन्ध, शिखाबन्ध, छेदन-भेदन, स्फालन, अक्षुणवेध, मर्मवेध, शब्दवेध, दृढ़प्रहार, द्यूतक्रीड़ा, काव्यरचना, ग्रथन, चित्रण, रूपयोजना, रूपकर्म, अध्ययन, अग्निविद्या, वीणावादन, नृत्य-गीत, सुपठन, कहानी कहना, हंसाना, लास्य (शृंगारिक चेष्टा), आडम्बर करना, माला गूँथना, मालिश करना, मणियों का रंगना, वस्त्रों का रंगना, इन्द्रजाल (जादूगरी), स्वप्नरहस्यकथन, पक्षियों की भाषा समझना, स्त्रीलक्षण, पुरुषलक्षण घोड़े, हाथी, गाय, बकरी आदि की पहचान, अर्थात् इनके विविध गुण-अवगुण आदि का ज्ञान। भेड़ा-भेड़ी, कुत्ता-कुतियों के खरे-खोटे फल के लक्षण का ज्ञान। कल्पविद्या (कौटुभ), निघण्टु (कोशशास्त्र), निगम (शास्त्र), पुराण, इतिहास, वेद, व्याकरण, निरुक्त, शिक्षा (वर्णोच्चारण विद्या), छन्द, यज्ञ-विधि, ज्योतिष सांख्य, योग (दर्शन), मीमांसा (क्रियाकल्प), वैशेषिक, गणिकाओं का मायाजाल (वैभिक), बार्हस्पत्य नीति शास्त्र, वृष्टिविद्या (आम्भिर्य), असुरों की माया, पशु पक्षियों की भाषा एवं संकेत, हेतुविद्या अर्थात् तर्कशास्त्र, जलयन्त्र, मोम द्वारा लाख द्वारा किए जाने वाला शिल्प (मधूच्छिष्टकृते), सिलाई, कढ़ाई, नक्काशी (विदलकर्म), मुख पर सजावट (पत्रछेद), इत्र आदि में, तथा सुगन्धित करने की कला आदि विषय भी अनौपचारिक शिक्षा के ही विषय थे।[1]

इन शिल्पों की परीक्षा सामूहिक हुआ करती थी एवं प्रत्येक को बारी-बारी से अपना कौशल दिखाने का अवसर मिलता था।[2] राजा लोग कई बार अपने पुत्र को सर्वोत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए भी ऐसे आयोजन करते थे और शिल्प परीक्षा के व्यवस्थापकों को निर्देश दे देते थे कि राजकुमार ही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होना चाहिए—'विशिष्यतां तावत्कुमारो लिपिज्ञाने'[3], 'युद्धेषु तावत्कुमारो विशेषयितव्यो।'[4] ऐसे परीक्षा के अवसरों पर या तो राजकुमार को सर्वविशिष्ट सिद्ध करने के लिए, अधिक विज्ञ प्रवेशार्थियों का प्रदर्शन रोक दिया जाता था अथवा उन्हें कुछ प्रलोभन या भय देकर राजकुमार से अच्छा प्रदर्शन न करने को विवश कर दिया जाता था अथवा कोई अन्य उपाय किया जाता था। इस प्रकार का कोई संकेत ललितविस्तर में नहीं है।

---

१. ल०वि० (वैद्य), पृ० १०८ पं० ८ से १८
२. वही, पृ० १०२-१०८
३. वही, पृ० १०२ पं० १५
४. वही, पृ० १०५, पं० २७

शिल्प विशेष की सूक्ष्मताएँ

इस शिल्प परीक्षा के समय शिल्प विशेष की दुर्लभ सूक्ष्मताओं का प्रदर्शन देखने को मिलता था। उदाहरणार्थ संख्या-शिल्प को देख सकते हैं—इस शिल्प के विशेषज्ञ अर्जुन नामक कोई विद्वान् थे। उन्हें इसकी परीक्षा के लिए नियुक्त किया गया था। उनके आदेश से बोधिसत्त्व शाक्यकुमारों से और शाक्यकुमार बोधिसत्त्व से प्रश्न करते थे, जिससे प्रश्न किया जाता था, वह उत्तर देता था। यह क्रम कुछ देर में सामूहिक बन गया, दो चार ही नहीं, पाँच सौ शाक्यकुमारों ने एक साथ प्रश्न करना प्रारम्भ किया और फिर भी बोधिसत्त्व सबके उत्तर देने लगे, एवं बोधिसत्त्व ने सभी से प्रश्न किये, और शीघ्रतापूर्वक एक-एक ने, प्रत्येक से किये गये प्रश्न का उत्तर दिया।

संख्यागणनाक्रम में यह ध्यान देने योग्य है कि संख्या गणनाप्राय: कोटि-पर्यन्त की जाती है। कोटि के बाद अरब (अर्बुद) की चर्चा भी होती है उसके बाद की संख्याओं नील, पद्म आदि के नाम भी लोग प्राय: नहीं जानते हैं।

तथागत बोधिसत्त्व से भी कोटि से आगे की संख्याओं के बारे में प्रश्न किये गये और उनके उत्तर भी प्राप्त हुए। उस प्रश्नोत्तर के अनुसार संख्याक्रम निम्नांकित हैं :—

१. सौ कोटि (करोड़)—अयुत

२. सौ अयुत—एकनियुत

३. सौ नियुत—एककङ्कर

४. सौ कंकर, एक विवर

५. सौ विवर—एक अक्षोभ्य

६. सौ अक्षोभ्य—एक विवाह

७. सौ विवाह—एक उत्संग

८. सौ उत्संग—एक बहुल

९. सौ बहुल—एक नागबल

१०. सौ नागबल—एक तिटिलंभ

११. सौ तिटिलम्भ—एक व्यवस्थानप्रज्ञप्ति

१२ सौ व्यवस्थानप्रज्ञप्ति—एक हेतुहिल

१३. सौ हेतुहिल—एक करकू

१४. सौ करकू—एक हेतु इन्द्रिय

१५. सौ हेतुइन्द्रिय—एक समाप्तलम्भ

१६. सौ समाप्तलम्भ—एक गणनागति

१७. सौ गणनागति—एक निरवद्य

१८. सौ निरवद्यों—एक मुद्राबल

१९. सौ मुद्राबलों—एक सर्वबल

२०. सौ सर्वबल—एक विसंज्ञागति

२१. सौ विसंज्ञागतिय—एक सर्वसंज्ञा

२२. सौ सर्वसंज्ञा—एक विभूतंगमा

२३. सौ विभूतंगमा—एक लक्षण

२४. सौ लक्षण—एक

सौ से गुणित होने वाले इस गणनाक्रम को लक्षण गणना कहा जाता था[1] ग्रन्थकार के अनुसार एक लक्ष (लाख) से गुणित होने वाला एक सख्या क्रम भी प्रचलित था, जिसे ध्वजाग्रवती नामक गणना कहते रहे हैं।[2] इनके अतिरिक्त और बड़ी संख्याओं से गुणित होकर प्रयुक्त होने वाले अन्य संख्याक्रम भी थे, जिन्हें क्रमशः ध्वजाग्रनिशामणी-वाहन प्रज्ञप्ति-इङ्गा-कुल्टु-कुरुटावि-सर्वनिक्षेपा, अग्रसारा, परमाणुरज:प्रवेशानुगता[3] इत्यादि नाम से स्मरण किया जाता था। इतनी सूक्ष्म-गणना क्रमों के नाम गणितज्ञों को आज ज्ञात नहीं हैं।

ललितविस्तर के अनुसार अतिसूक्ष्म पदार्थों के गणनाक्रम के लिए परमाणु-रज:प्रवेशगणना[4] क्रम का प्रयोग किया जाता था। इसमें अणुपरमाणुओं के परिमाण क्रम की गणना की जाती थी। इस गणनाक्रम में सात से पूर्व संख्या का गुणन होने पर उत्तरवर्त्ती संख्या बनती है, जैसे—

(१) सात परमाणु रज से एक अणु

(२) सात अणु से एक त्रुति

(३) सात त्रुति से एक वातायन रज

(४) सात वातायन रज से एक शशरज

---

१. ल०वि० (वैद्य), पृ० १०३ पं० १०-२८

२. वही, पृ० १०३, पं० २१

३. वही, पृ० १०३, पं० २३-२७

४. वही, पृ० १०४, पं० १-४

(५) सात शशरज से एक एड़करज
(६) सात एड़करज से एक गोरज
(७) सात गोरज से एक लिक्षारज
(८) सात लिक्षारज से एक सर्षप
(९) सात सर्षप से एक यव
(१०) सात यव से एक अंगुलिपर्व

इससे ऊपर की परिमाण गणना में गुणक संख्या का कोई एक निश्चित नियम नहीं था। जैसे बारह अंगुलिपर्व से एक वितस्ति, दो वितस्ति से एक हस्त, चार हस्त (हाथ) से एक धनुष, एक सहस्र धनुष का एक मार्गध्वजाक्रोश, चार क्रोश का एक योजन इत्यादि।[1]

ललितविस्तर में इसी प्रश्नोत्तर क्रम में एक योजनपिण्ड में कितने परमाणुओं की संख्या होगी इसका भी निदेश प्राप्त हुआ है।[2]

ललितविस्तर में प्राप्त संकेत के अनुसार उस काल में लोग प्रत्येक द्वीप, जनपद आदि की नाप-जोख न केवल जानते ही थे, बल्कि याद रखते थे।[3] इतना ही नहीं समस्त भूमण्डल के प्रत्येक पदार्थ की, उनके प्रकारों की संख्या को स्मरण रखना भी आवश्यक मानते थे। ललितविस्तर में जिन पदार्थों की संख्याओं का विवरण मिलता है उसमें कुछ निम्नलिखित हैं—जम्बुद्वीप का क्षेत्रफल सात हजार योजन, गोदानीय द्वीप का क्षेत्रफल आठ हजार योजन, पूर्व विदेह का नौ हजार योजन और उत्तर कुरु का दस हजार योजन।

चारों महाद्वीपों में मिलाकर लोकधातुओं की संख्या परिपूर्ण सौ कोटि है। इनमें एक सौ कोटि संख्या महासमुद्रों की है। इसी प्रकार एक सौ कोटि चक्रवाल और महाचक्रवाल, एक सौ कोटि सुमेरु पर्वत के कण, एक सौ कोटि चातुर्महाराजिक देव, एक सौ कोटि त्रयस्त्रिशदेव, एक सौ कोटि यामदेव, एक सौ कोटि तुषित देव, एक सौ कोटि निर्माणरति, एक सौ कोटि, परनिर्मित वशवर्तियों की, एक सौ कोटि ब्रह्मकायिक देवों की, एक सौ कोटि ब्रह्म पुरोहित, एक सौ कोटि ब्रह्म पार्षदों की, एक सौ कोटि महाब्रह्म की, एक सौ कोटि परीत्ताभ, एक सौ कोटि अप्रमाणाभ, एक सौ कोटि आभास्वर, एक सौ कोटि परीत्तशुभ, एक सौ कोटि अप्रमाण शुभ, एक सौ कोटि शुभकृत्स्न, एक सौ कोटि

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १०४, पं० ४-६
२. वही, पृ० १०४ पं० ६-११
३. वही, पृ० १०४ पं० ११-१२

अनभ्रक, एक सौ कोटि पुण्यप्रसव, एक सौ कोटि बड़े फल, एक सौ कोटि अनाम जीव, एक सौ कोटि अवृह देव, एक सौ कोटि अतप देव, एक सौ कोटि सुदृश देव, एक सौ कोटि सुदर्शन एवं एक सौ कोटि अकनिष्ठ देवों की बतायी गयी है। इसलिए त्रिसाहस्र-महासाहस्र लोकधातु विपुल है, विस्तीण है उसमें जो परमाणु रज हैं वे असंख्येय हैं।[1]

इन उपर्युक्त बौद्धिक चमत्कार वाले शिल्पों के साथ शारीरिक कला से सम्बन्धित शिल्पों की भी प्रतियोगिता परीक्षाएँ होती थीं, जिनमें युद्ध, कुस्ती (सालम्भ) और अभिनय भी सम्मिलित थे।[2]

ऐसी प्रतियोगिता परीक्षाओं के समय कई बार अन्य प्रतियोगियों के अभिभावक मुख्य अर्थात् प्रायः विजयशील हो रहे प्रतियोगी के विरुद्ध किसी एक विषय विशेष में प्रतियोगिता के लिए चैलेञ्ज करते थे। ऐसा ललितविस्तर में संकेत मिलता है। अनेक प्रतियोगिताओं में पराजित अपने पुत्रों से बोधिसत्त्व का युद्ध कराने के लिए शाक्यों ने आयोजकों से निवेदन किया था—'तत्र शाक्या आहुः युद्धेषु तावत्कुमारो विशेषयितव्यो जिज्ञास्यश्च।[3] ऐसा सामान्यतः लोग तब करते थे, जब उन्हें विश्वास होता था कि शायद इस क्षेत्र में उनके पुत्र (या शिष्य) बाजी मार ले जाएँ।

जिस प्रकार आजकल शारीरिक खेलों की प्रतियोगिताओं में भाला और गोला या चक्का फेंकने की प्रतियोगिताएँ होती हैं, उसी प्रकार उस काल में बाण कितनी दूर फेंका जा सकता है यह प्रतियोगिता का विषय होता था। ललितविस्तर से पता चलता है कि उस समय लोग एक योजन (लगभग १४ किलो मीटर) दो योजन या इससे अधिक दूरी पर स्थित लक्ष्य का भेदन कर डालते थे। स्वयं तथागत बोधिसत्त्व ने तीस किलो मीटर दूर तक बाण को फेंका ही नहीं था, बल्कि उसने प्रतिमा का भेदन केवल भेरी शब्द को सुनकर कर डाला था और मार्ग में स्थित अनेक लक्ष्यों का भी एक साथ भेदन कर डाला था।[4]

बोलने की कला अथवा वाणी के गुण

ललितविस्तर के अनुसार किसी की वाणी के प्रभावशाली होने के लिए

१. ल०वि० (वैद्य), पृ० १०४, पं० ११-२२
२. वही, पृ० १०५, पं० २७-२८ एवं पृ० १०६ पं० १-३
३. वही, पृ० १०५
४. वही, पृ० १०७, पं० १ एवं पं० २५, २६

उसमें निम्नलिखित गुण होने चाहिए—(१) वाणी से कुछ नवीन अज्ञात अर्थ प्रकट होता हो (ज्ञान देने वाली हो), (२) अत्यन्त स्पष्ट हो (३) प्रत्येक वर्ण को सुनने के समय सुखद, मनोहर और स्नेहपूर्ण हो।

प्रेरणाप्रद, सतोषप्रद, प्रेममयी, अकर्कश, अगद्गद, अपरुष, अचपल, श्लक्ष्ण, कर्णसुखद, शरीर और मन को आनन्दित करने वाली, राग-द्वेष, मोह और कलह का नाश करने वाली, कलङ्क रूपी पंक को धोने वाली, चरक पक्षी के स्वर-वाली, चकोर की ध्वनि के समान घोषवती, दुन्दुभि एवं संगीत के समान स्वर-वाली, गंभीर निनाद वाली, देवेन्द्रों और असुरेन्द्रों द्वारा प्रशंसित, अखण्डित, सत्य, स्वच्छ, अर्थवती, ब्रह्म के निनाद के सदृश, समुद्र के गर्जन के समान गम्भीर, प्रतिवादियों के प्रवादों का मथन करने वाली, मेघघोष के समान गम्भीर, सभी दिशाओं में समान रूप से विस्तृत, विनययुक्त, अद्भुत, अवि-लंबित संधि आदि से युक्त, रीति आदि से अलंकृत, समय पर प्रकट होने वाली, धर्म समन्वित, सौम्यवक्ता की प्रतिभा को सूचित करने वाली, संपूर्ण अभिप्राय को प्रकट करने में समर्थ, सुखजनक, मोक्षमार्ग प्रदर्शिनी, सभी सभासदों को संतोष प्रदान करने वाली हो।[1]

(छ) ललितविस्तर में साहित्यिक अध्ययन

साहित्यिक समीक्षा

भाषा विचारों की अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम साधन है और यदि अपने विचारों को भिन्न-भिन्न देश अथवा काल में स्थित लोगों तक पहुँचाना हो तो उस स्थिति में भाषा ही एकमात्र साधन है। भाषा के प्रयोग में उसकी ग्राह्यता को असीम शक्ति प्रदान करने की दृष्टि से उसमें चारुत्व का, आह्लादकता का, चमत्कार का आधान किया जाता है। यह चमत्कार ही काव्यानन्द कहलाता है। काव्य (साहित्य) भाषा के प्रयोग की एक ललितविद्या है, जिसका प्रयोग अनन्त-काल से होता चला आ रहा है वर्तमान में भी उसका प्रयोग हो रहा है, और आशा की जाती है अनन्त काल तक भाषा की इस ललितविद्या का प्रयोग होता रहेगा। विश्व के प्राचीनतम साहित्य (वाङ्मय) वेद को ऐसा काव्य कहा है जो न कभी मरता है और न जराजीर्ण होता है—'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।' काव्य में निबद्ध विचार, उसमें पिरोई हुई कथायें अमर हो जाती हैं। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास आदि कवि इसी कारण अमर हो गये और उनमें पिरोई हुई राम, भरत अथवा पांडवों की कथायें अमर हो गईं।

---

१. ल०वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २०८, पं० २-११

भाषा में अमरत्व प्रदान करने वाला यह गुण कहाँ से आता है अथवा किन उपादान तत्त्वों के कारण कोई काव्यरचना अमर हो जाती है, इस विषय में भारतीय कवियों एवं काव्यशास्त्र के आचार्यों ने पर्याप्त विचार किया है। इससे पूर्व कि ललितविस्तर के काव्यत्व की समीक्षा की जाये, काव्य के उपादान तत्त्वों का अनुसंधान करना अधिक उचित है।

आदि कवि वाल्मीकि के अनुसार काव्य के उपादानतत्त्वों में विचित्रार्थ वाले पदों का होना[1] कथावस्तु का उदार होना, पदों के प्रयोग का मनोरम होना, गेय होने के लिए समाक्षर होना[2] धर्म, अर्थ, काम इन पुरुषार्थों के साधन में अनुकूल, वाणी के अमूल्य रत्नों से युक्त होना और श्रुतिमनोहरता का होना[3] आवश्यक हुआ करता है। महाभारतकार व्यास के अनुसार काव्य के विविध उपादानतत्त्वों में निर्दोषता का अत्यधिक महत्त्व है।[4] महाकवि भारवि के अनुसार उत्कृष्ट अर्थ सम्पत्ति और निर्दोषता काव्य के दो प्रमुख उपादान तत्त्व हैं।[5]

आचार्य भरत के अनुसार वह रचना अधिक लोकप्रिय होती है जिसमें कोमल और मनोहर पदों का प्रयोग किया गया है। गूढ़-शब्द-अर्थ के प्रयोग से रहित हो, प्रसादगुणयुक्त अर्थात् सर्वजनसुबोध, युक्तियुक्त तथा रसमय हो।[6] काव्य के उपादान तत्त्वों की परीक्षापूर्वक अनुसंधान की प्रक्रिया भारतीय आचार्यों में विस्तारपूर्वक चिरकाल तक हुई है। आचार्य मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ तक आते-आते यह प्रक्रिया पर्याप्त पुष्ट और प्रौढ़ हो गयी है उनके

---

१. विचित्रार्थपदं सम्यग्। —वाल्मीकि रामायण १.४.३२

२. उदारवृत्तार्थपदैर्मनोरमैः तदास्य रामस्य चकार कीर्तिमान्।
समक्षरैः श्लोकगतैर्यशस्विनो यशस्करं काव्यमुदारदर्शनः॥
—वही, १.२.४२

३. कामार्थगुणसंयुक्तं धर्मार्थगुणविस्तरम्।
समुद्रमिव रत्नाढ्यं सर्वश्रुतिमनोहरम्॥ —वही, १.३.८

४. सुलभाजनक संवाद, शान्तिपर्व

५. स्तुवन्ति गुर्वीमाभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरेविपश्चितः।
—किरातार्जनीयम् १५.५

६. मृदुललितं पदाढ्यं गूढ़शब्दार्थहीनम्।
जनपदसुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्ययोज्यम्॥
बहुकृतरसमार्गं सन्धिसन्धानयुक्तम्।
स भवति शुभकाव्यं नाटक प्रेक्षकाणाम्॥ —ना०शा० १६.११८

अनुसार शब्दार्थ का साहित्य, दोषों का अभाव, गुणवत्ता, रसमयता और यथावसर अलंकारों की योजना काव्य के मुख्य उपादान तत्त्व हैं।[1]

इस प्रकार अनेक कवियों एवं आचार्यों की मान्यताओं का अवलोकन कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि किसी भी शब्द रचना को काव्य की कसौटी पर कसने के लिए उसमें निम्नलिखित उपादान तत्त्वों का होना आवश्यक है—

१. उत्तम एवं विचित्र अर्थसम्पदा
२. मधुर और ललित पदों का प्रयोग
३. शब्द और अर्थ का साहित्य
४. दोषों का अभाव
५ विविध शब्द और अर्थ गुणों की सम्पत्ति
६. समुचित अलंकारों की योजना
७. रसमयता
८. ध्वनियुक्त होना
९. नायक आदि पात्रों का चित्रण
१०. गेय होना

शब्द और अर्थ सम्बन्धी योजना, जिसे गुण नाम से स्मरण किया जाता है उसके प्रयोग विशेष के आधार पर वृत्तियों अथवा रीतियों की स्थिति बनती है, जिसे वामन ने काव्य की आत्मा स्वीकार किया था[2]। उसको पृथक् उपादान तत्त्व मानने की आवश्यकता मैंने नहीं समझी, क्योंकि रीति का अन्तर्भाव गुणों में ही हो जाता है।

ललितविस्तर के काव्य सौष्ठव की समीक्षा करते हुए, हम इसे ऐतिहासिक काव्य[3] मानकर, इस काव्य के प्रमुख उपादान तत्त्वों का अनुसंधान करेंगे।

कथावस्तु

किसी भी काव्य-रचना के लिए उसके इतिवृत्त का अत्यधिक महत्त्व होता है। महर्षि वाल्मीकि ने 'उदारवृत्तार्थ-पदैः' इस समस्त-पद के द्वारा, श्रीहर्ष ने

---

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।

—मम्मट, काव्यप्रकाश, १.३

२. 'रीतिरात्मा काव्यस्य'। —काव्यालंकारसूत्र, १ २.६

३. 'इतिहास में अर्थात् देव, ऋषि, नृप आदि के चरित्रों में।'

—ल०वि० (शास्त्री), पृ० २९९

'रसैः कथा यस्य सुधावधीरणी' वाक्य द्वारा काव्य के कथानक को अतिशय गौरव प्रदान किया था। अतः महाकवि कालिदास ने इस—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुः दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥ — रघु० १.२

पद्य में रघुवंश की कथा के लोकोत्तर उत्कर्ष का संकेत करके, किसी भी काव्य में उसके इतिवृत्ति का क्या महत्त्व है, इसकी ओर स्पष्ट संकेत किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ के अज्ञातनामा लेखक ने सिद्धार्थ सर्वार्थसिद्ध बुद्ध के उदात्त और ऐतिहासिक कथानक को अलौकिक स्वरूप प्रदान किया है। सिद्धार्थ बुद्ध के इतिवृत्त में अलौकिकता का समावेश कब और किस कवि द्वारा सर्वप्रथम किया गया यह कह सकना अत्यन्त दुष्कर है। प्रस्तुत ग्रन्थ में निबद्ध कथानक में अलौकिकता का अतिशय सन्निवेश है जिसमें असंख्य बोधिसत्त्वों द्वारा तथा शक्र, ब्रह्मा, असुर, महानाग, चन्द्र, सूर्य, कुबेर, कार्तिकेय द्वारा बुद्ध की स्तुति करना, चरणावनत होना आदि का निबन्धन सम्मिलित है इस वर्णन को देखकर यह निर्विवाद रूप से स्वीकार करना चाहिए कि यह कथा कवियों एवं लेखकों के बीच रामकथा के समान प्रचलित रही है। जिसके फलस्वरूप इसे निरन्तर ललित और परिष्कृत किया जाता रहा है और इसीलिए यह कथा (सिद्धार्थ-बुद्ध) त्रिपिटक रूपी गंगोत्री से प्रारम्भ होकर ललितविस्तर तक पहुंचते-पहुंचते पूर्ण लालित्य को ग्रहण कर चुकी थी, उसमें अलौकिकता का समावेश भी संपूर्ण रूप से हो चुका था। इसका मूल कारण तथागत के प्रति समस्त प्रबुद्ध जनों की अपार श्रद्धा और भक्ति थी। इस श्रद्धा और भक्ति का उद्भव हुआ था, उनके परम उदात्त जीवन से, जिसके सम्बन्ध में सभी इतिहासकार और लेखक निर्विवाद रूप से स्वीकार करते हैं कि 'तथागत के मानव-जीवन में उनकी महाकरुणा सभी को प्रभावित करती थी, उनकी महाप्रज्ञा के प्रभाव से शारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन जैसे विद्वान एवं धर्म साधना में लगे ब्राह्मण उनके शिष्य बन गये थे, उनके महावैराग्य ने रागवानों को भी आकृष्ट किया था, समानभाव से उनकी धर्मवर्षा से तृप्त होकर अपनी जात-पात भूलकर उनके शिष्यों ने एक भेदभाव रहित संघ में अपने को संगठित कर डाला था, गृहस्थ भी अपनी जात-पात की भावना को तिलांजलि देने के लिए मनोभूमि प्रस्तुत करने लगे थे। सारे समाज में एक अपूर्व परिवर्तन दिखाइ देने लगा था, और इन सब महान परिवर्तन के पीछे तथागत का विश्वजनीन धर्म तथा उनका लोकोत्तर प्रभाव ही कारण था। उनके इस प्रभाव ने लोगों को मुग्ध कर डाला था। वे उन्हें लोकोत्तर समझने लगे थे। तथागत के प्रति उनके

अनुयायियों की लोकोत्तर भावना ही उनके जन्म तथा उनके कर्म को दिव्य रूप में देखने लगी थी।[1] इसका परिणाम यह हुआ कि इतिहास के साथ कविता संयुक्त हो गयी। मानवों के बीच रहने वाले तथागत देवताओं से घिरे रहने लगे, मनुष्यों के ही नहीं, वे देवताओं के मंगल के कारण बनने लगे। वे स्वयं लोककल्याण की मूर्त्ति ही बन गये, उनका धर्म, उनका उपदेश लोककल्याणकारी बन चुका था। वे सबके शरणदाता बन गये, इतना ही नहीं, उनका धर्म ही नहीं, संघ भी शरणदाता हो गया था।

सिद्धार्थ तथागत के जीवनवृत्त को सामान्यतः निम्नलिखित बारह भागों में विभाजित किया जाता है (१) तुषित भवन में उनका मूल निवास (२) तुषित भवन से मर्त्यलोक में अवतार(३) महामाया देवी के गर्भ में प्रवेश(४) लुम्बिनी में बोधिसत्त्व का जन्म (५) शिल्पकौशल में अद्भुत प्रतिभा का प्रकटहोना और उसके प्रदर्शन के उपरान्त गोपा से विवाह (६) अन्तःपुर विहार, चार निमित्तों के दर्शन (७) महा-अभिनिष्क्रमण (८) तपश्चर्या (९) मार से युद्ध एवं उस पर विजय (१०) बोधि की संप्राप्ति (११) धर्मचक्र-प्रवर्तन एवं (१२) महापरिनिर्वाण ललितविस्तर में महापरिनिर्वाण की घटना नहीं है, धर्म-चक्रप्रवर्तन तक का ही वर्णन है।

संचोदना परिवर्त्त में बोधिसत्त्व के घर में निवास के समय में विविध वाद्यों की ध्वनियों से स्वतः कथाएं निकला करती थीं[2] कहते हुए कवि ने पूर्वजन्म की अनेक कथाओं की ओर संकेत किया है। इन कथाओं में बोधिसत्त्व द्वारा जरा-मरण तथा अन्य दुःखों से जनता को छुड़ाने के प्रण की कथा,[3] पूर्वजन्म में धन एवं विविध रत्नों, हाथ-पैर तथा शरीर को भी दान कर दिया था, उसकी कथा,[4] सैकड़ों जन्मों में क्षान्ति की[5] पराक्रम तथा प्रण करने की[6], व्रतों की,[7]

---

१. ल० वि०, (शास्त्री), प्रस्तावना पृ०, ९-११

२. या नार्यो मुदितमनाः प्रसन्नचित्ता, वेणुभ्यो मधुरमनोरमं रणन्ते।
आवेशाद्दशदिग्गतां जिनोत्तमानां, गाथेमा विविधविचित्रचित्ररूपाः ॥
—वही, श्लोक ३९३

३. मोचिष्ये जरमरणात्तथान्यदुःखाद्, बुद्धित्वा पदमजरं परं अशोकम् ॥
—वही, ३९४ तथा ४२०

४. पूर्वे ते धनरतन विचित्रा, त्यक्ताभूत् करचरणप्रियात्मा ॥ —वही, ३९६

५. वही, पृ० ३९८

६. वही, पृ० ३९९

७. वही, पृ० ४००, ४०६ और ४१८

मैत्री, करुणा आदि के आचरण की,[1] सर्वस्वत्याग तथा नगर, पृथिवी आदि के त्याग के संबंध में, बलि, हरिश्चन्द्र, श्यामक-मृग, शुक्र आदि जातक कथाओं की महर्षि के रूप में, जन्म के समय ब्राह्मणकुमार, शरण में आगत ब्राह्मण की रक्षा आदि से सम्बन्धित अनेक पूर्व जन्म के कथाओं की सृष्टि की है। कथाओं की सृष्टि कवि की रुचि एवं ग्रन्थ के अतुल विस्तार का भय दोनों कवि की कारयित्री प्रतिभा में साथ-साथ स्फुरित हुए हैं। ऐसी स्थिति में उसने एक ही पद्य में अनेक जन्मों की कथाओं को पूर्वजन्म के विविध नामों को गिनाकर ही सन्तोष किया, ऐसे स्थलों पर उसकी विवशता द्रष्टव्य है—

शिविनृपति त्वमिहा शशिकेतो आसि सुदंष्ट्रो
कृप करुणामनसो मणिचूडो चन्द्रप्रदीपः ।
इति प्रमुखा करिया दृढ़सूरो राज सुनेत्रो
बहुनृपतीनयुता रतदाने त्वं स बिकु र्वन् ॥ —ल० वि० ४२२

तव सुगता चरितो बहुकल्पां शीलचरिये
मणिरत्ना विमला सदृच्छाभूच्छीलविशुद्धिः ।
त्वयि चरता चमरी यथ बालं रक्षितु शीलं
कृतु त्वमिहा जगति विपुलार्थ शीलरतेना ॥ —ल० वि० ४२३

कवि का कथानक के प्रति स्नेह इन पद्यों में स्पष्ट हो जाता है।

वर्त्तमान जन्म के विवरणों को कवि ने स्थान-स्थान पर इस रूप में गुम्फित किया है कि वे विवरण स्वयं मूलकथानक रूपी आस्तरणक्षेत्र में जटित मुक्ता-मणि की भांति प्रतीत होते हैं। इस प्रसंग में अभिनिष्क्रमण परिवर्त्त में सुगत (बुद्ध) के पिता राजा शुद्धोदन से संवाद एवं पत्नी गोपा के विलाप प्रसंगों को देख सकते हैं। बोधिसत्त्व सुगत पिता के पास पहुंचते हैं, वे अलौकिक तेज से अभिभूत हो जाते हैं, उठकर स्वागत करना चाहते हैं, तथागत बिना औपचारिकता के अभिनिष्क्रमण की अनुमति मांगते हैं किन्तु पिता अनुमति देने के स्थान पर वर देने की इच्छा प्रगट करते हैं।[2] जिसके उत्तर में तथागत कहते हैं कि ठीक है यदि आप वर देना चाहते हैं और दे सकते हैं तो मुझें ये चार वर दीजिए—

"तद बोधिसत्त्व अवची मधुरप्रलापी
इच्छामि देव चतुरो वर तान् मि देहि ।

१. ल०वि०, (शास्त्री) श्लोक ४०३-४२१
२. वही, श्लोक ५९३-५९६

यदि शक्य से ददितु मह्य वसे ति तत्र
तद् द्रक्ष्यसे सद गृहे न च निष्क्रमिष्ये ।।"
इच्छामि देव जर मह्य न आक्रमेय्या
शुभवर्ण-यौवन स्थितो भवि नित्यकालं ।
आरोग्यप्राप्तु भवि नो च भवेत् व्याधिः
अमितायुषश्च मपि नो च भवेद् विपत्तिः ।।

—ल०वि० ५९७-५९८

राजा शुद्धोदन इन वरों को देने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं और अपनी असमर्थता व्यक्त भी कर देते हैं। इसके अनन्तर बोधिसत्त्व इनके स्थान पर केवल एक वर देने की प्रार्थना करते हैं कि 'मेरा पुनर्जन्म न हो'[1] इस वर को भी देने में असमर्थ होने पर, शुद्धोदन को उनके अभिप्राय का समर्थन करते हुए, कहना ही पड़ा—

अनुमोदनी हितकरा जगतः प्रमोक्षं
अभिप्राय तुभ्य परिपूर्यतु यन्मतं ।।[2]

अभिनिष्क्रमण की वेला में घटी घटनाओं की छन्दक द्वारा शुद्धोदन को दी गयी जानकारी भी इसी प्रकार के कथा-रत्नों में परिगणन करने योग्य है, जब वह कहता है कि महाराज जब रात्रि में नगर में सभी बाल-वृद्ध सो रहे थे, बोधिसत्त्व मेरे पास आए और बोले, हे छन्दक, मुझे शीघ्र एक घोड़ा दो, उस समय मैंने वहाँ स्थित पुरुषों को, स्त्रियों को बहुत जगाने का प्रयत्न किया, किन्तु किसी ने मेरी बात नहीं सुनी। फिर विवश होकर रोते हुए उन्हें एक घोड़ा लाकर दिया और कहा कि लो और जहाँ चाहते हो जाओ। उस समय इन्द्र ने सभी यन्त्रमुद्रित द्वारों को खोला, चारों लोकपाल अश्व के चारों चरणों में चिपक गये और वे घोड़े पर सवार हो गये। उस समय त्रिसाहस्र लोकधातु डगमगा उठे, आकाश का संपूर्ण अंधकार विलीन हो गया, संपूर्ण मार्ग पर अप्सराओं द्वारा पुष्पवृष्टि और मंगलवाद्य-ध्वनि की जाने लगी।[3]

---

१. वही 'अस्माच्युतस्य प्रतिसन्धि न मे भवेय' श्लोक ६००

२. ल०वि०, श्लोक ६०१

३. शक्रेण द्वारा विवरित यन्त्रयुक्ताः, पालाश्चतस्रो हयचरणे शिलिष्टाः ।
आरुढि शूरे प्रचलित त्रिसहस्राः, मार्गोनमेस्मिन् सुविपुल येन क्रान्तो ।।
आभा प्रमुक्ता विहततमोऽन्धकारा, पुष्पा पतिसु तुरियशता रणिसु ।
देवा स्तविसु तथपि हि चाप्सराणी, नभसा प्रयातो परिवृतु देवसंघैः ।।
—ल०वि०, श्लोक ७०६-७०७

उपर्युक्त प्रकार के परम मनोहर कथारत्न इस ललित-काव्य में स्थान-स्थान पर पिरोये हुए हैं। उन सभी के अथवा अधिकाधिक के उपस्थापन के मोह को छोड़कर, विस्तार से मैं इतना ही कहना चाहूँगी कि इस ललितविस्तर काव्य में, मूलकथा के लालित्य के साथ ही पताका और प्रकरी रूप में जिन अनेक उपकथाओं की सृष्टि अथवा संकेत प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रगट हुए हैं वे सभी मणिदीप की भाँति इस ललित-काव्य को और अधिक मनोरत तथा हृदयावर्जक बना रही हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ ललितविस्तर में सम्पूर्ण कथानक को नक्षत्रमाला एकावली का स्वरूप प्रदान करने की दृष्टि से सत्ताईस खण्डों में विभाजित कर लिया गया है और प्रत्येक खण्ड, जिसे इस ग्रन्थ में परिवर्त्त कहा गया है, उनमें एक-एक अंश का अत्यन्त ललितभाषा में वर्णन किया गया है। वे वर्णित कथांश निम्नलिखित सत्ताईस शीर्षकों में विभाजित हैं—(१) निदान (२) समुत्साह (३) कुलशुद्धि (४) धर्मालोकमुख (५) प्रचल (६) गर्भावक्रान्ति (७) जन्म (८) देवकुलउपनयन (९) आभरण (१०) लिपिशालासंदर्शन (११) कृषिग्राम (१२) शिल्पसंदर्शन (१३) संचोदना (१४) स्वप्न (१५) अभिनिष्क्रमण (१६) बिम्बसार-उपसंक्रमण (१७) दुष्करचर्या (१८) नैरञ्जना (१९) बोधिमण्डगमन (२०) बोधिमण्डव्यूह (२१) मार-धर्षण (२२) अभिसंबोधन (२३) संस्तव (२४) त्रपुष-भल्लिक (२५) अध्येषणा (२६) धर्म-चक्रप्रवर्तन (२७) निगम।

उपर्युक्त सत्ताईस खण्डों में विभाजित तथागत के कथानक के अतिरिक्त कुछ अन्य कथानक भी पताका और प्रकरी की भाँति इसमें यथास्थान गुम्फित हैं। उदाहरणार्थ चौबीसवें परिवर्त्त में ग्रथित त्रपुष-भल्लिक की कथा को देख सकते हैं। ये दोनों भाई चतुरवणिक् सार्थवाह थे, जिनके पास सुजात और कीर्तिमान नामक अलौकिक बोध और शक्ति से संपन्न दो बैल थे। इनके अलौकिक बोध एवं शक्ति से संकेत पाकर दोनों भाई तथागत के निकट पहुँचते हैं और उनकी पूजा करते हैं। इसी प्रसंग में स्मरण रूप से ग्रन्थकार ने पहले के अर्हन्त, सम्यक् सम्बुद्ध तथागतों की घटनाओं को प्रस्तुत किया है।[1] साथ ही इसी प्रसंग में त्रपुष और भल्लिक की पूर्वजन्म की कथाओं को भी संकेतित किया है।[2]

---

१. ल०वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २७६-२७७, श्लोक (शास्त्री), १३२२-१३२७

२. वही, पृ० २८०-२८१

तात्पर्य यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में तथागत के चरमदेह परिवर्त्त की अर्थात् वर्त्तमान जन्म की अलौकिक कथाओं का वर्णन करते हुए, कवि ने प्रसङ्गतः अन्य अनेक प्रासंगिक कथाओं का भी निबन्धन किया है जिनमें कुछ कथाएँ पूर्वजन्म की हैं, जो केवल स्मरण रूप में यहाँ गुम्फित हैं।

धनञ्जय ने प्रकार या प्रकृति की दृष्टि से कथावस्तु तीन प्रकार की मानी है—प्रख्यात, उत्पाद्य, मिश्र[1]। यहाँ प्रख्यात का अर्थ ऐतिहासिक वस्तु से है। दशरूपक की वृत्ति में धनिक ने प्रख्यात के लिये 'इतिहासादेः' लिखा है। उत्पाद्य कविकल्पित और मिश्र उभयविध इतिहास और कविकल्पित अंश से निर्मित होती है। भरत, धनंजय, धनिक, आनन्दवर्धन आदि के अनुसार दृश्य और श्रव्य काव्य का उद्देश्य 'रसप्राप्ति' है न कि व्युत्पत्ति। व्युत्पत्ति तो इतिहास आदि से ही संभव है। अतः रससिद्ध कवि रसप्राप्ति तथा नायक के चरित्र के प्रभाव की दृष्टि से जो विरुद्ध है उसका परित्याग कर देता है, और हमेशा ध्यान रखता है कि वस्तु, अलंकार आदि के द्वारा न तो रस से कथावस्तु अति-दूर हो और न रस का तिरोभाव हो।[2] आनन्दवर्धन के अनुसार प्रख्यात वस्तु-विषय और प्रख्यात उदात्त नायक के ख्यातवृत्त के प्रयोग से—नायक के औचित्य-अनौचित्य के विषय में लेखक भ्रम में नहीं पड़ता है। यदि कल्पित कथा के आधार पर नाटक, महाकाव्य, चम्पूकाव्य आदि का निर्माण किया जाये तो अप्रसिद्ध और अनुचित नायक आदि के स्वभाव के वर्णन में भूल होने की संभावना रहती है।[3] औचित्य युक्त ऐतिहासिक या कल्पित कथा-शरीर का ग्रहण अभिव्यंजक होता है। इसके प्रतिपादन का तात्पर्य यही है कि इति-हासादि में रसवती विविध कथाओं के होने पर भी विभावादि के औचित्य से युक्त कथावस्तु यदि उनमें हो तो उसे ही ग्रहण करना चाहिए, अन्य को नहीं और ऐतिहासिक कथावस्तु से अधिक कल्पित कथावस्तु में सावधान रहने का प्रयत्न होता है क्योंकि कल्पित वस्तु में असावधानी से भूल कर जाने पर कवि की, अव्युत्पत्ति की बहुत अधिक संभावना रहती है।[4]

---

१. दशरूपक १।१५

२. वही, ३।३२-३३

३. अतएव च भरते प्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्तव्यतयोपन्यस्तम्। तेन हि नायकौचित्यानौचित्यविषये कविर्न व्यामुह्यति। यस्तूत्पाद्यवस्तु नाटकादि कुर्यात् तस्याप्रसिद्धानुचितनायकस्वभाववर्णने महान् प्रमादः। —ध्वन्यालोक ३. पृ० ३०२, ३०३

४. वही, ३-६६ पृ० २९६-३०२

कवि तथा कलाकार को कल्पना-प्रयोग की पूर्ण स्वतंत्रता है—'ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल स्थिति (कथांशादि के प्रसंग) को छोड़कर, मध्य में अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करके भी कथा का संस्करण एवं परिष्करण करना आवश्यक है।'[1] कवि का प्रमुख उद्देश्य है रस-निर्भर कलाकृति का निर्माण करना—'काव्य का निर्माण करते समय कवि को पूर्णरूप से रसपरतंत्र ही होना चाहिए। इसलिए यदि इतिहास में इसके विपरीत भी स्थिति दीख पड़े तो उसे तोड़कर स्वतंत्र रूप से, रस के अनुरूप किसी अन्य प्रकार की कथा निबद्ध कर लेनी चाहिए। क्योंकि इतिवृत्तमात्र के निर्वाह से कवि का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, वह तो केवल इतिहास से भी सिद्ध हो सकता है।'[2] अतः महाकाव्य, चम्पूकाव्य आदि रसप्रधान तथा इतिवृत्त प्रधान आदि प्रकार के देखे जाते हैं, उनमें रस प्रधान ही श्रेष्ठ है। रस प्रधान महाकाव्य आदि में जो कवि रस के औचित्य का निर्वाह नहीं करता वह कामचार अर्थात् मनमानी करने वाला है।[3] अतः मुख्य रूप से अनौचित्य ही रसभंग का प्रधान कारण है। अनुचित वस्तु का सन्निवेश करने पर ही रस-संश्लिष्ट रचना नहीं होती है। अतः रसोन्मेष का मुख्य रहस्य है औचित्य के द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्धन।[4] क्षेमेन्द्र ने औचित्य-विचारचर्चा में औचित्य को ही रस का जीवितभूत स्वीकार किया है।

ललितविस्तर की आधिकारिक कथावस्तु ऐतिहासिक है कुछ प्रासंगिक कविकल्पित कथायें भी बीच-बीच में उपनिबद्ध हैं। काव्यशास्त्रियों ने पात्रों का वर्गीकरण दिव्य, अदिव्य, मानवीय और अमानवीय कई रूपों में किया है। पात्र कथावस्तु में सजीवता और प्रवाह पैदा करते हैं उनकी, प्रकृति, आचार-व्यवहार, आहार, उनके परस्पर संवाद, उनकी अभिव्यक्तियाँ, उनके व्यक्तित्व

---

१. इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट-रसोचित-कथोन्नयः॥ —ध्वन्यालोक ३.६७

२. कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतंत्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते, यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत् तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतंत्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्। नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किंचित् प्रयोजनम्। इतिहासादेव तत्सिद्धेः। —वही, ३. पृ० ३११-३१२

३ तत्र यदा कविरपगत—रसभावो वक्ता तदा रचनायाः कामचारः। यदा हि कविनिबद्धो—इत्यादि। —वही, ३ पृ० ३०८-३०६

४. अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥ —वही, ३, पृ० ३०२

की विशिष्ट भंगिमायें, उनकी भाषा फलागम की ओर उन्मुख करती हैं। चम्पू-काव्य में महाकाव्य की प्रायः सभी विशेषतायें पाई जाती हैं अतः काव्यत्व की दृष्टि से ललितविस्तर सफल काव्य है। इसका अंगी रस शान्त है।

पात्र-परिचय

कथावस्तु और चरित्र दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। पात्र समाज के प्रतिनिधि होते हैं। कवि या साहित्यकार द्वारा पात्रों का चरित्र-चित्रण उस समय की दार्शनिक और सांस्कृतिक अवस्था का प्रतीक तथा प्राण होता है। पात्रों के माध्यम से कवि भावी घटनाओं की सूचना देता है और कथावस्तु के प्रवाह को उनकी उक्ति प्रत्युक्ति द्वारा गतिशील बनाता है।

ललितविस्तरकार ने इस काव्य में पात्रों का जाल सा बुन दिया है, भीड़ सी इकट्ठी कर दी है। मैंने विस्तारभय से कुछ प्रमुख पात्रों का ही चित्रण किया है।

भरत ने नाट्यशास्त्र में प्रकृति (स्वभाव) के आधार पर उत्तम, मध्यम और अधम भेद किये हैं। भरत द्वारा अनुमोदित वर्गीकरण में पुरुषपात्र, स्त्री-पात्र, मानव, देव, यक्ष, गंधर्व, किन्नर, नाग, दास, पशु, पक्षी, वनस्पतियाँ, ऋतुओं का मानवीकृतरूप (मानवीकरण), प्राकृतिक वस्तुओं और शक्तियों का मानवीकरण आदि अनेकों प्रकार के पात्र समाविष्ट हैं। नायकों के धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित, धीरप्रशान्त आदि भेद किये हैं।

इसी प्रकार नायिकाओं (स्त्रियों) के भी प्रकृति (स्वभाव), सामाजिक व्यवहार, युवावस्था, गुणों के आधार पर अनेकों भेद किये हैं। वनदेवता, अप्सराओं, सखियों, धात्री, चेटियों, दासियों, परिचारिकाओं, वृद्धाओं, राक्षसी, देवी, युवतियों, ग्रामकुमारिकाओं आदि तथा, कन्या, भगिनी, माता, पत्नी, भार्या, जाया, प्रेयसी, गृहिणी, प्रियशिष्या आदि अनेकों रूप हमें वैदिकसाहित्य, बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, मिश्रित संस्कृत (Hybrig Sanskrit) आदि के साहित्य और विविध कलाओं तथा मूर्तियों में प्राप्त होते हैं। भरत ने जातिगतशील के आधार पर स्त्री के कई रूप प्रस्तुत किये हैं, जैसे देवशीला, असुरशीला, गन्धर्वशीला, राक्षसशीला, नागशीला, पिशाचशीला, यक्षशीला, व्यालशीला, मनुष्यशीला, वानरशीला, हस्तिशीला, मृगशीला, मत्स्यशीला, अजशीला, श्वानशीला, गोशीला आदि।

अनेकों प्रकार के सामूहिक पात्रों की दृश्य काव्य और श्रव्यकाव्यों में उपस्थिति—

ललितविस्तर चम्पूकाव्य में आने वाले पात्रों को दो वर्गों में रखा हैं मैंने (१) मानवीय और (२) अमानवीय। मानवीय और अमानवीय पात्रों में ऐतिहासिक और कविकल्पित दोनों प्रकार के चरित्र हैं।

इस महाकाव्य में मानवीय पात्रों में इसके नायक ऐतिहासिक महापुरुष सर्वार्थसिद्ध बुद्ध हैं उनके पिता शुद्धोदन, पितामह सिंहहनु। बिम्बसार, अजातशत्रु, सम्राट् अशोक, असित ऋषि, विश्वामित्र, उदायी, वासव, प्रद्योत, वत्सराज, प्रसेनजित, सुमित्र, सुबाहु, पांच पांडव, चरक परिव्राजक, वृद्ध श्रावक गौतम, निर्ग्रन्थ और आजीवक, आजीवक उपग आदि ये सभी व्यक्ति पालि साहित्य और बौद्ध-साहित्य में प्रख्यात-पात्र हैं। स्त्रीपात्रों में माया देवी, गोपा (यशोधरा), महाप्रजापती गौतमी और सुजाता प्रख्यात पात्र हैं।

शारिपुत्र, महाकाश्यप, आनन्द, कौण्डिन्य, बाष्प, भद्रिक, महानाम, अश्वजित आदि बुद्ध के शिष्य रूप में ललितविस्तर में निबद्ध हैं।

छन्दक दासवर्ग का प्रतिनिधित्व करता है और अश्वराज कंथक पशुवर्ग का प्रतिनिधि है। सिद्धार्थ को दोनों से बहुत प्रेम है।

ललितविस्तर में ग्रन्थकार ने अनेकों पात्र सामूहिक रूप में दर्शाये हैं। जैसे ललितविस्तर के निदान परिवर्त्त में श्रावस्ती में एकत्रित हुए बारह हजार भिक्षु संघ (श्रावक संघ) और बत्तीस हजार बोधिसत्त्वों की सूची दी गई है जिनके नाम हैं—(१) ज्ञानकौण्डिन्य, (२) अश्वजित (३) बाष्प (४) महानाम (५) भद्रिक (६) यशोदेव (यश) (७) विमल (८) सुबाहु (९) पूर्ण (१०) गवापति (११) उरुवेल काश्यप (१२) नदी काश्यप (१३) गया काश्यप (१४) शारिपुत्र (१५) महामौद्गल्यायन (१६) महाकाश्यप (१७) कफिल (१८) कौण्डिन्य (१९) चुनन्द (२०) पूर्णमैत्रायणीपुत्र (२१) महाकात्यायन (२२) अनिरुद्ध (२३) नन्दिक (२४) कस्फिल (२५) सुभूति (२६) रेवत (२७) खदिर वणिक् (२८) अमोघराज (२९) महापारणिक (३०) वक्कुल (३१) नन्द (३२) राहुल (३३) स्वागत (३४) आनन्द आदि।

इसी प्रकार प्रमुख बोधिसत्त्वों की सूची दी है।

सामूहिक पात्रों में ३२ धात्रियाँ हैं। आठ धात्रियाँ सिद्धार्थ के शरीर की सेवा करती थीं, आठ दूध पिलाती थीं, आठ मलमूत्र साफ करती थीं और आठ मनोरंजन के लिए उसे खिलाती थीं। पञ्च ऋषि आकाशपथ से कृषिग्राम में जाते हैं। दस ग्रामदारिकायें जो उरुवेला ग्राम में बोधिसत्त्व की सेवा करती थीं। बोधिवृक्ष की अधिष्ठात्री देवता ओजोबला, तपा आदि। बोधिमंडप की

रक्षा करनेवाले १६ देवपुत्र आदि। चार बोधिवृक्ष देवता (पुरुष) जो उसकी रक्षा करते थे। स्तुति गान करने वाली अप्सरायें। अनेकों प्रकार के सामूहिक पात्र इस काव्य में अपनी भूमिका दिखाते हैं। प्रायः प्रत्येक परिवर्त्त में पाँच सौ शाक्यगण शुद्धोदन का सत्कार-सम्मान करते हुए दिखाये गये हैं।

इसी प्रकार बोधिसत्त्व सिद्धार्थ को बोधिवृक्ष के नीचे समाधिस्थ देखकर मार, मार के पुत्र, चतुरङ्गिणी सेना आदि ने उसे विचलित करने का प्रयत्न किया, उस समय बोधिसत्त्व का उनके साथ संवाद होता है इस संवाद से वाक्-चातुर्य और संघर्ष का पता चलता है। मार की पुत्रियों ने साधन-संपन्न सुन्दरी स्त्रियों के रूप में तरह-तरह की माया दिखाकर बोधिसत्त्व को प्रभावित करने का प्रयत्न किया और अंतराय उपस्थित किये परन्तु वे बुद्ध को दृढ़ निश्चय से डिगा न सकीं। आदि

इसी प्रकार स्वस्तिक, नरदत्त, आरण्डकालाप, रुद्रक रामपुत्र, देवदत्त, दण्ड-पाणि, त्रपुष-भल्लिक, सुदर्शन नागराज, पंच भद्रवर्गीय शिष्य, १६ प्रकार के शुद्धावासकायिक देवपुत्र, चारों दिशाओं के अधिष्ठाता देवता, देवपुत्र, देवियाँ आदि ऐतिहासिक, काल्पनिक, पौराणिक पात्र कथावस्तु को मनोरंजक बना देते हैं। पाठक को ये काल्पनिक और पौराणिक पात्र कल्पनालोक में, देवताओं की दुनियाँ में कुछ समय के लिए मंत्रमुग्ध सा कर देते हैं। स्थान स्थान पर त्रयस्त्रिंश (३३) देवता सर्वार्थसिद्ध बोधिसत्त्व की संबोधि प्राप्ति में सहायक होते हैं और प्रेरणा देते हैं।

पात्रों के चरित्र से, उनके वाक्पाटव, वाक्कौशल से उस समय कपिलवस्तु, मगध आदि की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक स्थिति कैसी थी, इस बात का परिचय प्राप्त होता। पात्रों के कथोपकथन बौद्ध-कालीन संस्कृति के सूचक हैं।

सर्वार्थसिद्ध (सिद्धार्थ)—गौतम बुद्ध सिद्धार्थ ऐतिहासिक महापुरुष हैं। वे शाक्यकुल के राजा शुद्धोदन के पुत्र हैं, इनका जन्म देवदह और कपिलवस्तु के मध्य में स्थित लुम्बिनीवन में हुआ।[1] इनका जन्म होते ही, इनके पिता शुद्धोदन

---

1. 'There were many small non-monarchical states ruled by autonomous or semi independent clans in addition to those mentioned above, the chief of these was the Śākya state of Kapilavastu. It naturally derives great importance from the fact that Gautama Buddha was a Śākya by birth...

के सभी अर्थ, सभी प्रयोजन सिद्ध हो गये, इसलिए इनके पिता ने इनका नाम सर्वार्थसिद्ध रख दिया।[1] अमरकोश में बुद्ध के १८ नाम हैं उनमें एक सर्वार्थसिद्ध भी है।[2] इनके जन्म के सात दिन बाद इनकी माता माया देवी कालकवलित हो गई। इनका पालन-पोषण इनकी मातृष्वसा प्रजा ने किया। सर्वार्थसिद्ध-सिद्धार्थ इस

The Śākyas claimed to belong to the solar race and Ikshvāku family, and regarded themselves as people of korala, and that is why the great king Prasenjita took pride in describing himself as a fellow-citizen of Gautama Buddha. The Śākya state was bounded on the north by the Himālayas, on the east by the river Rohiṇī and on the west and South by the Rāpti. Ten capital Kapilavastu is most probably represented by the ruins at Tilaurā koṭa, in Nepāla Terai about 10 miles North-West of Piprahma itself, where a vase containing the relics of Buddha has been found. The Śakyas possessed a number of towns besides the capital, and nine of them are specifically mentioned in the Buddhist texts, the Śākyas are said to have comprised 80,000 families which probably means half a million people.' Majumdar, R.C. The History and culture of The Indian People. The Age of Imperial Unity, Vol. II, Bhartiya Vidya Bhawan, Bombay, 1960, p. 16.

१. किमहं कुमारस्य नामधेयं करिष्यामीति। ततोऽस्यैतदभूत्—अस्य हि जातमात्रेण मम सर्वार्थाः संसिद्धाः। यन्नवहमस्य सर्वार्थसिद्ध इति नाम कुर्यामा ततो राजा बोधिसत्त्वं महता सत्कारेण सत्कृत्य सर्वार्थसिद्धोऽयं कुमारो नाम्नां भवतु इति नामास्याकार्षीत्।

—ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ६६ पं० १४-१६

२. सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः।
समन्तभद्रो भगवान् मारजिल्लोकजिज्जिनः॥
षड्भिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः।
मुनीन्द्रः श्रीघनः शास्ता मुनिः शाक्यमुनिस्तु यः॥
स शाक्यसिंहः सर्वार्थसिद्धः शोद्धोदनिश्च सः।
गौतमश्चार्कबन्धुश्च मायादेवीसुतश्च सः॥
सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन् केवली तीर्थकृज्जिनः।

—अमरसिंह, अमरकोश, प्रथमकाण्ड, स्वर्गवर्ग श्लोक १३-१६

महाकाव्य के नायक हैं। नायकोचित सभी गुण इनमें विद्यमान हैं ये उच्चकुलोत्पन्न, क्षत्रिय, क्षमायुक्त, गम्भीरस्वभाव वाले, महासत्त्व, स्थिरप्रकृति, विनय से युक्त, त्यागी, दृढ़व्रत, लोकप्रिय एवं महापुरुष हैं।[1] ललितविस्तर के प्रत्येक परिवर्त्त में इनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का ब्यौरा है, इनमें सभी मानवोचित गुण हैं। इनके जीवन की कथा का उपजीव्य या स्रोत त्रिपिटक-पालि-साहित्य है। लेखक ने पदे-पदे इनके जीवन-चरित के साथ चमत्कारों को जोड़ दिया है, पग-पग पर त्रयस्त्रिंशलोक के देवता इनके जीवन की प्रत्येक घटना में अभिरुचि दिखाते हैं, प्रेरणा देते हैं और सक्रिय भाग लेते हैं।[2]

सिद्धार्थ शारीरिक सौन्दर्य में अनुपम हैं इनका शरीर ३२ लक्षणों और ८० अनुव्यंजनों से अलंकृत है ऐसे लक्षण किसी चक्रवर्ती राजा या धर्म-चक्रप्रवर्त्तक युगपुरुष में ही संभव हैं।

जब इन्हें देवकुल (प्रतिमागृह-मंदिर) में ले जाया जाता है सभी देवप्रतिमायें सजीव रूप में इनके चरणों में गिरकर इन्हें नमस्कार करती हैं। इनके शारीरिक सौन्दर्य और तेज के सामने बहुमूल्य आभरण फीके पड़ जाते हैं।[3] लिपिशाला (शिक्षालय) में जाने पर पता चला कि इन्हें ६४ लिपियों का ज्ञान था, जिनको इनके आचार्य विश्वामित्र भी नहीं जानते थे। जिस लिपिशाला (शिक्षणसंस्था) में सिद्धार्थ को शिक्षा के लिए ले जाया गया, वहाँ इनके वर्णोच्चारण करते ही सारे दार्शनिक और शास्त्रीय सिद्धांत प्रकट हो गए। इस सारे वर्णन में अतिशयोक्ति और चमत्कार है। वहां पर सहशिक्षा थी, बालक और बालिकायें दोनों एक साथ अध्ययन करते थे।[4]

पिता को बिना बताये ही सिद्धार्थ कृषिग्राम में जाकर जम्बूवृक्ष के नीचे समाधिस्थ होकर ध्यान में मग्न हो गए। यहाँ ऋषियों ने इनके विषय में सोचा 'ये संसार को सरोवर के समान शीतलता और उर्वरता प्रदान करेंगे। प्रदीप के

---

१. अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढ़मानो धीरोदात्तः दृढ़व्रतः कथितः॥ —सा०द० ३,३२

२. एवंरूपेण खलु पुन ऋद्धिप्रातिहार्येण समन्वागतो बोधिसत्त्वो मातुःकुक्षिगतोऽस्थात्। स परिपूर्णानां दशानां मासानामत्ययेन मातुर्दक्षिणपार्श्वान्निष्क्रमति स्म स्मृतः संप्रजानन्ननुलिप्तो गर्भमलैर्यथा नान्यः कश्चिदुच्यतेऽन्येषां गर्भमल इति। —ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ६१, पं० २०-२२

३. वही, (शास्त्री), श्लोक २९३-२९५

४. वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ८९, पं० २६-२७

समान प्रकाश देंगे। नौका के समान लोगों को शोक-समुद्र से पार उतारेंगे, क्लेश के बंधन में बँधे लोगों को मुक्त करेंगे और कुशल वैद्य की तरह जरा-व्याधि आदि से पीड़ित व्यक्तियों को जन्म और मृत्यु के बंधन से मुक्त करेंगे। इनके पिता शुद्धोदन ने अपने पुत्र के चरणों की वंदना की। यहाँ ग्रामीण जीवन का बहुत स्वाभाविक वर्णन है, प्राकृतिक सुषमा आह्लादजनक है। ग्रीष्म और वसंत ऋतु की संधिवेला में मौसम बहुत अच्छा होता है वनस्पतियाँ, औषधियाँ, पेड़, पौधे फूल उठते हैं, खिल उठते हैं, फलों से लद जाते हैं, विविध प्रकार के पक्षी चहचहाते हैं, ऐसे मनोरम वातावरण में मध्यान्ह काल होने पर कुमार ने सोचा कृषि कर्म बहुत कठिन है। जब ये समाधिस्थ थे, पाँच ऋषियों ने इनकी वंदना की।[1] शुद्धोदन और मौसी प्रजापति ने चारों ओर धूम मचा दी कि कुमार हमें बताये बिना कहाँ चले गये, उन्हें खोजा जाये। शुद्धोदन कुमार सिद्धार्थ को खोजते हुए जब कृषिग्राम पहुँचे तो सिद्धार्थ ने खेती को मत करो, यह कहा।[2] हो सकता है शुद्धोदन ने कुमार की सीताध्यक्ष के रूप में नियुक्ति कर दी हो। किसी भी महापुरुष ने 'कृषि' का निषेध तथा निन्दा नहीं की है, इसलिए यह श्लोक प्रक्षेप (Interprolation) प्रतीत होते हैं। ग्रामीण समाज और व्यक्तियों में अभाव और गरीबी देखकर कुमार ने कहा कि 'हे राजन्! मैं स्वर्ण वस्त्र धन-धान्य आदि सभी वस्तुओं की वर्षा कर सकता हूँ।[3] प्रजाजनों को किसी वस्तु की कमी नहीं होनी चाहिए। भारतीय ग्रामों में अभाव और निर्धनता तो होती ही है। अतः निर्धनता और अभाव को दूर करने का निदेश कुमार ने अपने पिता और परिषद को देकर स्वयं कपिलवस्तु नगर में जाकर रहने लगे।

सिद्धार्थ में मानवीय गुण हैं। अशोकभाण्ड वितरित करते समय उनका अनुराग दण्डपाणि की पुत्री गोपा (यशोधरा) से हो जाता है। प्रथमतः शाक्य-कन्या का अनुराग दिखाया गया है फिर बोधिसत्त्व का नेत्रानुराग दिखाकर दोनों के प्रेमालाप का वर्णन है। इस प्रसंग में बोधिसत्त्व गोपा को अपनी अंगूठी देते हैं और गोपा भी उन्हें अपने अलंकार देती है।[4] सिद्धार्थ सभी शिल्पों में पारंगत सिद्ध होते हैं। उन्हें सभी व्यवसायों, उद्योगों, व्यापार-वाणिज्य का ज्ञान है। वे सभी प्रकार की प्रतियोगिताओं में सफल होते हैं, उनका विवाह गोपा

---

१. ल० वि०, (शास्त्री), श्लोक ३२६-३३०

२. वही, श्लोक ३२४, ३३६

३. वही, श्लोक ३३७

४. वही, (वैद्य) गद्यभाग, पृ० ९९-१००

(यशोधरा) से कर दिया जाता है। उनके पिता और प्रजाजन इस विवाह से प्रसन्न हैं।

सिद्धार्थ का मन राजसीय-भोग और प्रभुत्व, कामभोगों तथा गीत-वाद्य आदि में आसक्त नहीं होता है। उनके पिता शुद्धोदन ने उनके सांसारिक विषयों में लिप्त रहने के लिए ग्रैष्मिक, वार्षिक, हैमन्तिक महल बनवाये। परन्तु उद्यान-भूमि में घूमने की इच्छा से वे सारथि छन्दक को लेकर चले गये, वहाँ उन्होंने वृद्ध, रोगी, मृतक, और प्रव्रजित व्यक्ति को देखकर सांसारिक कामभोगों और सुखोपभोगों की निन्दा करते हुए, अनेक प्रश्न छन्दक से किये। उन्होंने कामगुणों के प्रति वैराग्य प्रकट किया, भिक्षुजीवन और प्रव्रज्या में अभिरुचि दिखाई। शुद्धोदन और प्रजापति ने सिद्धार्थ पर तरह तरह के भौतिक प्रतिबंध[१] और मनोरंजन प्रतिबन्ध[२] लगा दिये। जब सिद्धार्थ ने गृहत्याग करना चाहा तो प्रकृति में उदासी छा गयी।[३]

गोपा के स्वप्न को, सिद्धार्थ ने लोकहित की भावना से 'बहुजन हिताय बहुजनसुखाय' का संकल्प करके शुभ समझा और स्वयं ही उसे स्वप्नों का फल बताया और कहा कि 'सभी देवता, नाग, राक्षस, भूतगण तुम्हारी पूजा करेंगे'।[४] बोधिसत्त्व ने स्वयं भी स्वप्न देखे, उन्हें मंगलकारी समझा।[५]

वे अपने संकल्प के अनुसार रात्रि में छन्दक सारथि के साथ, कन्थक अश्व पर सवार होकर, अनोमा नदी पर पहुँच जाते हैं। वे स्वयं ही अपने केश काटकर काषायवस्त्र धारण कर लेते हैं और नैरञ्जना नदी के रम्य तीर पर षड्वर्षीय तप करते हैं। छन्दक सिद्धार्थ के राजकीय आभूषण, काशी के वस्त्र लेकर कन्थक के साथ कपिलवस्तु चला जाता है। सारा कपिलवस्तु शहर और राजमहल शोक की अग्नि से संतप्त हो उठता है। गौतमी प्रजापती शाक्यकुल और शुद्धोदन के वंश की रक्षा के लिये चिन्तित हैं—

एतस्य निर्गतस्या राजकुलं सर्विमं निरभिरम्यम्।
उच्छिन्नश्च भवेया पार्थिववंशश्चिरनुबद्धः॥[६]

---

१. ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १३९, श्लोक ५६०, ५६१

२. वही, (शास्त्री) श्लोक ५६२

३. वही, श्लोक ५६३-५६५

४. वही, श्लोक ५७२-५८३

५. वही, श्लोक ५८४-५९१,; ६०२-६११

६. वही, श्लोक ६११

ललितविस्तर में कहीं पर भी कवि ने सिद्धार्थ और गोपा के पुत्र राहुल के जन्म की चर्चा नहीं की है जबकि पालि-साहित्य, बुद्धचरित, सिद्धार्थ चरितम्-नाटक यशोधरा (हिन्दी चम्पूकाव्य) आदि में राहुल के जन्म, विकाश और बुद्ध के संबोधि-प्राप्ति के बाद पुत्र राहुल के साथ संवाद और उनके पुत्र के प्रव्रज्या तथा संन्यास ग्रहण की घटना का उल्लेख है।

राजगृह में सिद्धार्थ की भेंट राजा बिम्बिसार से होती है वे उसे अपना आधा राज्य अर्पित कर मगध का शासक बनाने की इच्छा प्रकट करते हैं। सिद्धार्थ में कवि ने उनके युवराज होने पर भी युवराजोचित गुणों का अभाव दिखाया है। उनकी राज्यकार्य में अभिरुचि नहीं है वे अपने पिता का पैतृक राज्य त्याग देते हैं और बिम्बिसार द्वारा समर्पित मागध का राज्य भी अस्वीकार करते हुए सम्बोधि-प्राप्ति में अभिरुचि दिखाते हैं।[1] आराद्रकालाप, रुद्रक रामपुत्र का धर्म उन्हें रुचता नहीं है। पंचभद्रवर्गीय शिष्य (कौण्डिन्य, अश्वजित्, वाष्प, महानाम, भद्रिक) उन्हें छोड़ देते हैं। वे षड्वर्षीय तप में आस्फानक ध्यान करते हैं। सम्बोधि प्राप्ति के लिए योगी की तरह साधना करते हैं। मार अपनी तृष्णा आदि ८ प्रकार की सेना द्वारा उन पर आक्रमण करता है, वे मार को जीत लेते हैं। नैरञ्जना नदी पर जब सिद्धार्थ तप करते हुए अत्यन्त क्षीण हो जाते हैं तो वहाँ १० ग्राम कुमारियाँ उनकी सेवा करती हैं। पाँचों भद्रवर्गीय शिष्य भी तिल, तण्डुल, बेर का भोजन देकर उनकी परिचर्या करते हैं। सुजाता प्रतिदिन ८०० ब्राह्मणों को भोजन खिलाती है और मनौती मनाती है कि बोधिसत्त्व सिद्धार्थ सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त करें। सुजाता ने बोधिसत्त्व को मधुपायस अर्पित की, जिसे खाकर सिद्धार्थ को शारीरिक शक्ति प्राप्त हुई और उन्होंने बोधिमण्डप की ओर, बोधिवृक्ष के नीचे आसन जमाया। वहाँ १६ देवपुत्रों ने बोधि मण्डप की रक्षा की और ८ बोधिवृक्ष देवताओं ने बोधिवृक्ष की रक्षा की। बोधिसत्त्व ने स्वस्तिक घसियारे से आसन माँगा। बोधिमण्डप में सभी बोधिसत्त्वों ने सिद्धार्थ की पूजा की।

बोधिमण्डप के नीचे मार ने बोधिसत्त्व पर पुनः आक्रमण किया। बोधिसत्त्व सिद्धार्थ ने सर्वमारमण्डलविध्वंसनकारी रश्मि द्वारा मार को पराजित किया। मार के सेनापति, मार के पुत्र और पुत्रियाँ बोधिसत्त्व के सामने पराजित हुए, बोधिसत्त्व ने मार की पुत्रियों द्वारा प्रदर्शित ३२ प्रकार की स्त्री-माया को भी विफल कर दिया। जे० थामस ने गौतम बुद्ध के जीवन चरित के

१. ल० वि० (शास्त्री) श्लोक ७६०, ७६१, ७६३-७७३-७७५

प्रसंग में, सिद्धार्थ के साथ मार के संघर्ष को मनोवैज्ञानिक और स्वाभाविक बताया है। बोधिसत्त्व सिद्धार्थ ने मार और मार के परिवार को पराजित कर चार प्रकार का ध्यान (समाधि) लगाया, उस समाधि से उन्हें दिव्यचक्षुलाभ, पूवनिवासानुस्मृतिज्ञान तथा आस्रवक्षयज्ञान इन तीन विद्याओं का लाभ प्राप्त हुआ औ सम्यक् सम्बोधि की प्राप्ति हुई। तदनन्तर चार आर्यसत्यों का ज्ञान हुआ, वे आर्यसत्य हैं (१) दुःख (२) दुःखसमुदय, (३) दुःखनिरोध (४) दुःख-निरोधगामिनीप्रतिपदा-अष्टाङ्गिकमार्ग। ये चार आर्यसत्य ही बुद्ध के मूल दर्शन हैं। बुद्ध ने उदान कहा—

छिन्न वर्त्मोपसान्त-रजाः शुष्का आश्रवा न पुनः श्रवन्ति।
छिन्न वर्त्म निवर्तते, दुःखस्यैषोऽन्त उच्यते ॥ [1]

बुद्ध उसी बोधिमण्डप में प्रथम सप्ताह तक बैठे रहे। उनके सर्वज्ञ होने के बाद अनेकों चमत्कार प्रकट हुए।[2] शुद्धावासकायिक देवपुत्रों, आभास्वर-देवपुत्र, ब्रह्मकायिक देवताओं, शुक्लपक्षी मारपुत्रों, परनिर्मितवशवर्ती देवपुत्रों, सुनिर्मित, देवपुत्रों, संतुषित देवपुत्र, सुयाम, देवेन्द्र, चार महाराजाओं, अंतरिक्ष देवताओं, पृथ्वी के देवताओं आदि ने तथागत बुद्ध सिद्धार्थ की स्तुति की। सम्यक्संबोधि प्राप्ति के बाद समंतकुसुमदेवता और तथागत का संवाद बहुत आकर्षक है। संबोधि-प्राप्ति के बाद उन्होंने जो सात सप्ताह[3] व्यतीत किये, उसका महत्त्व Winternitz ने बताया है।[4] इन सात सप्ताहों में बोधिसत्त्व को विचलित करने के लिए मारकन्याओं ने पुनः आक्रमण किया। इसी बीच बोधिसत्त्व सिद्धार्थ की त्रपुष-भल्लिक से मुलाकात होती है। बोधिसत्त्व त्रपुष-भल्लिक को आशीर्वाद देते हैं और चारों दिशायें उनके लिए श्रीप्रद और लाभ-प्रद हों ऐसे स्वस्तिवचन वे कहते हैं। यहीं पर सिद्धार्थ बुद्ध की चरक परिव्राजक वृद्धश्रावक गौतम, निर्गन्थ, आजीवक आदि से भेंट होती है। वे सिद्धार्थ से उनका कुशल मंगल पूछते हैं। सिद्धार्थ गया से वाराणसी की ओर यात्रा करने के लिए उन्मुख हैं। मगध में प्रवेश करते ही सिद्धार्थ की आजीवक उपग से भेंट होती है। सिद्धार्थ इस खोज में हैं कि सुपात्र शिष्यों को धर्म का उपदेश

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ११३९
२. वही, श्लोक ११५८-११६३
३. वही (वैद्य), गद्यभाग, २७४-२७६
4. Winternitz, M.A. History of Indian Literature, Vol. 2. University of Calcutta, 1972, p. 256

द । शिखी ब्रह्मा धर्मचक्र प्रवर्तन की प्रार्थना करते हैं । सिद्धार्थ बुद्ध ने पंच-भद्रवर्गीय शिष्यों का आचार व्यवहार देखा और उन्हें प्रथम धर्मोपदेश के लिए योग्य पात्र समझा ।

धर्मचक्र-प्रवर्तन से पूर्व और बाद में अनेकों दिव्य चमत्कार प्रकट हुए । वाराणसी के समीप ऋषिपत्तन मृगदाव में सिद्धार्थ बुद्ध ने कौण्डिन्य आदि पांचों शिष्यों को सर्वप्रथम धर्मचक्र का उपदेश दिया। धर्मचक्र है चार आर्यसत्य, अष्टाङ्गमार्ग, त्रिरत्न, द्वादश भवाङ्ग आदि । इसी प्रसंग में अधिकारी के गुणों का विस्तार से वर्णन है। यहां तथागत के बल, वैशारद्य, अन्य गुणों, घोष, सर्वपूज्यत्व, धर्मचक्र के गुणों आदि का विस्तार से विवरण दिया है ।

सर्वार्थसिद्ध बुद्ध के चरित्र में वैराग्य, त्याग, दृढ़ संकल्प, बहुजनहित और बहुजनसुख की भावना ओतप्रोत है । वे युग-प्रवर्त्तक हैं समाज और इतिहास को उन्होंने नई दिशा दी है, नया मोड़ दिया है । उनमें बौद्धिकता, नैतिकता और आध्यात्मिकता है। काव्यशास्त्र के नियमों के अनुसार सिद्धार्थ बुद्ध ही फल के भोक्ता (सम्यक्) संबोधि-प्राप्ति) हैं अतः ये ही इस ग्रन्थ के नायक कहे जा सकते हैं । फल का स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार कहलाता है तथा उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है ।[1] समस्त अन्तरायों के दूर होने पर सिद्धार्थ बुद्ध को निर्वाण रूप फल की प्राप्ति हो जाती है यह फल प्राप्ति ही फलागम है[2] बुद्ध ने सम्यक् संबोधि प्राप्त करके निर्वाण रूप फल प्राप्ति द्वारा सारे संसार का अज्ञान और दुःख दूर किया । ललितविस्तर में बुद्ध का जीवन, बुद्ध का व्यक्तित्व धर्मचक्र-प्रवर्त्तन तक ही वर्णित है । महावग्ग आदि में बुद्ध के महापरिनिर्वाण तथा ४५ वर्ष तक सतत धर्मोपदेश का भी वर्णन है ।[3]

---

१. अधिकारः फलस्वाम्यधिकारी च तत्प्रभुः । —दशरूपक १ १२

२. समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः ॥ —दश० १.२२

3 Many different sources describe the basic events recounted in Lalita Vistara, The Buddha Śākyamuni was born as Siddhārtha Gautama, son of the king of the Sākyas, a people well known in early Indian History. He grew to an incomparable manhood, and became enlightened while seated in meditation beneath the Bodhi Tree at Bodh Gayā. After his enlightenment, he taught for forty five years before passing away at kusinagara.

Bays, Gwendolyn, 'The Voice of The Buddha, the Beauty of Compassion, Vol. I, Introduction, pp. xvii, xviii, Dharma Publishing California, 1983.

शुद्धोदन—शुद्धोदन कपिलवस्तु के शाक्यकुल के राजा और गौतम बुद्ध के पिता हैं। ये ऐतिहासिक पुरुष हैं इनके पिता का नाम सीहहनु और माता का नाम कच्चाना था। कपिलवस्तु इनकी राजधानी है। शुद्धोदन का शाक्यकुल ६४ प्रकार के गुणों से युक्त है।[1] शुद्धोदन की भार्या और जाया माया देवी ३२ प्रकार के स्त्रियोचित गुणों से अलंकृत थीं।[2] शाक्यकुल पितृ-मातृ-परिशुद्धि से युक्त है वह धन-धान्य संपन्न स्थिर-संपत्ति वाला है। शुद्धोदन का कुल कर्म-वादी दर्शन को मानने वाला है पाप से रहित है।

शुद्धोदनो राजकुले कुलीनो
नरेन्द्रवंशे सुविशुद्ध गोत्रः।
ऋद्धं च स्फीतं च निराकुलं च
सगौरवां सज्जन धार्मिकं च ॥[3]

शुद्धोदन और माया देवी दोनों पुत्र जन्म के लिए लालायित हैं। दोनों वंश-वृद्धि के इच्छुक हैं। जब शुद्धोदन को विदित हुआ कि माया देवी गर्भवती है शाक्यों के राजा ने अपनी जाया पर विशेष ध्यान दिया और उसके पास निवास किया।[4] प्रजा के प्रति शुद्धोदन का व्यवहार इकलौते पुत्र के समान अतिशय वात्सल्य और प्रेममय था।[5] पुण्यात्मा शुद्धोदन के घर पुत्र सर्वार्थसिद्ध का जन्म होते ही सब ओर समृद्धि हुई। राजा बिम्बिसार के घर अजातशत्रु का जन्म हुआ।[6] शाक्यों के घरों में पच्चीस सहस्र पुत्र पैदा हुए थे,[7] चेटियों के छन्दक आदि ८०० बेटे उत्पन्न हुए कन्थक के साथी श्रेष्ठ अश्वों के दस सहस्र अश्व पैदा हुए,[8] बीस हजार हाथियों ने उत्तम हाथियों को जन्म दिया। गो आदि पशुओं से ६० हजार काले-चितकबरे बछड़े पैदा हुए।[9] २० हजार सीमाप्रांत की अटवियों के राजा शुद्धोदन की शरण में आ गये, उन्होंने अपने को शुद्धोदन

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ०, १६-१७
२. वही, पृ० १७
३. वही, (शास्त्री), श्लोक ३७
४. वही, श्लोक १९२
५. सर्वान प्रसन्नमनसो हितमैत्रचित्ता।
वीक्षस्व देव जनतां यथ चक्रपुत्रं ॥ —ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ८४
६. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक २२८
७. वही, श्लोक २२९
८. वही, श्लोक २३०
९. वही, श्लोक २३२

का सेवक कहा।[1] मनुष्यों, देवताओं, पशुओं, पक्षियों, वनस्पतियों आदि की मनोवांछित अभिवृद्धि हुई, इसलिए पुत्र के उत्पन्न होते ही राजा शुद्धोदन के सब अर्थ सिद्ध हो गए, अतः उसका नाम सर्वार्थसिद्ध रख दिया।[2] सिद्धार्थ का जन्म होते ही अद्भुत् चमत्कार हुए। शुद्धोदन के भांजे नरदत्त माणवक (नालक) के पास रहने वाले कुलपुरोहित असित महर्षि ने दिव्य दृष्टि से जान लिया कि जम्बुद्वीप में, कपिलवस्तु में बत्तीस लक्षणों से युक्त महारत्न ने जन्म लिया है। असित ने भविष्यवाणी कर दी कि सातरत्नों से युक्त चक्रवर्ती राजा होंगे या गृह का परित्याग कर परिव्राजक होकर सम्यक् संबोधि प्राप्त कर धर्मचक्र-प्रवर्त्तन करेंगे।[3] शुद्धोदन ने असित महर्षि का अपने कुलपुरोहित के अनुरूप अनुकूल स्वागत-सत्कार किया। अपनी वंशवृद्धि से वह बहुत प्रसन्न हुए

शुद्धोदन में अतिशय वात्सल्य प्रेम और ममता थी, वे पुत्र को थोड़ी देर के लिए भी आंखों से ओझल नहीं होने देते थे। जब सिद्धार्थ पांच सौ बालकों की मंडली के साथ अपने माता-पिता को बताये बिना कृषिग्राम चले गये तो शुद्धोदन पुत्र-वियोग की आशङ्का से अधीर हो उठे। कंचुकी, द्वारपाल, अन्तःपुर के लोगों से पूछा कि क्या मेरे कुमार को किसी ने बाहर निकलते हुए देखा था?[4] सबने उत्तर दिया, कुमार सिद्धार्थ मुकुट, तलवार, जूते आदि यहां छोड़कर, शाक्यकुमारों के साथ कृषिग्राम की ओर घर से चले गये हैं और जम्बूवृक्ष के नीचे समाधिस्थ थे।[5] शुद्धोदन ज्योतिषियों और नैमित्तियों की भविष्यवाणी याद करके चिन्तित रहने लगे और उनके विवाह के लिए कोई कन्या देखने लगे। शुद्धोदन ने कुमार सिद्धार्थ में अनुराग पैदा करने के लिए अशोकभाण्ड वितरित करने की परियोजना बनाई।[6] दण्डपाणि की पुत्री गोपा और सिद्धार्थ का पूर्वानुराग प्रकट हुआ, दोनों का विधिपूर्वक विवाह हुआ। पुत्रवधू गोपा के प्रति शुद्धोदन का भाव कृपामय और वात्सल्यमय चित्रित हुआ है। शुद्धोदन ने प्रसन्न होकर गोपा को लाल दुशाला और सुवर्णमाला भेंट की। गोपा ने घूंघट

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक २३१
२. वही, (वैद्य) गद्यभाग, पृ० ६९
३. वही, (शास्त्री) श्लोक २५९
४. वही, श्लोक ३३१-३३२
५. वही, श्लोक ३३४, ३१६
६. वही, (वैद्य) गद्यभाग, ९९, १००

नहीं निकाला, अपने शील, सौजन्य और लज्जा से सास, ससुर आदि को मुग्ध कर लिया।

शुद्धोदन ने कुमार के लिए ग्रैष्मिक, वार्षिक, हैमन्तिक तीन प्रकार के प्रासाद बनवा दिये, चारों ओर से भौतिक और मनोरंजक प्रतिबंध लगा दिये थे कि कहीं कुमार सिद्धार्थ वैराग्य न ले लें। एक दिन सारथि छन्दक के साथ उद्यान भूमि देखने की इच्छा से गए, वहां वृद्ध पुरुष आदि को देखकर कुमार के मन में विरक्ति पैदा हो गई, उन्होंने छन्दक से बहुत कुछ पूछा। बोधिसत्त्व को राज्य कार्य में व्यस्त रखने के लिए शुद्धोदन ने परकोटे बनवाये, खाइयां खुदवायीं, द्वारों को मजबूती से बन्द करवाया, चतुरङ्गिणी सेना से रखवाली करवाई कि कुमार निकलकर बाहर न जायें। संगीत-वाद्य, क्रीड़ायें, स्त्रीमाया सभी प्रयत्न किए गए, जिससे कि सिद्धार्थ प्रव्रज्या के निमित्त बाहर न निकल पाएं।

बोधिसत्त्व ने शुद्धोदन से जब चार वर मांगे तो, राजा बहुत दुःखी हुए, और कहा कि जरा, व्याधि, मृत्यु के भय और विपत्ति से तो कल्प तक ठहरने वाले ऋषि भी कभी मुक्त नहीं हुए। पुत्र की विरक्त प्रवृत्ति देखकर, पुत्रस्नेह से विह्वल राजा शुद्धोदन रखवाली करने वाले सैनिकों के साथ रात्रि में भी जागते रहते थे।

जब रात्रि में छन्दक कन्थक अश्व पर अनोमा नदी के किनारे सिद्धार्थ को छोड़कर, उनके राजसी वस्त्र और आभूषणों को वापिस लेकर लौटा तो शुद्धोदन चिल्लाकर रोये और मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़े।[1]

एक अच्छे राजा के गुण शुद्धोदन में वर्तमान हैं, वे सिद्धार्थ से चक्रवर्ती राजा की आशा करते थे, शाक्यकुल के साम्राज्यविस्तार के लिए यही उचित था। शुद्धोदन का अपनी प्रजा के प्रति प्रेममय व्यवहार इकलौते पुत्र के समान प्राणों से भी अधिक सचेत था। अपनी जाति के सभी शाक्यों के प्रति वे सौहार्द्र-मय भाव रखते थे। शुद्धोदन का शासन इतिहास में शाक्यकुल की समृद्धि का सूचक है।

पालिसाहित्य से विदित होता है कि माया देवी की मृत्यु के पश्चात् शुद्धोदन का विवाह उसकी बहन प्रजापती से कर दिया गया था, उससे जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम नन्द था।[2] ललितविस्तर में शुद्धोदन से महाप्रजापती

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ७०२-७०३
2. D. P. P. Names, Vol. II, p. 1200-1202

के विवाह का कोई उल्लेख नहीं है, उसे ममतामयी मौसी (मातृष्वसा) कहा गया है।

सिंहहनु—सिंहहनु शुद्धोदन के पिता और सर्वार्थसिद्ध बुद्ध के पितामह थे। इनकी माता का नाम कच्चाना था। इनके पुत्र थे शुद्धोदन, धौतोदन, शक्कोदन, सुखोदन, अमितोदन और इनकी पुत्रियों का नाम अमिता और पमिता था। शुद्धोदन ने सर्वार्थसिद्ध बुद्ध को बताया कि तुम्हारे पितामह सिंहहनु का धनुष देवकुल में सुगन्ध और पुष्पों से पूजा जाता है। उस धनुष को जब कुमार सिद्धार्थ ने चढ़ाया और तीर फेंका तो उससे बहुत ऊंचा शब्द निकला, जिस स्थान पर बाण लगा, वहां 'कूप' बना दिया गया, जो 'शारकूप' के नाम से विख्यात है और जिसकी चैत्य के समान पूजा की जाती है।[1]

सिंहहनु के समय शाक्यों और कोलियों में बहुत मित्रता थी। असित सिंहहनु का कुल पुरोहित था।[2] मारधर्षण परिवर्त्त में मार के सेनापति का नाम भी सिंहहनु है।[3]

असित—असित का ऋषि और ज्योतिषी के रूप में ललितविस्तर में वर्णन है। ये शुद्धोदन और माया देवी के पुत्र के विषय में भविष्यवाणी करते हैं कि सिद्धार्थ बड़े होने पर चक्रवर्ती राजा होंगे, यदि गृहत्याग करेंगे तो बहुजनहिताय, बहुजन सुखाय धर्मचक्र का प्रवर्तन करेंगे। ये शुद्धोदन के पिता सिंहहनु के कुल पुरोहित और साथी थे। यह शुद्धोदन के भांजे नरदत्त माणवक के साथ कपिलवस्तु में शुद्धोदन के घर, दिव्य दृष्टि से पुत्रजन्म का ज्ञान प्राप्तकर पहुंचे थे।[4]

बिम्बिसार—बिम्बिसार मगध का राजा और बौद्ध धर्म का संरक्षक था। उसने १५ वर्ष की आयु में राजगद्दी का उत्तराधिकार लिया और राजगृह में ५२ वर्ष तक राज्य किया।[5] ललितविस्तर में सिद्धार्थ की भेंट सर्वप्रथम राजगृह में पाण्डव पर्वत पर बिम्बिसार से होती है, जब वह संबोधि-प्राप्ति की खोज में गृहत्याग कर चुके थे।[6] यहां दोनों का वार्तालाप बड़ा सरल और कवित्वमय

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १०७
2. D. P. P. Names, Vol, I, p. 208
३. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ६४६
४. वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ७२-७६
५. इस घटना का उल्लेख पब्बजासुत्त में भी है।
D. P. P. Names, Vol. II, p. 285-289
६. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ७५५, ७५८

है। बिम्बिसार ने सिद्धार्थ को अपना आधा राज्य अर्पित किया और चाहा कि सिद्धार्थ मगध में कामगुणों का भोग करते हुए शासन करें।[1] सर्वार्थसिद्ध ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं अपना राज्य त्यागकर संबोधि की खोज में घर से निकला हूँ, मेरे पिता शुद्धोदन शाक्यवंश के राजा हैं, कपिलवस्तु शाक्यों की राजधानी है। बिम्बिसार ने कहा जब आप संबोधि प्राप्त कर लें, उसमें मेरा भी हिस्सा होगा, आप पुनः मुझे दर्शन दें. यह कह सिद्धार्थ की चरणवंदना और प्रदक्षिणा की ।[2]

धर्मचक्र प्रवर्तन से पूर्व तथागत सिद्धार्थ मगध में पुनः बिम्बिसार के राज्य में गये। वहां वे गया से वाराणसी की यात्रा करना चाहते थे। तथागत गृहपतियों द्वारा निवास और भोजन के लिए निमन्त्रित होते हुए, गया से रोहित वस्तु, रोहित वस्तु से उरुविल्वाकल्प, वहां से अणाल, अणाल से सारथिपुर, सारथिपुर से गंगा के किनारे पहुंचे। महानदी गंगा जल से लबालब भरी हुई थी, तथागत ने नाविक से पार उतारने की प्रार्थना की। नाविक ने तथागत गौतम से उतराइ मांगी, तथागत के पास उतराई के लिए पैसे नहीं थे। यहां चमत्कार होता है कि तथागत बुद्ध, आकश मार्ग से इस तट से उस तट तक पहुंच गये। नाविक बहुत पछताया कि उसने पूजनीय को क्यों नही उतारा ? नाविक दुःख के कारण वहीं पृथिवी पर मूच्छित होकर गिर पड़ा। तदनन्दर नाविक ने यह सारी घटना राजा बिम्बिसार से कही कि मैंने श्रमण गौतम से उतराई मांगी, उन्होंने कहा मेरे पास उतराई नहीं है यह कहकर वे आकाश मार्ग से इस तीर से उस तीर पर पहुंच गये। राजा बिम्बिसार ने यह सारी घटना सुनकर, तभी से, सभी प्रव्रजितों के लिए उतराई माफ कर दी।[3] ललितविस्तर में सिद्धार्थ गौतम की बिम्बिसार से कवि ने दुबारा मुलाकात नहीं करवाई।

बिम्बिसार को इतिहासकारों ने मगध का शासक कहा है। डा० भंडारकर के अनुसार वह वज्जियों का सेनापति था, और सेनिय (श्रेणिक) उसकी उपाधि थी, वह नागकुल से सम्बन्धित था परन्तु अश्वघोष के बुद्ध चरित में उसे हर्यङ्क-कुल में उत्पन्न कहा है। महावग्ग के अनुसार बिम्बिसार की ५०० रानियां थीं। उसे अपने साम्राज्य विस्तार में वैवाहिक सम्बन्धों से बहुत सहायता मिली थी।

---

१. ल० वि० श्लोक ७६२-७६५

२. वही, श्लोक ७७६-७७८

३. वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २९७

उसकी मुख्य चार रानियां थीं। कोशल के राजा प्रसेनजित की बहिन उसकी पहली रानी थी, जिसके कारण बिम्बिसार को काशी का राज्य दहेज में मिला था। उसकी दूसरी रानी लिच्छवियों के प्रमुख चेतक (छेतक) की पुत्री छलना थी। तीसरी रानी वैदेही वासवी थी, उसका पुत्र अजातशत्रु था। बिम्बिसार की चौथी रानी क्षेमा थी, जो मद्रदेश (केन्द्रीय पंजाब) के राजा की पुत्री थी।[1]

कोशलराज प्रसेनजित, सिद्धार्थ (बुद्ध), बिम्बिसार और अजातशत्रु समकालीन थे, ऐसा इतिहासकारों का मत है। इन सभी राजाओं की बौद्ध-धर्म में श्रद्धा थी।

अजातशत्रु—अजातशत्रु बिम्बिसार का पुत्र था। कवि श्लेष द्वारा चमत्कार उत्पन्न करते हैं। जन्म परिवर्त्त में श्लेष द्वारा अजातशत्रु अर्थ ध्वनित होता है।[२] ऐतिहासिक प्रमाणों से विदित होता है कि गौतम बुद्ध की मुलाकात अजातशत्रु से हुई थी। वह बुद्ध का भक्त था। जीवक की सहायता से अजातशत्रु ने बुद्ध के दर्शन किये, जिसका ब्यौरा भरहुत स्तूप (C. II nd Century B. C.) में मिलता है। अजातशत्रु के संरक्षण में प्रथम बौद्ध संगीति राजगृह (मगध) में हुई थी।[3]

उदायी—आभरण परिवर्त्त[४] में उदायी के पिता उदयन नामक राजपुरोहित ब्राह्मण ने, पाँच सौ ब्राह्मणों के साथ हस्त नक्षत्र के बाद चित्र नक्षत्र में राजा शुद्धोदन से जाकर कहा—'हे देव ! आपको विदित होना चाहिए कि कुमार के आभरण बनने चाहिए। राजा शुद्धोदन ने कहा, 'हाँ-हाँ अवश्य बनने चाहिए।'

---

1. Majumdar, R. C, the Age of Imperial Unity, Vol. II, p, 19

२. पुरुष त्वरितु गत्व शुद्धोदनमब्रवीत् हर्षितो।
वृद्धि विपुल जातु देवा सुतो भूषितो लक्षणैः।
महकुलरतनस्य (वृद्धिभूता) व्यक्तो असौ चक्रवर्तीश्वरः
न च भवि प्रतिशत्रु जम्बुध्वजे एकछत्रो भवेत्॥
—ल० वि० (शास्त्री), श्लोक २२८

3. Costly Ajātaśatru is immortalised in the History of Buddhism by his association with its first general council or Sangitī. It was attended hy 500 eminent bhikkhus and theras, who, travelling through the country, he took themselves to Rājagṛaha as the best place for their meeting. R.C. Majumdar, the Age of Imperial Unity, Vol, II p. 28.

४. ल० वि० (वैद्य), पृष्ठ ८५

उदायीभद्द को अजातशत्रु का पुत्र कहा गया है जो प्रसेनजित की पुत्री वाजिरा से उत्पन्न हुआ था। अजातशत्रु का पुत्र उदायी या उदायीभद्र था। पालि साहित्य से ज्ञात होता है कि उदायीभद्र ही अजातशत्रु का उत्तराधिकारी था। 'परिशिष्ट पर्वण, और 'कथाकोश' में लिखित जैन जनश्रुति में भी उदायी को अजातशत्रु का उत्तराधिकारी बताया गया है।[1]

वासव—ललितविस्तर में वासव ब्राह्मण का उल्लेख है।[2] वासव सक्क (शक्र) का नाम है। इस शब्द की अनेकों व्याख्यायें हैं। संयुक्त निकाय में कहा गया है जब वह मनुष्य योनि में था, उसने पूर्वजन्म में मनुष्यों को रहने के लिए स्थान दिया, इसलिए उसका नाम वासव पड़ा। दीर्घ निकाय के अनुसार वासव वसु आदि देवताओं में प्रमुख (वसूनं सेट्ठो) है, बुद्धघोष ने जिसको वसुदेवता कहा है।[3] आंगनेलाल ने वासव और वासुदेव को एक ही माना है। वस्तुतः वासव और वासुदेव को एक व्यक्ति नहीं माना जा सकता। महावग्ग के अनुसार राजा बिम्बिसार की ५०० रानियाँ थीं। उनमें तीसरी रानी थी वैदेही वासवी, जो बड़ी पतिव्रता थी।[4] हो सकता है वासव ब्राह्मण वासवी के परिवार से सम्बन्धित हो।

वासव नामक ग्राम भी है। इस ग्राम में गृहपति बलसेन का निवास था। यहाँ पर भेड़ पालक (औरभ्रक) लोग रहते थे, जो भेड़ों का मांस बेचकर अपना जीवन यापन करते थे।[5]

प्रद्योत—अवन्ति (उज्जयिनी) का शासक प्रद्योत था।[6] प्रद्योत को उज्जयिनी नगरी में बड़ी विशाल सेना वाला, विविध यानोंवाला, दूसरों की सेना के साथ आमने-सामने लड़ाई में विजयलाभी बताया है। ललितविस्तर के अनुसार प्रद्योत के कुल के व्यक्ति चण्ड्र, चपल, रौद्र, रुखे, साहसी और कर्मवाद को मानने वाले नहीं थे।[7] कालिदास ने अवन्ति के विषय में लिखा है कि वहाँ के वृद्ध उदयन की कथा कहने में बड़े रसिक और कोविद हैं।[8]

---

१. डा० आंगनेलाल, संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन, पृ० ७१
२. ल० वि० (शास्त्री) श्लोक १३८०
3. M.S.G.P.D. of P.P. Names, Vol II, p. 807, 808.
4. The Age of Imperial Unity, Vol. II, p. 23.
५. अंगनेलाल, बौद्ध संस्कृत साहित्य में भारतीय जीवन, पृ० ५९
६. ल० वि० (वैद्य), पृ० १५
७. वही।
८. प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्। —का० मेघदूत १.३०

वत्सराज—वत्सराज वत्स महाजनपद का शासक माना गया था। वत्सराजकुल को साधारण, अविनीत (चण्ड्र) और उज्ज्वल तेज से रहित बताया है। वत्स देश को धनधान्यसम्पन्न, स्थिर सम्पत्तिवाला तथा सुखी और दाताओं से युक्त कहा है।[1] यहाँ के सूती कपड़े प्रसिद्ध हैं। कौशाम्बी इसकी राजधानी थी। यहाँ का प्रसिद्ध राजा वत्सराज उदयन था, जो बुद्ध का समकालीन था। वह बहुत शक्तिशाली और विख्यात था, उसके साथ कई कथायें सम्बद्ध हैं।[2] भास ने वत्सराज उदयन की कथा को आधार बनाकर 'स्वप्नवासवदत्तम्' और 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण' आदि नाटक लिखे हैं।

प्रसेनजित—कौशल का शासक प्रसेनजित था। यह महावाहन, महापरिवार, और महाधन से युक्त था।[3] कौशलकुल इतिहास-प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में इसकी राजधानी श्रावस्ती थी, यह सरयू नदी के किनारे स्थित है। इतिहासकारों ने कौशल के तीन प्रसिद्ध शहरों का ब्यौरा दिया है, जिन्हें आजकल महत्त्वपूर्ण शहर के रूप में श्रावस्ती, साकेत और अयोध्या के नाम से जाना जाता है।[4] ललितविस्तर का प्रारम्भ ही इस प्रकार होता है कि एक बार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में अनाथपिण्डक द्वारा दिये हुए जेतवन में विलाल भिक्षु संघ के साथ विहार कर रहे थे।[5] इतिहासकारों का कथन है कि जेतवन श्रावस्ती में स्थित था, इसे अनाथपिण्डक ने बुद्ध को दान में देकर दानपारमिता की थी।

प्रसेनजित मगध के राजा अजातशत्रु और बुद्ध का समकालीन था। उसका अजातशत्रु के साथ काफी संघर्ष चलता रहा। प्रसेनजित महाकौशल का पुत्र था, उसकी शिक्षा तक्षशिला में हुई थी। वह लिच्छवी, महाली और मल्ल (राजकुमार बन्धुल) का साथी था। प्रसेनजित की बहिन कोसलदेवी का विवाह बिम्बसार से हुआ था, उसने विवाह में उसे महाकोशल में स्थित काशी का राज्य दहेज में दे दिया था। यह सभी इतिहासकार स्वीकार करते हैं कि कोशलराज प्रसेनजित बिम्बसार, अजातशत्रु, सर्वार्थसिद्ध गौतम बुद्ध के समकालीन थे।[6]

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १५
2. Mnjumdar, R.C. the Age of Imperial Unity, Vol, II, p. 9.
३. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १५
4. Majumdar, R.C, the age of Imperial Unity, Vol.II, p. 4-5.
५. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० I
6. Dictionary of Pali Proper Names, Vol. II, p. 168-174.

सुमित्र—मैथिल राजा सुमित्र की निवासभूमि, मिथिला नगरी अत्यन्त रमणीय है। यहाँ सुमित्र राजा शासन करता था। वह राजा हाथियों, घोड़ों, रथों की सेना और पैदल सेना से अलंकृत है। उसके पास हिरण्य-सुवर्ण, मणि-मुक्ता, वैदूर्य, शंख, स्फटिकशिला, मूंगा आदि की धन-सामग्री प्रचुर-मात्रा में है। उसका बल इतना बढ़ा- चढ़ा है कि उसे सामन्तों और अन्य नृपों का कोई भय नहीं है परन्तु राजाओं की सेनाएँ उसके पराक्रम से काँप उठती हैं। वह सहृदय, मित्रता के स्वभाववाला एवं धर्मवत्सल है। उसके बहुत सारे पुत्र हैं[1] पालि-ग्रंथों में इस राजा का नाम नहीं मिलता है, इसे वैदेही कुल में उत्पन्न माना जाता है।

विदेह यह पूर्व देश का प्रसिद्ध जनपद था, जिसकी राजधानी मिथिला थी। इसकी पहचान वर्तमान उत्तरी विहार के जनकपुर नगर से की गई है। यह जनपद भी उत्तरी बिहार के दरभंगा में बसा था। आज पुनः मिथिला की प्राचीन प्रतिष्ठा हो चुकी है। प्राचीन युग में जनक यहाँ के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता शासक थे। अंगुत्तर निकाय में कई स्थानों पर विदेह, मिथिला आदि महाजन-पदों का उल्लेख मिलता है

सुबाहू—राजा सुबाहू कंस-कुल के शूरसेनों का शासक माना गया है, मथुरा इसकी राजधानी थी। शूरसेन महाजनपद का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। मथुरा नगरी समृद्ध, स्थिर-संपत्ति से युक्त, सुखी और दाता व्यक्तियों से भरपूर है।[2]

मथुरा तीर्थस्थान के साथ-साथ प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। उत्तरापथ के व्यापारी सैंकड़ों घोड़ों पर सामान लादकर व्यापार के लिये मथुरा को जाते थे। महावस्तु से ज्ञात होता है वाद-विवाद विशारद, वेदों का ज्ञाता तथा सर्वशास्त्रों में पारंगत और व्याकरण में दक्ष एक विद्वान् दक्षिणापथ से मथुरा को आया था। बुद्धचरित के अनुसार इसी नगर में बुद्ध ने भयानक गर्दभ को सद्धर्म की दीक्षा दी थी।

सुबाहू संज्ञावाले कई व्यक्ति हुए हैं। पाँच सौ कल्प पूर्व इस संज्ञावाले चौंतीस (३४) राजा शासक हुए हैं, प्रथम पूर्व जन्म में जिन्हें सीवली (एक आसन पर स्थित) स्थविर कहा गया है। निन्यानवे (९९) कल्प पूर्व सुबाहू की

---

१. ल० वि०, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १६

२. वही, पृ० १५

मुलाकात सिद्धार्थ गौतम से हुई थी। सैंतीस कल्प पूर्व वह साठ बार अंगद संज्ञावाला राजा हुआ। संभवतः उसका तादात्म्य त्राणसंज्ञक अपदान (अवदान साहित्य) से किया जा सकता है। वण्णारोह और तित्तिरजातक (अंक ४३८) में सुबाहू को शेर कहा गया है और उसका मोग्गल्लान से तादात्म्य स्थापित किया गया है। सुबाहू संज्ञावाला प्रत्येक बुद्ध भी हुआ है। एक सुबाहू स्थविर बनारस के एक सेठ परिवार में पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ, वह यश का मित्र था। हो सकता है यह यश सुजाता का पुत्र हो। जब यश और उसके साथियों ने बौद्ध-धर्म स्वीकार किया, तब सारे साथी और सुबाहू अर्हत बन गये।[1]

पांच पांडव—पांचों राजा पांडवकुल की परम्परा में हस्तिनापुर महानगर में उत्पन्न हुए हैं। इस कुल के राजा शूर हैं, वीर्यवान हैं, श्रेष्ठ अंगों से युक्त हैं। शत्रुसेना का मर्दन करने वाले हैं। इस कुल में उत्पन्न होने वाले राजाओं की वंशपरम्परा अत्यन्त अस्त-व्यस्त है। युधिष्ठिर को धर्म का, भीमसेन को वायु का, अर्जुन को इन्द्र का, और नकुल-सहदेव को आश्विनों का पुत्र कहा जाता है।[2]

हस्तिनापुर में पाण्डव कुल का अधिकार और प्रभुत्व था। दिव्यावदान में हस्तिनापुर को उत्तरी पंचाल की राजधानी बताया गया है। हस्तिनापुर कुरु देश की राजधानी भी मानी गई है। भारतीय साहित्य में इसका उल्लेख कुरु-पांचल के साथ किया गया है 'कुरुपांचालानां।'[3] यह सोलह महाजनपदों में प्राचीन राष्ट्र था। गौतम बुद्ध ने इस जनपद का भ्रमण किया था। हस्तिनापुर का राज्य सुविस्तीर्ण था, जिसमें साठ हजार ग्राम थे। यह उत्तर में हिमालय की तलहटी तक विस्तृत था। उत्तर-प्रदेश के मेरठ जिले में हस्तिनापुर के ध्वंसावशेष इसके प्राचीन गौरव के परिचायक हैं।

चरक परिव्राजक—बोधि-प्राप्ति के छठे सप्ताह तथागत बुद्ध नागराज मुचिलिन्द के भवन से, अजयपाल बरगद के नीचे पहुँचे। वहाँ पर नैरञ्जना नदी के किनारे, बुद्ध की मुलाकात चरक परिव्राजक, वृद्धश्रावक गौतम, निर्ग्रन्थ, आजीवक आदि से होती है। उन सबने बोधिसत्त्व गौतम सिद्धार्थ से कुशल

1. Dictionary of Pali Proper Names, Vol. II, p. 1225-1226.
२. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १५
अंगनेलाल, संस्कृत-बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन, पृ० २९

मंगल पूछा।[1] तथागत बुद्ध ने उन्हें अहिंसा, वीतरागमयता का उपदेश दिया तथा संसार को दुःख और भय से संतप्त बताया।[2]

चरक परिव्राजक और वृद्धाश्रावक गौतम के विषय में ललितविस्तर में कोई अन्य संदर्भ नहीं मिलता है। चरक को महासम्मत का उत्तराधिकारी, और शाक्यसंघ का सदस्य कहा गया है, उसका एक पुत्र था, जिसका नाम उपसेन था।[3]

वृद्धश्रावक गौतम—ललितविस्तर में सिद्धार्थ बुद्ध के सम्बोधि प्राप्ति के बाद छठे सप्ताह, उनकी भेंट एक वृद्धश्रावक गौतम से होती है।[4] षड्दर्शन के साहित्य में गौतम न्यायसूत्रों के प्रवर्त्तक माने गये हैं। पालि साहित्य में गौतम नामक कई व्यक्तियों का उल्लेख प्राप्त है। एक गौतम स्थविर के विषय में लिखा है कि वे शाक्य-गणतंत्र से सम्बद्ध थे, उनसे समाज के लोग केवल उनके 'गौतम' इस पद या ग्रोत्र-नाम से परिचित थे। उनकी बुद्ध से मुलाकात हुई थी, उन्होंने बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली थी, और वे अर्हत हो गये थे।[5]

निर्ग्रन्थ और आजीवक—निर्ग्रन्थ बुद्ध के उस समय में प्रचलित एक धार्मिक, सम्प्रदाय था। राधाकुमुद मुकर्जी ने 'हिन्दू सभ्यता' में और वासुदेव-शरण अग्रवाल ने 'पाणिनि-कालीन भारत' में निर्ग्रन्थ और आजीवकों को जैन-धर्म से भिन्न धार्मिक मत स्वीकार किया है। बौद्ध-संघ के छः श्रमण-संघ सदस्य थे, उनमें इस निर्ग्रन्थ नाथयुक्त का उल्लेख मज्झिमनिकाय के 'चूलसारोपसुत' में मिलता है।

आजीवक उपग—सिद्धार्थ बुद्ध के सम्बोधि-प्राप्ति के साथ सप्ताह बाद, त्रपुष-भल्लिक से भेंट होने के बाद, निर्वाण की प्राप्ति हो जाने पर[6] महाब्रह्मा शिखी आदि ने धर्मचक्र-प्रवर्त्तन की प्रार्थना की। भूमि के और अंतरिक्ष के देवताओं को भी यह ज्ञात हो गया कि तथागत बुद्ध धर्मचक्र-प्रवर्त्तन करेंगे। तथागत बुद्ध धर्म-देशना के लिए योग्य शिष्यों की गवेषणा कर रहे। उन्होंने रुद्रक रामपुत्र और आराडकालाप को यह धर्म बताना चाहा, परन्तु उन दोनों

१. ल० वि०, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २७६
२. वही, (शास्त्री), श्लोक १३०९-१३११
3. D.P.P. Names, Vol. I, p. 858
४. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २७६
5. D.P.P. Names, Vol. I, p. 786,-787
६. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० २८६

का देहान्त हो चुका था। उसी समय बुद्ध ने मगधदेश से काशी-जनपद में पद-चारिका करने की इच्छा की। जब बुद्ध गया और बोधिमण्डप के बीच स्थित थे, एक व्यक्ति आजीवक उपग नामक था, वह उनके तेज से प्रभावित होकर बोले--'आयुष्मन्त गौतम किस गुरु के पास ब्रह्मचर्य का आचरण कर रहे हैं। तथागत ने आजीवक को उत्तर दिया, 'मेरा कोई आचार्य नहीं हैं, मैं निर्वाण प्राप्त कर चुका हूँ, मेरे आस्रव क्षीण हो चुके हैं, कई योनियो में मेरे समान कोई व्यक्ति (प्रतिपुद्गल) नहीं है। मैंने पाप-धर्मों को जीत लिया है इसलिए मैं ही जिन हूँ।' में वाराणसी जाकर अमृत की दुन्दुभि बजाऊँगा और वहाँ पंच-भद्रवर्गीयों को धर्मोपदेश द्वारा धर्मचक्र का प्रवर्त्तन करूँगा।'[1] बुद्ध के उत्तर में जैन धर्म की शब्दावली का प्रयोग है। यहां इस प्रसंग में बुद्ध ने 'निराश्रव,' 'मुद्गल' 'जिन' आदि शब्दों का प्रयोग किया जिनका प्रयोग जैन धर्म में भी है। आजीवक धर्म बौद्ध और जैन दोनों धर्मों से भिन्न है। आजीवक उपग से मिलने के बाद बुद्ध प्रथम धर्मोपदेश के लिए वाराणसी में ऋषिपत्तन मृगदाव की ओर रवाना हुए।[2]

शारिपुत्र—ललितविस्तर[3] में बुद्ध ने कहा 'बुद्धचक्षु से मैंने जिन प्राणियों को देखा है, वे सब यदि शारिपुत्र जैसे अर्हन्त हो जायें तथा गङ्गानदी की बालुका जैसे उन असंख्य अर्हन्तों की कोई कोटि-कोटि कल्प तक पूजा करते रहे, तो भी उससे यह ललितविस्तर की कथा द्वारा किया, हुआ पुण्य विशेष है।

शारिपुत्र गौतम बुद्ध का प्रमुख शिष्य है इसे उपतिस्स भी कहा जाता है। इसके पिता का नाम वङ्गन्त और माता का नाम रूपसारी था, माँ के नाम के आधार पर इसे शारिपुत्र कहा जाता था। इसके तीन भाई थे, चुन्द, उपसेन और रेवत। इसकी तीन बहनें थीं, चाला, उपचाला और सीसूपचाला। सबने बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया था।[4] बौद्ध संस्कृत कवि अश्वघोष ने इनके नाम पर 'शारिपुत्र प्रकरण' की रचना की।

महाकाश्यप—महाकाश्यप को बुद्ध का परम प्रिय शिष्य कहा है।[5] पालि साहित्य में अनेक काश्यपों (उरुवेल-काश्यप, नदी-काश्यप, गया-काश्यप महा-काश्यप) का बुद्ध के शिष्य के रूप में उल्लेख है। ये मगध में ब्राह्मण परिवार में

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १४२१-१४२५
2. D.P.P. Names, Vol. I, p. 385
३. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक १४९५
4. D P.P. Names, Vol. II, p. 1108-1109
५. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ३१८, ३२०

कपिल के यहाँ पैदा, हुए, इनकी माता का नाम सुमनादेवी था, उसे पिप्पली भी कहते थे। महाकाश्यप का विवाह सागल (शाकल-नगरी-स्यालकोट) की निवासिनी भद्दाकापालिनी से हुआ था।[1]

आनन्द—ललितविस्तर में धर्मचक्र-प्रवर्त्तन के अवसर पर आनन्द की बुद्ध के शिष्यों में परिगणना है।[2] जन्म परिववर्त्त में आनन्द और बोधिसत्त्व का संवाद है जो चमत्कार जनक है। कोई भी नवजात शिशु सिद्धार्थ की तरह दार्शनिक समस्याओं पर संवाद नहीं कर सकता।[3] उनका बुद्ध के प्रति बहुत अनुराग था। उन्हें बुद्ध का चचेरा भाई कहा गया है। आनन्द शुद्धोदन के छोटे भाई अमितोदन का बेटा था।[4]

कौण्डिन्य—धर्मचक्रप्रवर्त्तन के समय सर्वप्रथम शाक्यमुनि गौतम ने पंचभद्र-वर्गीयभिक्षुओं में शिष्य कौण्डिन्य को उपदेश दिया।[5] कौण्डिन्य का नाम बारह सहस्र भिक्षुओं में परिगणित है।[6] अश्वजित्, बाष्प, महानाम, भद्रिक ये पाँचों भद्रवर्गीय भिक्षु थे, शिष्य थे, जिन्हें बुद्ध ने सर्वप्रथम उपदेश दिया। इन पाँचों का नाम बुद्ध के प्रमुख शिष्यों और बुद्धसंघ में उल्लेखनीय है।

सम्राट् अशोक—कवि श्लेष से चमत्कार उत्पन्न करते हैं और सत्य का प्रकाशन करते हैं—

हे राजन्! हे प्रभो चलिस! पुण्य के तेज की प्रभावाले भगवान् के जन्म के गुणों को देखकर, हजारों देवता और मनुष्य हर्षित हुए हैं। सभी को देखिए, अशोक (शोकरहित) सम्राट् और उसके पुत्र आदि श्रेष्ठ बोधि के लिए संप्रस्थित हो, बोधि के निमित्त पारमिताओं को पूर्ण कर शीघ्र बुद्ध होंगे—

अपि च नृपति गच्छ प्रेक्ष स्वयं सर्वमेव प्रभो, पुण्यतेज प्रभो,
नरमरुतसहस्र ये हर्षिता दृष्टव जाते गुणां।
बोधिवर अशोक संप्रस्थिताः क्षिप्र भौमाः जिनाः॥[7]

---

1. D.P.P. Names, Vol. II, p. 476
२. ल० वि० (वैद्य, गद्यभाग, पृ० ३१८
३. वही, पृ० ६३-६६
4. D.P.P, Names, Vol. I, 249-272
५. वही, (शास्त्री), श्लोक १४५०, १४६४
६. वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १
७. वही, (शास्त्री), श्लोक २३३

कपिलवस्तु महानगर के सभा भवन में सिद्धार्थ ने युवती कन्याओं को सुवर्णमय, रजतमय, विविध रत्नमय अशोकभाण्ड वितरित किये।[1] अशोकभाण्ड आदि वितरित करने का रिवाज था, शुद्धोदन की उक्ति से यह निश्चय होता है। बोधिसत्त्व मारचमू को जीतकर शीघ्र ही संबोधि प्राप्त करेंगे। जैसे मुनि ने और बोधिसत्त्व ने संबोधि प्राप्त की, उसी प्रकार सम्राट् अशोक और उनके पुत्र महेन्द्र भी संबोधि प्राप्त करेंगे।[2] यहां यह ज्ञात होता है किसी मुनि ने ज्ञान प्राप्त किया, जिसका नामोल्लेख नहीं है। महेन्द्र सम्राट् अशोक के पुत्र माने जाते हैं।

इसी प्रकार बोधिसत्त्व ने कहा मैं साधारण व्यक्ति नहीं हूँ, हम सब और सम्राट् अशोक शीघ्र ही संबोधि प्राप्त करेंगे।[3] सम्राट् अशोक ने अनेकों देशों पर विजय प्राप्त की थी। एक श्लोक से सम्राट् अशोक के राज्याभिषेक की सूचना प्राप्त होती है जैसे राजा का जहां ज्ञाति-संघ के द्वारा अभिषेक होता है वह उस स्थान को छोड़ता नहीं है, वहां राजकीय अभिसमय (convention) के अनुसार एक सप्ताह तक सिंहासन पर अवश्य बैठता है।[4] यह महाभिषेक प्रतीत होता है।

इसी प्रकार एक श्लोक में सम्राट् अशोक के कलिंग विजय की झलक प्राप्त होती है। जैसे वीर (सम्राट् अशोक) अपने द्वारा जीते हुए सब शत्रुगणों का निरीक्षण करता है, वैसे बुद्ध ने भी बोधिमंडप में अपने द्वारा मार डाले गए क्लेशों का निरीक्षण किया।[5]

वासुदेवशरण अग्रवाल ने कुछ कलिंग लेखों की ओर संकेत किया है।[6] कलिंग-विजय के बाद अशोक में बहुत परिवर्तन आ गया, वह चण्ड्राशोक से

---

१. ल०वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ९९

२. एष हि धरणिमण्डे पूर्वबुद्धासनस्थः
समथ धनु गृहीत्वा शून्यनैरात्मवाणैः।
क्लेश (? किलिश) रिपु निहत्वा दृष्टिजालं च भित्त्वा
शिवविरजमशोकां प्राप्स्यते बोधिमग्रयां ॥
—वही, (शास्त्री), श्लोक ३७०-३७१

३. वही, श्लोक ७८९

४. वही, श्लोक १२९७-१२९८, १३००

५. वही, श्लोक १२३९

६. इतिहास दर्शन, पृ० १०८-१०९

धर्माशोक बन गया। उसने धर्मयात्रायें कीं।[1] वह बौद्धधर्म का अनुयायी हो गया।[2]

यद्यपि यहां 'अशोकां' पद से सम्राट् अशोक की कल्पना की जा सकती है तथापि यह 'अशोकां' शब्द बोधि का विशेषण होकर आया है। इसी प्रकार अन्य प्रसंगों में भी शोकरहित ही इसका अर्थ करना उचित जान पड़ता है। किन्तु श्लेष के कारण सम्राट् अशोक से भी इसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। वस्तुतः ऐतिहासिक दृष्टि से अशोक का समय सिद्धार्थ की बोधिप्राप्ति के पश्चात् ही आता है।[3] ललितविस्तर के प्रथम परिवर्त्त का श्रावस्ती का दृश्य किसी बौद्ध संगीति (Buddhist council) या अध्यात्म-ज्ञान महासभा (Philosophical congress) से मिलता जुलता है।[4] राजगृह में जो गणोत्सव मनाया गया, उसमें अजातशत्रु के समय राजगृह में होनेवाली प्रथम बौद्धसंगीति की छाया है।[5] भारतीय इतिहास के निश्चय और प्रतिष्ठा में सम्राट् अशोक के शासन-काल का जिस प्रकार महत्त्व है और गौरव है वैसे ही इन चारों बौद्धसंगीतियों (Buddhist councils) का भी।

---

1. The Age of Imperial Unity, Vol. 2, p. 71-94
2. Dictionary of Pali Proper Names, Vol. I, p. 216-220
३. सम्राट् अशोक ने बुद्ध के परिनिर्वाण के २३६ वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र में तृतीय बौद्धसंगीति बुलाई। इसमें 'अभिधम्मपिटक' का संकलन हुआ और 'कथावत्थुप्पकरण' का प्रतिपादन किया गया। इस संगीति की अध्यक्षता मोग्गलिपुत्त तिष्य ने की। यहां यह स्मरणीय है कि प्रथम बौद्ध संगीति अजातशत्रु के समय आनन्द की अध्यक्षता में राजगृह में हुई। द्वितीय बौद्ध संगीति कालाशोक या काकवर्ण के समय वैशाली में बुलाई गई, जिसमें रेवत, यश, काकण्डक और सुमन उपस्थित थे, इसमें विनय (विनयपिटक) के नियमों का संकलन और निश्चय किया गया। महावंस में भी प्रथम, द्वितीय और तृतीय बौद्धधम्मसंगीतियों का उल्लेख है (महावंस, पृ० १२-२५)। चौथी बौद्ध संगीति कनिष्क के शासन काल में काश्मीर में आयोजित की गई। इस संगीति के अध्यक्ष वसुबंधु और उपाध्यक्ष अश्वघोष थे। इसीमें वसुबंधु ने अभिधर्मकोश को रचकर प्रस्तुत किया। —डा० महेश तिवारी, 'पालिपाठसंग्रहो' भाग २, पालिप्रसार समिति, नालन्दा, १९८०, गाथा २९, ६, ८
४. ल०वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १-३
५. वही, पृ० १८१

मायादेवी—मायादेवी शुद्धोदन की प्रधान भार्या है । उसका मातृकुल और पितृकुल दोनों शुद्ध है । वह रूप, गुण, विद्या आदि सभी शुभ लक्षणों से संपन्न है । उसका बल दशसहस्र हाथियों के समान है । वही जम्बुद्वीप में ऐसी नारी है जो पुरुषोत्तम को गर्भ में धारण करेगी । कुलशुद्धि परिवर्त्त में मायादेवी के गुणों का वर्णन है ।[1] वह सर्वार्थसिद्ध सिद्धार्थ की माता है । सिद्धार्थ को गर्भ में धारण करने पर उसने अपना दोहद राजा शुद्धोदन के सम्मुख प्रकट किया कि बन्दियों को कारागार से मुक्त कर दें । वस्त्र, अन्न, रथ, घोड़ागाड़ियां दान में दें । प्रजा में किसी प्रकार का कलह और विवाद न हो, सब एक दूसरे के प्रति मैत्रीभाव रखें, राजकर्मचारी, सैनिक आदि किसी के प्रति कठोरता का व्यवहार न रखें, सारी प्रजा को इकलौते पुत्र के समान अनन्यप्रेम से देखें ।[2] बोधिसत्त्व के मायादेवी के गर्भ में होने के कारण अनेकों दिव्य शक्तियों ने चमत्कार पैदा किये—यदि किसी रोगी के मस्तक पर हाथ रख देती थी तो वह निरोग हो जाता था, तिनकों का गुच्छा देने पर रोगी व्याधि से रहित हो जाते थे । जैसे चन्द्रमा आकाश में नक्षत्रों से व्याप्त होकर सुशोभित होता है, वैसे ही बोधिसत्त्व के मां के उदर में स्थित होने पर, वे ३२ लक्षणों और ८० अनुव्यंजनों से सुशोभित हुए ।[3]

लुम्बिनीवन में मायादेवी ने प्लक्ष के पेड़ के नीचे बोधिसत्त्व को जन्म दिया । जब उन्होंने मां की कोख से जन्म लिया, वे गर्भ की गन्दगी से अछूते थे ।[4] देवताओं ने मायादेवी के गर्भ में रत्नव्यूह बना दिया था, इसलिए गर्भ-स्थल के मल का उनके शरीर पर प्रभाव नहीं हुआ । यह सब वैज्ञानिक सत्य नहीं है । गर्भस्थल में रत्नव्यूह पर्यङ्क, या रत्नव्यूह कूटागार नहीं बनाया जा सकता । बोधिसत्त्व के जन्म के सात दिन बाद मायादेवी काल-कवलित कर गईं । वे त्रयस्त्रिंश लोक में देवताओं के बीच उत्पन्न हुईं ।

बोधिसत्त्व दुष्करचर्या करते-करते इतने दुर्बल हो गए कि सबको उनकी मृत्यु की आशंका पैदा हुई । जब देवपुत्रों ने मायादेवी को त्रयस्त्रिंक लोक में यह सूचना दी तो मायादेवी अर्धरात्रि में, अप्सराओं के समूह के साथ, नैरञ्जना

---

१. ल०वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १८-२१

२. वही, (शास्त्री), श्लोक ८४

३. वही श्लोक ८२-८४, १८४-१८७

४. वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ६१

नदी के तीर पर आकर, सिद्धार्थ के दुर्बल शरीर को देखकर करुण विलाप किया ।[1]

बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया मैं असित महर्षि और दीपङ्कर बुद्ध की भविष्य-वाणी को प्रत्यक्ष करके दिखलाऊँगा । मेरा निश्चय बोधिप्राप्ति के लिए दृढ़ है। चाहे पृथिवी टुकड़े-टुकड़े हो जाए, सुमेरु पानी में डूब जाए, चन्द्र, सूर्य और तारे धरती पर गिर पड़ें मैं अपने संकल्प से पीछे नहीं हटूंगा ।[2]

माया या महामाया ऐतिहासिक पात्र है । यह बुद्ध की माता है । इसके पिता शाक्य थे, जो कि देहदह के निवासी थे । इसकी मां का नाम यशोधरा था । दण्डपाणि और सुप्रबुद्ध इसके भाई थे । महाप्रजापती इसकी बहिन थी । दोनों बहिनों का शुद्धोदन से विवाह हुआ था ।[3]

महाप्रजापती गौतमी— शाक्याङ्गना महाप्रजापती गौतमी कुमार सिद्धार्थ की ममतामयी मौसी है ।[4] उसी ने सिद्धार्थ का पालन-पोषण कर उसे बड़ा किया । वह कुमार को देवकुल में ले जाने के लिए अलंकृत करती है । उसके अंग-अंग में मातृत्व और वात्सल्य ओतप्रोत है । कृषिग्राम में सिद्धार्थ के जाने पर वह व्याकुल हो उठती है ।[5] कुमार सिद्धार्थ को अभिनिष्क्रमण के लिए उत्सुक जानकर महा-प्रजापती गौतमी ने दासियों द्वारा तरह-तरह के प्रतिबंध लगा दिये कि कुमार घर से न निकल सकें तथा कुलवृद्धि और वंशवृद्धि के लिए चिन्तित हो उठी[6] कुमार के अभिनिष्क्रमण करने पर सारे नगर में हलचल मच गई । प्रजापती ने राजा शुद्धोदन से कहा शीघ्र ही मुझे मेरे पुत्र से मिला दो ।[7]

प्रजापती एक अच्छी सास है गोपा के विलाप करने पर उसे उसने आश्वासन दिया ।[8] जब बोधिसत्त्व के राजकीय आभूषण छन्दक ने गौतमी को दिये तो उसने उन आभूषणों के नाम से या मूल्य से पुष्करिणी बनवा दी, जो आभरण पुष्करिणी के नाम से विख्यात है ।[9]

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ७८२-७८७, ७८८
२. वही, श्लोक ७८९ ।
3. D.P.P. Names, Vol. II, p. 608-610
४. ल०वि० (वैद्य), गद्यभाग पृ० ७२
५. वही (शास्त्री), श्लोक ३३१
६. वही, श्लोक ६११
७. वही (वैद्य), गद्यभाग पृ० १९५
८. वही, (शास्त्री), श्लोक ११०
९. वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १६६

महाप्रजापती ममता और वात्सल्य की प्रतिमा है। शुद्धोदन के प्रति बड़ी ईमानदार है। चेटियों, दासियों और दासों के तथा जाति के बंधु-बांधवों के प्रति वह बड़ी सदय है। वह शुद्धोदन के वश की वृद्धि चाहती है, और हर तरह से प्रयत्न करती है कि कुमार राज्य-कार्य त्यागकर प्रव्रज्या न लें, भिक्षुजीवन व्यतीत न करें।

गोपा—गोपा (यशोधरा) ऐतिहासिक पात्र है। गोपा के लिए 'यशवती' शब्द यशोधरा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[1] ललितविस्तर में इसे दण्डपाणि की पुत्री, सिद्धार्थ की भार्या और शुद्धोदन की पुत्रवधू कहा है। पालि-साहित्य में इसे गौतम सिद्धार्थ की पत्नी और राहुलमाता कहा गया है, इसके अन्य कई नाम हैं जैसे बिम्बादेवी, बिम्बासुन्दरी, सुभद्दकच्चा आदि।[2] ललितविस्तर के कवि ने अशोकभाण्ड वितरण के अवसर पर सिद्धार्थ और गोपा में पूर्वानुराग दिखाया है। विवाह की रस्म सर्वार्थसिद्ध सिद्धार्थ के सभी शिल्पों में विजयी होने पर संपन्न होती है। विवाह होने पर गोपा घूंघट नहीं निकालती है उसने शील तथा लज्जा आदि गुणों की महिमा पर बल दिया।[3] सर्वार्थसिद्ध बुद्ध के अभिनिष्क्रमण से पूर्व गोपा ने दुःस्वप्न देखे परन्तु सिद्धार्थ ने गोपा से कहा कि ये स्वप्न बुरे नहीं हैं, तुम्हारी विश्व में पूजा होगी। सिद्धार्थ के अर्धरात्रि में बिना बताये घर त्याग देने पर, गोपा मूर्च्छित हो गई और उसने हृदयद्रावक बड़ा करुण विलाप किया।[4] ललितविस्तरकार ने सर्वार्थसिद्ध और गोपा के पुत्र राहुल की किसी भी प्रसंग में चर्चा नहीं की है। बुद्ध के संबोधि प्राप्त करने के बाद अपनी पत्नी गोपा, पुत्र राहुल, पिता शुद्धोदन आदि से मुलाकात का कहीं वर्णन नहीं है जबकि पालि साहित्य में, बुद्धचरित और सिद्धार्थचरितम् नाटक में वह परिवार के व्यक्तियों के दर्शन करते हैं। गोपा में पतिभक्ति है वह विवाह के बाद अपने पति सर्वार्थसिद्ध के दर्शन में सुमङ्गल अनुभव करती है।[5] वह श्वसुरकुल में सबका प्रेम प्राप्त करती है। प्रजापती मौसी उसे पति के वियोग में आश्वासन देती है।[6] गोपा के विलाप को और दृढ़ पतिभक्ति को

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ६५६
2 D P. P. Names Vol. II, p, 741-744
३. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ३८०-३८३
४. वही, श्लोक ६८६, ७०८-७२६
५. वही, (शास्त्री), श्लोक ३७२-३७६
६. वही, श्लोक ६६४

देखकर छन्दक सारथि ने उसके सामने अपनी विवशता प्रकट की और समाश्वासन दिया ।[1]

सुजाता—नन्दिक संज्ञा वाले ग्रामनेता की पुत्री सुजाता प्रतिदिन ८०० ब्राह्मणों को भोजन खिलाती थी कि उसके भोजन को खाकर सर्वार्थसिद्ध सम्यक् संबोधि प्राप्त करें।[2] उसने यह अभिलाषा की कि उसका पकाया हुआ भोजन खाकर बोधिसत्त्व सम्यक् संबोधि प्राप्त करेंगे।[3] सुजाता ने अनेकों यज्ञ किये कि ललितविस्तर महाकाव्य के नायक बोधिसत्त्व का व्रत सफल हो।[4] उसने अनेकों गायों के दूध में नये पात्र में, नये चावलों से रसोई को स्वच्छ करके मधुपायस पकाया और सर्वार्थसिद्ध को अर्पित किया। बुद्ध ने भोजन करके उस स्वर्णपात्र को नदी के जल में फेंक दिया। सुजाता को पालि-साहित्य में सोभित और प्रियदर्शी बुद्ध की प्रमुख सेविका कहा है। वह पदुमुत्तर बुद्ध और कोण्डञ्ञ बुद्ध की मां है। इसका एक असुर युवती के रूप में भी वर्णन मिलता है, जो शक्र की भार्या थी।

अन्यत्र वह उरुवेला के पास स्थित सेनानी ग्राम के भूमिपति की पुत्री है। उसकी यह अभिलाषा थी कि यदि उसके पुत्र उत्पन्न हुआ तो वह केले के वृक्ष के नीचे देवता को पायस (mill-rice) समर्पित करेगी। उसने अपनी दासी पुण्णा को ऐसा स्थान खोजने के लिए भेजा, जहां देवता स्थित हो। बुद्ध की संबोधि का प्रथम दिन था, पुण्णा ने गौतम बुद्ध को केले के वृक्ष के नीचे वृक्ष-देवता समझा, दासी ने यह समाचार सुजाता को दिया। सुजाता ने मुदित होकर, खाद्य पदार्थ स्वर्ण पात्र में बुद्ध को समर्पित किये, इत्यादि। सुजाता के पुत्र का नाम यश था। गुजराती कथा में भी सुजाता ने पुत्र प्राप्त होने पर मनौती मनाई थी। ललितविस्तर में सुजाता के पुत्र, पुत्रवधू आदि की कोई चर्चा नहीं है। सुजाता को विशाखा की छोटी बहन और धनञ्जय सेठ की पुत्री कहा गया है, उसका विवाह अनाथपिण्डक से हुआ था। सुजाता को राहुलमाता भी कहा गया है। सुजाता को साकेत के एक सेठ की पुत्री कहा गया है वह बुद्ध की भक्त थी। उसे थेरी भी कहा गया है। उसने अपने पति की आज्ञा से बौद्ध धर्म स्वीकार किया।

---

१. ल० वि०, (शास्त्री) श्लोक ७२७-७४६
२. वही, (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १९४
३. वही, पृ० १९५
४. वही, (शास्त्री), श्लोक ८४५, ८४९-८५०

छन्दक—छन्दक सर्वार्थसिद्ध का विश्वास पात्र, स्वामिभक्त सेवक है। वह अश्वपाल है, सारथि है। वह कुलक्रमागत दास है एवं ऐतिहासिक पात्र है। इसका जन्म उसी दिन हुआ, जिस दिन सर्वार्थसिद्ध का जन्म हुआ।[1] विमला नामक उद्यानदेवता ने ललितविस्तर में कहा है कि सिद्धार्थ की काया पुण्यों के कारण दीप्त है वे सैकड़ों गुणों और तेज से विभूषित हैं, उनके शरीर पर ये आभूषण नहीं फवेंगे। इसलिए शुभ राजकुल में जो छन्दक नामक दास उत्पन्न हुआ है उसे ये आभूषण दे दो, इससे शाक्यकुलनन्दन की विपुल वृद्धि होगी।[2]

वह सिद्धार्थ को कृषिग्राम में जाने के लिए कहकर उसका मनोविनोद करना चाहता है और कहता है ब्राह्मणों की तरह हर समय घर में पड़े रहना अच्छा नहीं है।[3] यह सुनकर सिद्धार्थ पांच सौ शाक्यकुमारों की मंडली के साथ, माता-पिता को बिना बताये कृषिग्राम में जाकर जम्बूवृक्ष के नीचे समाधिस्थ हो गए।

जब सारथि छन्दक के साथ, कुमार सिद्धार्थ उद्यानभूमि में गये तो वहां रास्ते में उन्होंने वृद्ध, रोगी, मृतक, प्रव्रजित पुरुष को देखकर योगी की तरह संसार के प्रति वैराग्य प्रकट किया, और छन्दक से अनेकों प्रश्न किये। छन्दक ने सिद्धार्थ को भिक्षु के गुण बताये। सिद्धार्थ ने प्रव्रज्या की प्रशंसा की।[4] सिद्धार्थ छन्दक को श्रेष्ठ सारथि कहते हैं। छन्दक सिद्धार्थ का रथ हांकने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझता था। इस प्रसंग में सिद्धार्थ का छन्दक के साथ दार्शनिक और गम्भीर वार्तालाप होता है। अभिनिष्क्रमण से पूर्व सिद्धार्थ ने छन्दक से कहा, विलम्ब मत करो, अश्वराज कन्थक को सजाकर मुझे दे दो।[5] यहां दोनों का पुनः वार्तालाप होता है। सर्वार्थसिद्ध अपने निश्चय पर दृढ़ रहे।[6] छन्दक ने कहा हे आर्यपुत्र सिद्धार्थ, यह आपके घर से जाने का काल नहीं है। सिद्धार्थ ने कहा इसी समय पुष्य नक्षत्र का योग है, जल्दी करो। छन्दक कन्थक अश्व को सजाकर बौधिसत्त्व के पास लाया। बौधिसत्त्व अश्वराज कन्थक पर सवार होकर अनुवैनेय नामक कस्बे (निगम) पर पहुंचे। बोधिसत्त्व ने काशी के

---

१. ल० वि०, (शास्त्री), श्लोक २३०
२. वही, श्लोक २९६
३. वही, श्लोक ३२२-३२३, ३२५
४. वही, श्लोक ५५८-५५९
५. वही, श्लोक ६२१
६. वही, श्लोक ६३९-६४०

राजसी वस्त्र, आभूषण और कन्थक को छन्दक को वापिस कर कपिल वस्तु राजधानी में भेज दिया। जहां छन्दक सर्वार्थसिद्ध को छोड़कर वापिस लौटा, उस स्थान पर चैत्य की स्थापना की गई, वह स्थान 'चैत्य छन्दक निवर्त्तन' नाम से प्रसिद्ध है। इससे छन्दक का महत्व सूचित होता है।

छन्दक अकेला वापिस नहीं जाना चाहता था, डरता था कि शाक्यसंघ के व्यक्ति उसे मार डालेंगे।[1] सिद्धार्थ ने उसे आश्वासन दिया कि डरो मत, वे मेरे समान तुम्हारे प्रति भी प्रेमभाव रखेंगे।[2] छन्दक उत्तम अश्व कन्थक और आभूषणों को लेकर शुद्धोदन के पास उद्यान में पहुंचा। कुमार सिद्धार्थ को न देखकर शुद्धोदन विलाप कर रोए। छन्दक ने सारी घटना कह दी। सिद्धार्थ के आभूषणों, छन्दक और अश्व को देखकर गोपा मूर्च्छित हो गई। छन्दक के समझाने[3] पर भी उसने बहुत करुण विलाप किया।

जब संबोधि प्राप्त करके सिद्धार्थ शाक्यकुल के लोगों से मिले, छन्दक ने भी स्वामिभक्ति के कारण बौद्ध-धर्म स्वीकार कर लिया। पालि-साहित्य के अनुसार बाद में उसने कई अपराध किये, वह अपनी सर्विस से छुट्टी लेकर सिद्धार्थ के पास रहना चाहता था, उसे छुट्टी नहीं दी गई।[4]

प्रकृति-चित्रण

संस्कृत के काव्यशास्त्र के आचार्यों ने महाकाव्य, चम्पूकाव्य आदि में प्रकृति का वर्णन आवश्यक माना हैं—संध्या, सूर्य, इन्दु, रजनी, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातः, मध्याह्न, मृगया, शैल, ऋतु, सागर, वन, संयोग, वियोग, मुनि आदि का उपनिबन्धन प्रायः सभी काव्यों में उपलब्ध है। इसलिए संस्कृत साहित्य के कवियों द्वारा महाकाव्यों आदि में प्रकृति-चित्रण एक परम्परा सी बन गई है। प्रस्तुत चम्पूकाव्य में कवि ने प्रकृति के प्रति अपने अनुराग को यथास्थान अभिव्यक्त कर अपनी कवि-प्रतिभा का परिचय दिया है। प्रायः कवि प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन रूपों को अपने काव्य में स्थान देकर प्रकृति के रमणीय दृश्य उपस्थित करते हैं, प्रकृति ही भावों का आलम्बन बनकर रसानुभूति कराती है।

---

१. ल० वि०, (शास्त्री), श्लोक ६६७

२. वही, श्लोक ६६८

३. वही, श्लोक ७२७-७४६

4. D. P. P. Names Vol. I, p. 923-924

शृंगार रस के उद्दीपन के साथ-साथ इस काव्य में प्रकृति का वर्णन शान्त रस के उद्दीपन विभाव के रूप में भी हुआ है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, उल्लेख आदि अलंकारों के लिए प्राकृतिक उपमानों का चयन कवि ने किया है। प्रकृति वर्णन पर कवि ने बाणभट्ट आदि की तरह पृष्ठ के पृष्ठ नहीं भरे हैं फिर भी प्रसंग के अनुरूप प्रकृति का वर्णन किया है जो कवि-प्रतिभा का परिचायक है।

सिद्धार्थ छन्दक का मन बहलाने के लिए कृषिग्राम की शोभा दिखाना चाहता है। ग्रीष्म और वसंत के संधिकाल में ज्येष्ठ मास के प्रारम्भ होने पर सभी युवक बाहर घूमने में रुचि लेते हैं। उस समय सब ओर फूल ही फूल होते हैं, फूल और पत्ते चारों ओर बिखरे हुए होते हैं, सारस, मोर, शुक और सारिकाएं चहचहाती हैं, भ्रमण के लिए यह समय अत्यन्त, आकर्षक है—

ग्रीष्मे वसन्त समुदागत ज्येष्ठमासे
संपुष्पिते कुसुमपल्लवसंप्रकीर्णे
कौञ्चामयूरशुकसारिकसंप्रघुष्टे
भूपिष्ठ साकियसुता अभिनिष्क्रमन्ति ॥[1]

इसी प्रकार छाया का वर्णन है कि सूर्य के ढलने पर भी वह वृक्षों को नहीं छोड़ रही है, पद्म-पत्र की भांति उस श्रेष्ठ-वृक्ष से लटक रही है—

परिवृत्त सूर्य न जही सुगतस्य छाया।
ओलम्बते द्रुमवरं यथ पद्मपत्रं ॥[2]

कवि ने प्रकृति के प्रति सूक्ष्मदृष्टि रखी है प्रकृति और मानव परस्पर संवेदनशीलता का अनुभव करते हैं। सर्वार्थसिद्ध के अभिनिष्क्रमण के समय प्रकृति में उदासी छा जाती है, हंस, सारस, मोर, सारिकाएं, शुक महलों पर झरोखों पर, तोरणों पर, अटारियों के मचानों पर बैठे दीन-हीन, अनमने होकर, सोचते थे और अपनी बोली नहीं बोलते थे। सरोवरों के कमल मुरझा गये थे, पेड़ों के पत्ते सूख रहे थे, फूल खिल नहीं रहे थे, वीणा, वल्लकी, वंश आदि के तार अकस्मात् टूट जाते थे, भेरियां और मृदंग हाथ से छूट जाते थे[3] ऐसा संवेदनशील वर्णन बौद्ध-संस्कृत-साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ है।

उरुविल्वा सेनापति ग्राम का वातावरण प्रशान्त, पुनीत और एकान्त था। शान्त रस, समाधि और भक्ति के अनुकूल था। सिद्धार्थ ने वहां नैरञ्जना

---

१. ल० वि० (शास्त्री), श्लोक ३२१
२. वही, श्लोक ३३०
३. वही, (शास्त्री), श्लोक ५६३, ५६४

नदी और उसके स्वच्छ जल को देखा । उसके घाट और पुल सुन्दर थे, किनारे के चारों ओर पेड़ और लताकुञ्ज थे···वह भूमि प्रदेश सम है, रमणीय है, एकान्त ध्यानविहार के लिए अनुकूल है इत्यादि, यह प्रसंग शान्त रस, निर्वाण की साधनभूत समाधि के लिए उद्दीपन विभाव का कार्य करता है ।[1]

रमणीयान्यरण्यानि वनगुल्माश्च वीरुधाः ।
प्राचीनमुरु बिल्वायां यत्र नैरञ्जना नदी ।।[2]

इस काव्य का प्रधान और अंगी रस शान्त है श्रृंगार नहीं । प्रायः प्रकृति का मनोरम वर्णन श्रृंङ्गार रस के विभाव के रूप में काव्यों में उपनिबद्ध होता है । ललितविस्तर में प्रकृति का वर्णन उद्दीपन विभाव के रूप में कम ही आया है वह वर्णन प्रायः बुद्ध (बोधिसत्त्व) के कथा प्रसंगों के रूप में, उनके व्यक्तित्व के अभिव्यंजन में प्रकट हुआ है, जैसे—

सूर्य प्रभावं भवते द्रुम-कुड्य छाया
सन्तापयाति च तनुं प्रकरोति धर्मं ।
हंसामयूरशुककोकिलचक्रवाकाः
प्रत्यूषकालसमये स्वरूता भवन्ति ।।
आभा इयं तु नरवेव सुखा मनोज्ञा
प्रह्लादनी शुभकरी न करोति दाहं ।
कुड्या च वृक्ष अभिभूय न चास्ति छाया
निस्संशयं गुणधरो इह अद्य प्राप्तः ।।[3]

इससे प्रतीत होता है कि गुणधर अवश्य ही यहां उपस्थित हो रहे हैं ।

एष वसन्त कोल समयः प्रवर ऋतुवरो—
नारिनराण हर्षणकरो निहतमुरजः ।।
कोकिलहंसमोररविशा द्विजगणकलितः
काल उपस्थितोऽनुभवितुं मदनगुणरतिं ।।[4]
पुष्पित पश्यिमां तरुवरां तरुणकिसलयां
कोकिलजीवजीवकरुता मधुकरविरुता ।

---

१. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० १८२, पं० १९-२१
२. वही, (शास्त्री), श्लोक ८२१
३. वही, श्लोक ५९२-५९३
४. वही, श्लोक १०४७

स्निग्धसु नीलकुंचित मृदुं धरणितलरुहे
किन्नरसंघ सेवितवने रमसु युवतिभिः ॥[1]

मारकन्याएं प्रेम की मादकता और प्रेम के भाव को उत्पन्न कर, अंग प्रत्यंगों को अलंकृत कर हावभाव दिखाती हुई, बोधिसत्त्व को लुभाने के लिए कहती हैं "यह वसंत का मनोरम समय उपस्थित है जो सभी नर, नारियों को हर्ष प्रदायी है। आकाश में धूल और अंधकार शान्त हो गया है। कोकिल, हंस, मयूर, अपने मधुर कलरव से सबको लुभा रहे हैं। यह वह समय उपस्थित है, जिसमें काम-गुणों का सानन्द अनुभव करना चाहिए। देखो, इन वृक्षों को जो अब पल्लवों और पुष्पों से अलंकृत हैं, कोकिल कूक रही हैं, चक्रवाक कूज रहे हैं, भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। धरती अतिशय मृदु, सुकुमार, हरी-भरी, घुंघराली घास से अलंकृत है, किन्नर गण भी विराजमान हैं, ऐसे समय तुम यहां युवतियों के साथ रमण करो।"

उद्दीपन विभाव के रूप में उपनिबद्ध यह मनोरम प्रकृति का वर्णन कितना मनोहारी है।

एक अन्य स्थल पर माया देवी द्वारा शुद्धोदन से, उद्यान भूमि में विहार के प्रस्ताव के रूप में, प्रकृति की शोभा का कितना आकर्षक रूप प्रस्तुत हुआ है—

ऋतुप्रवर वसंतो योषितां मण्डनीयो
भ्रमररवविघुष्टाः कोकिलबर्हिगीताः।
शुचिरुचिरविचित्रा भ्राम्यते पुष्परेणुः
साधु ददहि आज्ञां गच्छमी मा विलम्बः ॥[2]

स्त्रियों को मण्डित करने वाला, श्रेष्ठ ऋतु वसंत उपस्थित है। इस समय भ्रमर मधुर गुंजार कर रहे हैं, कोकिल और मयूर सुमधुर गान कर रहे हैं। सुन्दर एवं रंग-बिरंगे फूलों का पराग उड़ रहा है। अतः उचित है कि आप आज्ञा दें और हम उद्यानभूमि में चलकर विहार करें। देर न करें। वसंत ऋतु का वर्णन इससे पूर्व भी कवि ने किया है—

शिशिरकालविनिर्गते वैशाखमासे विशाखानक्षत्रानुगते ऋतुप्रवरे वसंत-कालसमये तरुवरपत्राकीर्णे वरप्रवरपुष्पसंकुसुमिते शीतोष्णतमोरजोविगते

---

१. ल० वि०, श्लोक १०५६

२. वही, श्लोक १६५

मृदुशाद्वले सुसंस्थिते—जनन्या दक्षिणायां कुक्षावक्रामत् ।[1] गर्भ धारण करने के लिए भी यह काल उचित और अनुकूल है ।

कपिलवस्तु महानगर मन्दार, पारिजात, चन्द्र, सुचन्द्र, स्थाल नामक पुष्प-विशेषों से सुशोभित हैं ।[2] चारों ओर वृक्ष फूले हुए हैं, शालवृक्ष भली-भांति पुष्पित हो गये हैं ।[3] पर्वत की चोटी पर चिकने मूंगे जैसे लाल-लाल अंकुर निकल आये हैं । पेड़ सुन्दर फूलों और फलों से भर गए हैं ।[4] सिद्धार्थ का जन्म होने वाला है इसलिए प्रकृति उल्लास से भर गई है ।

ललितविस्तर में रस

काव्य की आत्मा के सम्बन्ध में काव्यशास्त्र के आचार्यों में पर्याप्त मतभेद होते हुए भी, काव्य में रस का महत्त्व सर्वाधिक है । रस के बिना काव्य नीरस और निस्सार हो जाता हैं । भरत[5] शौद्धोदनि,[6] रुद्रट,[7] विश्वनाथ,[8] पण्डितराज जगन्नाथ[9] रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करते हैं । आनन्दवर्धन ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए, ध्वनि के एक अंग के रूप में रस को मानकर उसे आत्मतत्त्व के रूप में आदर देते हैं ।[10] वस्तुत: रस ही वह तत्त्व है जिसके आस्वाद के समय सहृदय ब्रह्मास्वाद सहोदर आनन्द का अनुभव करता है ।[11] रस ही वह तत्त्व है जिसका आस्वाद करते हुए पाठक कान्तासम्मित उपदेश

---

१ ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ४३
२. वही, (शास्त्री) श्लोक ११४
३. वही, श्लोक २१५
४. वही, श्लोक २४७
५. नाट्यशास्त्र, १६. ११८
६. काव्यं रसादिमद् वाक्यम् । —अलंकारशेखर १. १
७. तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् । —काव्यालंकार १२.२
८. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । —सा० द० १. ३
९. रमणीयार्थप्रतिपादक: शब्द: काव्यम् । रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता । —रसगंगाधर, पृ० ९-१०
१०. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे: पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ: शोक: श्लोकत्वमागत: ।। —ध्वन्यालोक १. ५
११. (क) लोकोत्तरचमत्कारकारी श्रृंङ्गारादिको रस: । —अभिनव भारती
(ख) ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी श्रृंङ्गारादिको रस: । —काव्यप्रकाश ४, पृ० ११४

को हृदयंगम करता है। प्रायः सभी आलंकारिकों ने बिना किसी विप्रतिपत्ति के रस को काव्यात्मा का स्थान दिया हैं।[1] इस प्रकार रस काव्य का सर्वस्व है। नाट्यशास्त्र का विधान है कि काव्य को रस से उसी प्रकार ओत-प्रोत रखना चाहिए, जैसे मधुमास में उद्यान की भूमि पुष्पावकीर्ण होती है।[2] यही कारण है कि आदि कवि वाल्मीकि से लेकर आधुनिक काल तक के कवि काव्य में रस-योजना के प्रति निरन्तर सचेष्ट रहे हैं। अश्वघोष, आर्यशूर, रट्ठपाल, वैदेह थेर आदि बौद्ध कवि भी इसके अपवाद नहीं हैं, जिनकी रचनाओं का उद्देश्य बौद्ध धर्म की शिक्षाओं का प्रचार करना रहा है। प्रस्तुत काव्य ललितविस्तर का कवि भी काव्य में रस-योजना को विशेष महत्त्व देता है और इस काव्य में शृंगार, वीर, भक्ति, वात्सल्य आदि रसों की योजना में अपनी प्रतिभा को पूर्ण अवकाश प्रदान करता है।

रस-योजना के लिए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों की योजना करता है और उनके द्वारा परिपोष को प्राप्त होकर, स्थायिभाव आस्वादयोग्य होता है तथा रस कहलाता है। वस्तुतः स्थायिभाव का यह आस्वाद ही रस कहा जाता है।[3] स्थायिभाव आठ हैं रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय।[4] निर्वेद भाव जिसकी गणना नाट्य-शास्त्र में व्यभिचारिभावों में की है, वह भी काव्य में परिपुष्ट होता है अतः उसे भी स्थायिभाव मान लिया गया है।[5] इन नौ स्थायिभावों से परिपुष्ट होकर, इनका आस्वाद होने पर क्रमशः शृगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शांत रस स्वीकार किये जाते हैं।[6] रतिभाव अर्थात् प्रेम यदि देव, द्विज, गुरु आदि के प्रति हो और विभाव आदि की योजना द्वारा वह आस्वाद्य हो रहा हो तो उसे प्राचीन आचार्यों ने 'भाव' माना था।[7]

---

१. काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः।
—व्यक्तिविवेक, पृ० २६
(प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी की रचना 'महिम भट्ट' से उद्धृत) पृ० १८६

२. पुष्पावकीर्णाः कर्त्तव्याः काव्येषु हि रसाः बुधैः ॥ —ना० शा० ७, १२०

३. काव्यप्रकाश ४, का० २८

४. वही, उल्लास ४, का० ३०

५. निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमोरसः। — काव्यप्रकाश ४, का० ३५

६. शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः
बीभत्साद्भुतसंज्ञौचेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः। —का० प्र०, ४, का० २६

७. वही, ४ का० ३५

किन्तु रूपगोस्वामी तथा उनसे परवर्ती आचार्यों ने उपर्युक्त रतिभाव के परिपोष की स्थिति में भक्तिरस स्वीकार किया है। इसी प्रकार बालक, बालिका के प्रति रतिभाव के आस्वाद-योग्य होने पर विश्वनाथ आदि आचार्यों ने वात्सल्य नामक रस की सत्ता स्वीकार की है। इन दोनों रसों को मिलाकर कुल ग्यारह रस हो जाते हैं।

जैसा कि ऊपर की पंक्तियों में संकेत किया जा चुका है उपर्युक्त स्थायिभावों की आस्वादयोग्यता के लिए कवि विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारिभावों की योजना स्वीकार करता है। काव्य में विभाव के दो प्रकार हैं आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन विभाव से तात्पर्य उस पात्र से है जिसके प्रति रति, हास्य, शोक, क्रोध आदि भाव उत्पन्न हो रहे हैं। उदाहरणार्थ शृंगार रस के प्रसंग में नायक के प्रेम का पात्र नायिका तथा नायिका को आश्रय मानकर रचित काव्य में नायिका के प्रेम का पात्र नायक आलम्बन विभाव कहलाता है।[1] वह देश और काल जो रस को उद्दीप्त करता है, उद्दीपन विभाव कहा जाता है।[2] वसंत आदि ऋतुओं का, पर्वत, नदी-तट, आदि प्राकृतिक रम्य स्थानों का वर्णन इसीलिए काव्य में किया जाता है कि वह नायक-नायिकागत रति आदि भावों के उद्दीपन का कारण बनते हैं।[3] नायक, नायिका आदि के कार्य जो अपने कारणों से उत्पन्न होकर उनके भावों का प्रकाशन करते हैं, उन्हें अनुभाव कहा जाता है।[4] इनके अतिरिक्त स्त्री आदि आलम्बन के अंगज और स्वभावज अलंकार तथा उनकी चेष्टाओं को सात्त्विकभाव कहते हैं ये भी नायक-नायिकागत भावों का अनुभव कराते हैं अतः इन्हें भी अनुभावों के अन्तर्गत गिना जाता है।[5] व्यभिचारी भाव जिन्हें परवर्ती काल में संचारीभाव कहा गया है, निर्वेद आदि

---

१. आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।
आलम्बनं नायकादिस्तमवलम्ब्य रसोद्गमात्॥ —सा० द० ३, २९

२. उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये॥ —सा० द० ३, १३१

३ आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा॥ —सा० द० ३, १३१-१३२

४. उद्बुद्धकारणैः स्वैः स्वैः बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥ —सा० द० ३, १३३

५. उक्ताः स्त्रीणामलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावजाः॥
तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः पराअपि।
विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विका परिकीर्त्तिताः॥
—सा० द० ३ का० १३३-१३४

निम्नलिखित तैंतिस हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्श, अवहित्था, (लज्जा), उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।[1] ये भाव स्थायिभाव के परिपोष के समय अस्थायी रूप से उदय और अस्त होते रहते हैं कुछ काल ही रहते हैं, सर्वकाल में नहीं, अतः 'व्यभिचरन्तीति व्यभिचारिणः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार व्यभिचारीभाव कहे जाते हैं।[2]

कवि अपने काव्य में स्थायीभावों के परिपोष के लिए स्त्री आदि आलम्बन विभाव[3] के ललित अंग प्रत्यंगों तथा चेष्टा आदि को उद्दीपन विभाव के रूप में, वन, उपवन, नदी, पुलिन आदि देश विशेष तथा वसंत के रमणीय वर्णन आदि काल विशेष का ललित वर्णन यथावसर करता हुआ काव्य को माधुर्य प्रदान करता है। उसमें रसवत्ता की प्रतिष्ठा करता है।

श्रृङ्गार, शान्त आदि रस—ललितविस्तर के अज्ञातनामा कवि ने भी अपने काव्य को रसमय बनाने के लिए इन विभावों, अनुभावों और व्यभिचारीभावों का यथावसर प्रयोग किया है। तथा विभिन्न वर्णनों द्वारा इस ललितकाव्य में यथावसर विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति हुई है।

रसों में श्रृंगार रस प्रधान है अतः प्रायः समस्त कविगण इस रस की अभिव्यक्ति के लिए कथावस्तु की ऐसी योजना करते हैं कि उन्हें इसके उन्मीलन का समुचित अवसर मिल सके। प्रस्तुत काव्य ललित-विस्तर के कथानायक बोधिसत्त्व रूप में सर्वार्थसिद्ध बुद्ध हैं और उन्हें आश्रय बनाकर शान्तरस की योजना में ही औचित्य है तथापि कवि ने मार-विजय के प्रसंग में, मारसेना के अंग के रूप में स्त्रियों की ललित चेष्टाओं का, प्रकृति के मनोरम दृश्यों का, वसंत की सुषमा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। औचित्य की दृष्टि से ये संपूर्ण श्रृंगार चेष्टायें अन्ततः शान्तरस के अंग के रूप में परिणत होती हैं। मारविजय के प्रकरण में मारसेना की गतिविधियां वीर

१. का० प्र०, ४, ३ -३४

२. विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः।
स्थापिन्युन्मग्ननिर्भग्नाः त्रयस्त्रिंशद्‌च तद्भिदाः॥ —सा० द० ३,१४०

३. सात आलम्बन-'गुण, रीति, वृत्ति, पाक, शय्या, रस, अलंकार' डा० भारतीय, महेश 'चमत्कार और काव्यानन्द' मेरठ-विश्वविद्यालय-संस्कृत-शोध-पत्रिका, १९८६, पृ० १४४

रस का आस्वाद कराती हैं और वह वीर रस भी काव्यार्थ की दृष्टि से बोधिसत्त्व के उदात्त स्वरूप की प्रतिष्ठा के लिए ही परिपुष्ट होता है और अन्त में शान्तरस को परिपोष प्रदान करता है। इस प्रकार शृङ्गार, वीर, करुण आदि रस अपने अपने क्षेत्र में आस्वाद्य-योग्यता को प्राप्त करते हुए, अन्त में शान्त रस को परिपुष्ट करने में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार इस ललितविस्तर महाकाव्य (चम्पूकाव्य) का प्रधान रस शान्त रस है। वही अङ्गी रस है। शृङ्गार, वीर आदि रस अंग रस के रूप में यथास्थान प्रतिष्ठित हुए हैं।

अग्रिम पृष्ठों में रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से ललितविस्तर के कुछ प्रसंग उदाहरण के रूप में प्रस्तुत हैं।

शृंगार के आलम्बन विभाव की योग्यता से संपन्न मारकन्याओं का रूप वर्णन भी ललितविस्तर में विस्तारपूर्वक उपनिबद्ध है। यद्यपि बोधिसत्त्व के निर्वेदभाव के परिपोषक के रूप में ही वह अन्ततः सिद्ध होता है, शृङ्गार के आलम्बन के रूप में नहीं—

केश मृदु सुरभीवरगन्धनिका,
मुकुटा-कुंडल-पत्रविबोधित-आननिका।
सुललाट-सुलेपन-आननिका,
पद्मविशुद्ध-विशाल-सुलोचनिका॥[1]
परिपूरितचन्द्रनिभाननिका,
बिम्बसुपक्वनिभाधरिका।
शंखकुंदहिमशुक्लसुदन्तिनिका
प्रेक्ष कान्त रतिलालसिका॥[2]

उत्तम सुगंध से सुवासित कोमल केशों वाली, मुकुट, कुंडल, विशेषक (बिन्दी, तिलक) आदि से अलंकृत आनन वाली, खिले हुए, निश्छल, विशाल, कमल सदृश नेत्रों वाली पूर्णिमा के चन्द्र तुल्य मुखवाली, सुपक्व बिम्बफल के सदृश लाल-लाल अधरोंवाली, शंख, कुन्द एवं हिम के समान शुभ्र दांतोंवाली, रति की लालसा से मुग्ध इन कमनीय कामिनियों पर दृष्टिपात करो।'

कठिनपीनपयोधर-उदगतिकां
त्रिवलीकृत-मध्य-सुसुन्दरिकां।

---

१. ल०वि०, श्लोक १०२८
२. वही, श्लोक १०२६

जघनाङ्गन-चारु-सुरित्थरिकां
प्रेक्षतु नाथ सुकामिनिकां
गजभुजसंनिभऊरणिकां
वलयनिरन्तरवाहनिकां।
कांचीवरस्रोणि-सुमण्डितिकां
प्रेक्षस्व नाथ इमा तव दासिनिकां ॥[1]

हे नाथ ! इस कठोर, उन्नत पयोधरों वाली, त्रिवली से सुशोभित मध्य भागवाली, विस्तृत रमणीय जघनस्थल वाली, हाथी की सूंड के समान वर्तुल ऊरुओं वाली, वलयों से अलंकृत बाहुओं वाली, दासी के रूप में उपस्थित इन रमणियों पर दृष्टिपात करो।"

हंसगतीसुविलम्बितगामिनकां,
मञ्जुमनोज्ञ सुमन्मथभासिनिकां।
ईदृशरूपसुभूषिणिकां
दिव्यरतीषु सुपण्डितिकां ॥
गीतक-वादित-नृत्यसुसिक्षितिकां
रतिकारणजातिसुरुपिणिकां।
यदि नेच्छसि कामसुलालसिकां
सुष्ठु वञ्चितकोऽसि भृसं खलु लोके ॥[2]

"हंस की भांति मंथर गतिवाली, मनोरम वाणी और चेष्टाओं से मन्मथ के भाव को प्रकट करनेवाली, इस लोकोत्तर रूपवाली दिव्य-रतिक्रीडा में परम कुशल, गीत-वादित्र और नृत्य-कला में कोविद, रति के लिए उत्तम जाति की, सुरुपवती, काम की लालसा रखनेवाली, इन रमणियों की यदि उपेक्षा करते हो, तो, जगत् में अवश्य ही वञ्चित हो।"

इन उपर्युक्त सभी पद्यों में रमणी-जनों के रमणीय अंग-प्रत्यंगों और गुणों का वर्णन किया गया है जो शृंगार रस के आलम्बन विभाव की पूर्ण योग्यता रखता है। किन्तु अन्ततः बोधिसत्त्व के हृदय में विद्यमान निर्वेद-भाव के परिपोष में हेतु हो रहा है।

भगवान् तथागत के राजा बिम्बसार के राजगृह में भिक्षा-हेतु उपस्थित होने पर, इस प्रसंग में उनके प्रति समस्त लोक के रतिभाव की व्यंजना निम्नलिखित पद्यों में आस्वाद्य है—

---

१. ल०वि०, श्लोक १०३०-१०३१
२. वही, श्लोक १०३२-१०३३

उपरि स्थिहिय नारिणां सहस्रा
तथरित्र द्वारि तथैव वातयाने ।
रथ्य भरित गेहि शून्य कृत्वा
नरवर प्रेक्षितु ते अनन्यकर्माः ॥[1]
न च भूयुक्रय-विक्रयं करोन्ती
न च पुन सौण्ड पिबन्ति मद्यपानं ।
न च गृहि न च वीथिये रमन्ते
पुरुषवरस्य निरीक्षमाण रूपं ॥[2]

नगर में भिक्षा-हेतु बोधिसत्त्व के विचरण करने पर, घर की छतों पर, द्वार पर, वातायनों पर, तथा सड़कों पर सहस्रों नारियां देखने के लिए सब काम छोड़कर जमा हो गयी थीं। उस समय बाजार में विद्यमान नागरिकजन क्रय-विक्रय करना भूल गये, शौण्ड (शराबी) मद्यपान करना भूल गये, घर और सड़कों पर नागरिक आमोद-प्रमोद करना भूल गये और सभी इन पुरुषश्रेष्ठ तथागत के रूप को देखने में तल्लीन हो गये।

पुरुष त्वरितु गच्छि राजगेहं
अवचिषु राज स बिम्बसार तुष्टो ।
देव परम तुभ्य लब्ध लाभा
स्वयमिह ब्रह्मपुरे चराति पिण्डं ॥
केचि अवचि शक्र देवराजो
अपरि भणन्तु सुयाम देवपुत्रः ।
तथ अपि सन्तुषितं व निर्मितश्च
अपरि भणन्ति सुनिर्मितेषु देवः ।
केचि पुन भणन्ति चन्द्रसूर्यौ
तथापि च राहु बलिश्च वेमचित्री ।
केचि पुन भणन्ति वाचमेवं
अपु सो पाण्डवशैलराजवासी ॥[3]

'उस समय दौड़कर अनेक राजपुरुष राजा के पास पहुँचे एवं हर्ष-विह्वल होकर उनसे कहने लगे कि 'महाराज, आपके मनोरथ पूर्ण हो गये। स्वयं ब्रह्म ही आपके नगर में भिक्षार्थी होकर उपस्थित हैं।' किन्हीं अन्य पुरुषों ने कहा—

१. ल० वि०, श्लोक ७५१
२. वही, श्लोक ७५१-७५२
३. वही, श्लोक ७५३-७५५

'महाराज देवराज शक्र, देवपुत्र सुयाम, संतुषित देव, चन्द्र, सूर्य, राहु, बलि, असुरपुत्र वेमचित्री अथवा वे हैं जो पाण्डव शैलराज पर निवास करते हैं।'

इन उपर्युक्त पद्यों में औत्सुक्य, हर्ष, आवेग आदि व्यभिचारि-भावों के द्वारा भगवान् तथागत के प्रति जन-जन का रतिभाव परिपुष्ट होकर अभिव्यक्त हो रहा है। अतः यहां भक्तिरस अथवा भावध्वनि मानी जाएगी।

काम की सेना के अन्यतम सेनानी धर्मरति के निम्नलिखित वचन बोधिसत्त्व के प्रति उनकी भक्तिरूप रतिभाव की व्यंजना कराते हैं—

धर्मरती सद तस्य रतीहा, ध्यानरती अमृतार्थरतिश्च।
सत्त्वप्रमोक्षमैत्ररतिश्च, रागरतिं सरतिं न करोति ॥[1]

अर्थात् बोधिसत्त्व की रागरति के प्रति कामना नहीं है, वे तो धर्मरति, ध्यानरति, अमृतार्थरति प्राणिविमोक्षरति एवं मैत्ररति के ही अभिलाषी हैं।

इसी प्रकार काम की सेना के अचलपति नामक एक अन्य सेनापति के उद्गार द्रष्टव्य हैं—

यथा तवैषो जववेग उग्रः, तद्वद्यदि स्यात् सुरमानुषाणां
सर्वे समग्रापि न ते समर्थाः, कर्तुं रुजामप्रतिपुङ्गलस्य ॥[2]

वातजव नामक मारसेनापति को संबोधित करते हुए, अचलपति सेनापति कहते हैं कि 'यदि तुम्हारे समान अर्थात् वायुवेग के समान वेगवान् होकर समस्त देव और मानव एक साथ भी इस बोधिसत्त्व रूप महापुरुष को पीड़ा नहीं पहुँचा सकते।' अचलपति के ये वचन तथागत बोधिसत्त्व के प्रति अपार श्रद्धा की व्यंजना कराते हैं।

ललितविस्तर के लेखक महाकवि ने किसी अन्य वक्ता का निबन्धन किये बिना भी तथागत के अपूर्व सौन्दर्य का वर्णन किया है। जो स्वयं किसी भी पाठक के मानस में रतिभाव को उद्बुद्ध करने के लिए पर्याप्त है—

कनकमिव सुधातुजातरूपं, कवचितुलक्षणत्रिंशता द्विभिश्च।
नरगण तथ नारिप्रेक्षमाणो, न च भवतेक्वचि तृप्ति दर्शनेन ॥[3]

शुद्ध स्वर्ण की कान्तिवाले, बत्तीस लक्षणों से युक्त, तथागत को देखते हुए, नगर के नर और नारीगण, किसी प्रकार तृप्त नहीं हो रहे थे।

---

१. ल० वि०, श्लोक ६८६

२. वही, श्लोक, ६६१

३. वही, श्लोक, ७४६

वीथि रचित रत्नवस्त्रधार्यै, अवशिरिया जनु याति पृष्ठतोऽस्य ।
को नु अयु अदृष्टिपूर्वसत्त्वो, यस्य प्रभाव पुरं विभाति सर्व ॥[1]

यह कौन अलौकिक व्यक्तित्व संपन्न व्यक्ति है ? जिनके तेज से रत्न-वस्त्र आदि से अलंकृत व्यक्ति भी निस्तेज हो रहे हैं, तथा जिनका तेज समस्त नगर को आलोकित कर रहा है ।

ललितविस्तर का महाकवि भगवान तथागत के अलौकिक सौन्दर्य का ही नहीं, उनकी अलौकिक महिमा का वर्णन करते हुए नहीं थकता है । इस प्रसंग के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

यथ द्रुम परिफुल्ल संपुष्पिता शालवृक्षा इमे ।
यथ च मरु सहस्र पार्श्वे स्थिता भ्रामयन्तो भुजान् ।
यथ च चलि ससागरा मेदिनी षड्विकारा इयं ।
दिवि भुवि च विघुष्ट लोकोत्तरत्वं जनेषी सुतं ॥[2]

तथागत का जन्म होने पर सत्तर हजार देवाङ्गनायें, उसी क्षण लुम्बिनी स्थान पर पहुँचकर मायादेवी से कहती हैं—'हे देवि ! ये वृक्ष सब ओर से फूल उठे हैं, शालवृक्ष फलों से लद गये हैं, हजारों देवता आपके निकट खड़े होकर, बाहुओं को घुमाते हुए हर्ष प्रकट कर रहे हैं। षड्विध विकारों से युक्त पृथिवी डोलने लगी है । समस्त द्युलोक और पृथिवी हर्ष के घोष से भर उठी है, इससे प्रतीत होता है कि आपने लोकोत्तर पुत्र को जन्म दिया है ।

यथ च प्रभ विशुद्ध बिभ्राजते स्वर्णवर्ण शुभा ।
तूर्यशत मनोज्ञा चाघट्टिता घुष्यन्तेऽम्बरे ।
यथ च शत सहस्र शुद्धा शुभा वीतरागाः सुरा ।
नमिषु मुदित चित्ता अद्यो जने सर्वलोके हितं ॥[3]

स्वर्ण वर्ण की विशुद्ध प्रभा फैल रही है, बिना बजाए ही आकाश में सैकड़ों प्रकार के बाजों की ध्वनि गूँज रही है । हजारों-लाखों वीतराग, शुद्ध एवं मंगलकारी देवतागण प्रसन्नचित्त होकर प्रणाम कर रहे हैं । इससे प्रतीत होता है कि आपने सर्वलोक हितैषी पुत्र को जन्म दिया है—

शक्रमपि च ब्रह्म तौ पाणिभिः संप्रतीच्छा मुनि
क्षेत्र सहस्र संकम्पिता आभ मुक्ता शुभा ।

---

१. ल० वि०, श्लोक, ७५०
२. वही, श्लोक २१५
३. वही, श्लोक २१६

अपि च त्रिषु अपायि सत्त्वा सुखी नास्ति दुःखं पुन
अमर शत सहस्र पुष्पां क्षिपी भ्रामयन्त्यम्बरान् ॥[1]

तथागत बोधिसत्त्व का जन्म होते ही शक्र और ब्रह्मा ने उन्हें अपनी गोद में उठा लिया, सहस्रों लोक काँप उठे, सर्वत्र शुभकान्ति फैल गयी, नरक, प्रेत, तिर्यक् तीनों योनियों में दुःख भोग रहे प्राणी सुखी हो गये, उनके दुःख समाप्त हो गये। आकाश में वस्त्रों को उछालते हुए सैकड़ों हजारों देवतागण पुष्पों की वर्षा करने लगे।

इस प्रकार तथागत की महिमा का गायन करने वाले अनेकानेक पद्य ललितविस्तर में भरे पड़े हैं। उनको उद्धृत करने के मोह को छोड़कर तथागत के बल का गायन करने वाले कुछ पद्य उपस्थित करने उचित होंगे।

मेरु दहेस्त्वं यदि वापि कृत्स्नं
प्रविश्य चान्तर्गत मेदिनीं वा।
दग्धुं न शक्यः स हि वज्रबुद्धिः
त्वत्संनिभैः बालिकगङ्गतुल्यैः ॥[2]

विकत्थन-प्रिय मार-सेनापति उग्रतेजा से सुनेत्र नामक एक अन्य वीर-सेनापति तपस्या में संलग्न तथागत की शक्ति को पहचानते हुए कहते हैं कि 'यदि तुम सम्पूर्ण मेरु पर्वत को अथवा सम्पूर्ण पृथिवी को जलाने में समर्थ हो सकते हो तो फिर भी उन वज्र के समान दृढ़ बुद्धि वाले तथागत का तुम कुछ नहीं कर सकते। उनके समक्ष तो तुम गंगा की तुच्छ बालू के एक कण के समान हो। इतना ही नहीं—

चलेयुः गिरयः सर्वे क्षयं गच्छन्महोदधिः।
चन्द्रसूर्यौ पतेद् भूमौ मही च विलयं व्रजेत् ॥
लोकस्यार्थे कृतारम्भः प्रतिज्ञा-कृतनिश्चयः।
अप्राप्यैष वरां बोधिं नोत्थास्यति महाद्रुमात् ॥[3]

सभी पर्वत-स्थान च्युत हो जाएँ अथवा नष्ट हो जाएँ, महासागर विलीन हो जाए। चन्द्र और सूर्य आकाश मे गिर पड़ें, पृथिवी विलीन हो जाए, किन्तु लोक-कल्याण के लिए कृत-प्रतिज्ञ, साधना में रत ये तथागत बोधि-प्राप्त किये विना, इस महावृक्ष के नीचे से उठने वाले नहीं हैं। इसी प्रकार—

---

१. ल० वि०, श्लोक २१८
२. वही, श्लोक ९७०
३. वही, श्लोक ९७१-९७२

सदेवासुरगन्धर्वा ससागरनगां महीं ।
त्वं मर्दितां प्रकुर्याश्च पाणिभ्यां मद्गर्वितः ।।
त्वद् विधानां सहस्राणि गंगा बालिकया समाः ।
रोमं तस्य न चालेयुः बोधिसत्त्वस्य धीमतः ।।[1]

दीर्घबाहु के प्रति प्रसाद-प्रतिलब्ध के इन वचनों में बोधिसत्त्व के बल की अभिव्यक्ति है—'हे दीर्घबाहु, भले ही तुम अपने पराक्रम से सम्पूर्ण देवगणों, असुरों और गन्धर्वों से युक्त सागर सहित पृथिवी अपनी बाहुओं में उठाकर मसल डालो, किन्तु तुम्हारे जैसे हजारों व्यक्ति मिलकर उनके सामने गंगा की बालू के एक कण के समान ही सिद्ध होंगे, तुम जैसे हजारों मिलकर भी उनका एक बाल टेढ़ा नहीं कर सकते ।

इस प्रकार तथागत (बोधिसत्त्व) के बल का गान करने वाले इस ग्रन्थ में, मुख्यतः मारघर्षण परिवर्त्त में सैकड़ों पद्य भरे हैं, विस्तार-मय से उनको यहाँ उपस्थित करना सम्भव नहीं है । तथापि स्वयं बोधिसत्त्व को वक्ता के रूप में उपनिबद्ध कर, उनके संकल्प की दृढ़ता का जो निबन्धन कवि ने किया है, उन उदाहरणों पर दृष्टिपात करना अनुचित न होगा ।

मेरुः पर्वतराज स्थानतु चले सर्वं जगन्नो भवेत् ।
सर्वे तारकसंघ भूमि प्रपते सज्योतिषेन्दुर्नभात् ।।
सर्वा सत्त्व करेय एकमतयः शुष्येन्महासागरो ।
न त्वेव द्रुमराजमूलुपगश्चाल्येत अस्मद्विधः ।।[2]

चाहे पर्वतराज मेरु को उसके स्थान से विचलित किया जा सके, चाहे कोई सम्पूर्ण जगत को नष्ट कर सके, चाहे समस्त ज्योतिष्पिण्डों (नक्षत्रों) के साथ चन्द्रमा आकाश से गिर जाए, चाहे सभी प्राणी एकमति हो जाएँ, महासागर सूख जाएं किन्तु मुझ जैसा व्यक्ति बोधिवृक्ष के मूल से हट जाए, यह सम्भव नहीं है ।

बोधिसत्त्व की उपर्युक्त संकल्प विषयक दृढ़ता की इस काव्य में प्रायः सर्वत्र प्रतिष्ठा है । इस प्रकार के वर्णनों को वीर रस के अन्तर्गत रखा जा सकता है ।

---

१. ल० वि०, श्लोक ६७६-६७७

२. वही, श्लोक १०६६.

ललितविस्तर में गोपा के स्वयंवर के अवसर पर तथागत बोधिसत्त्व के बल पराक्रम का महिमामय वर्णन हुआ है, जिसे वीररस के उदाहरण के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में कुछ प्रसंग प्रस्तुत हैं—

देवदत्तः कुमारो गर्वितश्च मानी बलवानेव स्तब्धः शाक्यमानेन च स्तब्धो बोधिसत्त्वेन सार्धविस्पर्धमानः सर्वावन्तं रङ्गमण्डलं प्रदक्षिणीकृत्य विक्रीडमानो बोधिसत्त्वमभिपतति स्म। अथ बोधिसत्त्वोऽसंभ्रान्त एवात्वरन् दक्षिणेन पाणिना सलीलं देवदत्तं कुमारं गृहीत्वा त्रिर्गगनतले परिवर्त्त्य मान निग्रहार्थमहिंसाबुध्या मैत्रेण चित्तेन धरणीतले निक्षिपति स्म। न चास्य कायं व्याबाधते स्म।[१]

अर्थात् अतिशय गर्वयुक्त कुमार देवदत्त अपने बल का अभिमान करते हुए, बोधिसत्त्व की स्पर्धा करते हुए, उछलते कूदते हुए बोधिसत्त्व पर झपटे, किन्तु बोधिसत्त्व ने बिना किसी घबराहट के अत्यन्त स्थिर भाव से देवदत्त को दाहिने हाथ से पकड़ लिया और आकाश में तीन बार घुमाकर, हिंसा की भावना से मुक्त रहते हुए, मैत्री भावना के साथ भूमि पर पटक दिया।

इसी प्रकरण में 'उसके द्वारा ललकारने पर पाँच सौ शाक्यकुमार एक साथ झपटते हैं किन्तु बोधिसत्त्व के स्पर्श मात्र से, उनकी श्री, तेज, शरीरबल और दृढ़ता के सहने में असमर्थ होकर स्पर्श मात्र से भूमि पर गिर पड़े।[२] ऐसा पराक्रमपूर्ण वर्णन निबद्ध है। इसी प्रकरण में दूसरों द्वारा झुकाने में अशक्य सिंहहनु नामक पितामह के, धनुष के बिना किसी प्रयास के एक अंगुली से ही आरोपित कर दिया। इतना ही नहीं, उस पर बाण चढ़ाकर जब छोड़ा तो जहाँ-जहाँ आनन्द, देवदत्त, सुन्दर, नन्द की भेरी थी, उन सबको भेदकर, दश कोश की दूरी पर स्थित अपनी लोहे की बनी भेरी तथा सात ताल ऊँची यन्त्रयुक्त बाराह प्रतिमा को भेदकर भूतल में समा गया।[३] इत्यादि अत्यन्त पराक्रमपूर्ण वर्णन किया गया है। यह अत्यन्त निष्ठापूर्वक अहिंसा की भावना का

---

१. ल० वि०, (वैद्य) गद्यभाग, पृ० १०६

२. ततो बोधिसत्त्वोऽप्याह— अलमलनेन विवादेन। सर्व एव एकीभूत्वा इदानीं सालम्भायागच्छतेति। अथ ते सर्वे हर्षिता भूत्वा बोधिसत्त्वमभिनिपतिताः। समनन्तरस्पृष्टा बोधिसत्त्वेन बोधिसत्त्वस्य श्रियं तेजश्च कायबलं स्थानं चासहमानाः स्पृष्टा एव बोधिसत्त्वेन धरणीतले प्रापतन्॥

—वही, पृ० १०६

३ वही, पृ० १०७

आदर करते हुए भी बोधिसत्त्व के उत्साह का परिपोष होने से यहाँ वीररस की योजना सर्वजन स्वीकार्य है ।

बोधिसत्त्व के बल-पराक्रम का वर्णन निम्नलिखित पद्य में भी द्रष्टव्य है—

मेरुः सुमेरु तथ वज्रक चक्रवाला
ये चान्य पर्वत क्वचिशद्दसू दिशासु
पाणिभ्य गृह्य मसि पूर्णनिभां प्रकुर्यात् ।
को विस्मयो मनुज-आश्रय के असारे ॥[1]

अर्थात् बोधिसत्त्व में कामबल इतना अधिक है कि वे मेरु, सुमेरु, वज्रमणिमय चक्रवाल अर्थात् लोकालोक पर्वत ही नहीं, दशों दिशाओं में जहाँ कहीं जो भी पर्वत है, उन्हें हाथों से पकड़कर काजल के समान चूरा कर सकते हैं, सारहीन मनुष्य शरीर के लिए फिर क्या कहना ?

इस प्रकार ललितविस्तर में बोधिसत्त्व के बल एवं पराक्रम की अभिव्यक्ति के लिए अनेकानेक अवसर उपस्थित हुए हैं और कवि की प्रतिभा ने इन अवसरों का उपयोग प्रयोग करते हुए बोधिसत्त्व के बल एवं पराक्रम का प्रशस्त वर्णन प्रस्तुत किया है। वीररस की व्यंजना के लिए 'मेरुः पर्वतराज स्थानतु चले…'[2] पद्य में दृढ़ता संचारी भाव का निबन्धन अत्यन्त मनोहारी है । यहाँ बोधिसत्त्व की दृढ़ता की पराकाष्ठा द्रष्टव्य है ।

वीररस के प्रसंग में प्रेरक गीत या उद्‌बोधक गीतों का बहुत महत्त्व होता है । ये उद्‌बोधक गीत किसी कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व, उसकी प्रेरणा के लिए हो सकते हैं और कार्य से विचलित न हों, दृढ़तापूर्वक प्रण पर स्थित बने रहें, इस दृष्टि से भी हो सकते हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में उपर्युक्त में से प्रथम प्रकार के प्रेरणा गीतों से भरा हुआ पूरा का पूरा संचोदना परिवर्त्त है। जिसमें एक सौ साठ पद्यों के द्वारा बोधिसत्त्व को महाभिनिष्क्रमण रूप धर्म के लिए प्रेरणा दी गयी है, जैसे युद्धभूमि में प्राणार्पणपूर्वक युद्ध करने के लिए सैनिकों को दी जाती है। इन पद्यों में से निदर्शन के लिए दो-तीन पद्य उपस्थित हैं—

१. ल० वि०, श्लोक ३६८
२. वही, श्लोक १०६९

पूर्वि तुभ्यं अयुक्त प्रणिधी दृष्ट्वा सत्त्वान् दुःखशतभरितान् ।
लेनं त्राणं जगनिजशरणं भेष्ये नाथु हितकरु परमः ॥[1]
साधो वीरा स्मर चरि पुरिमां या ते आसीज्जगहिव प्रणिधिः ।
कालो वेला अयु तव समयो निष्क्रम्याही ऋषिवर प्रवरा ॥[2]

पूर्वकाल में प्राणियों को सैकड़ों दुःखों से भरा हुआ देखकर, तुमने यह संकल्प किया था कि मैं जगत् का नित्य शरण, त्राणकर और हितकर नाथ बनूँगा । अतः हे साधु वीर ! अपनी पुरानी चर्या और संकल्प को स्मरण करो । अब वह समय उपस्थित है, इसलिए हे ऋषिप्रवर ! अब घर से निकलो ।

त्वं शीलेन व्रततपचरितः त्वं क्षान्तीये जगहितकरणः ।
त्वं वीर्येण शुभगुणनिचितो ध्याने प्रज्ञे न तु समु त्रिभवे ॥[3]
एते चान्ये बहुविधरुचिरा तूर्यघोषा जिनरूतरवना ।
ये चोदेन्ति सुरनरमहितं, निष्क्रम्याही अयु तव समयु ॥[4]

हे ऋषिवर! तुमने शीलपूर्वक व्रत पालन करते हुए, तपश्चर्या की है, तुमने क्षमा से जगत् का कल्याण किया है । तुमने वीर्य (उद्योग) से शुभगुणों का अर्जन किया है । ध्यान और प्रज्ञा में तुम लोकोत्तर हो । उपर्युक्त प्रकार से कई तरह के प्रेरणा गीत तूर्यघोष से निकल रहे थे, जो सर्वदेवपूज्य बोधिसत्त्व को अभिनिष्क्रमण के लिए प्रेरणा दे रहे थे—

त्वं वैद्य धातुकुशलश्चिरातुरां सत्त्वरोगसंस्पृष्टां ।
भैषज्य-धर्मयोगेनिर्वाणसुखे स्थपय शीघ्रम् ॥[5]

हे तथागत! तुम धातुविद् वैद्यरूप हो, अतः संसारचक्ररूपी रोग से चिरकाल से पीड़ित जनों को धर्मयोग रूपी औषध-योग प्रदान करके निर्वाणरूपी आरोग्य सुख शीघ्र ही प्रदान करो ।

चतारिलोकपालाः ससैन्यकास्ते तव प्रतीक्षन्ते ।
दास्याम चतुरि पात्रां बोधिध्वजि पूर्णमनसस्य ॥

---

१. ल० वि०, श्लोक ३८६
२. वही, श्लोक ३८७
३. वही, श्लोक ३८६
४. वही, श्लोक ३९२
५. वही, श्लोक ५३६

ब्रह्मशान्तचारी उदीक्षते मैत्रवाक्-करुणलाभी ।
अध्येषिष्ये नरेन्द्रं वर्तेन्ति निरुत्तरं चक्रं ॥[1]
मञ्जुरुतमञ्जुघोषा स्मराहि दीपंकरस्य व्याकरणं ।
भू तथातं अवितथा जिनघोषरुतमुदीरेहि ॥[2]

हे बोधिसत्त्व, चारों लोकपाल सेना सहित प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब ये बोधिवृक्ष के नीचे पूर्णकाम आपको भिक्षापात्र प्रदान करेंगे। अत्यन्त शान्त चर्यावाले, मैत्रीपूर्ण वचन वाले, करुणा भाव को प्राप्त ब्रह्म प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब आप बोधिलाभ कर लें और वे अनुत्तर धर्मचक्र के प्रवर्त्तन के लिए आपसे प्रार्थना करें। इसलिए हे मनोहर शब्द वाले! कल्याणमय वचनों वाले तथागत आप दीपंकर की भविष्यवाणी को स्मरण करो। उसको पूर्ण करने के लिए बोधिलाभ और उसके अनन्तर धर्मचक्र के प्रवर्तन के लिए अभिनिष्क्रमण करो।

उपर्युक्त प्रकार से ललितविस्तर के केवल संचोदना परिवर्त्त में निबद्ध एक सौ साठ पद्य तथा साथ में गद्य वीररस की योजना के अंग हैं। इन सबसे इस ग्रन्थ में वीररस का आस्वाद सहृदय पाठक को हो जाता है।

निम्नलिखित पद्य में वीररस के व्यभिचारीभाव धैर्य का मनोरम आस्वादन किया जा सकता है—

दृष्ट्व च तानतिभीषण रूपां सर्वविसंस्थितरूपविरूपां।
श्रीगुणलक्षणतेजधरस्या चित्तु न कम्पति मेरू यथेव ॥[3]

इस प्रकार अत्यन्त अव्यवस्थित विरूप और भयंकर स्वरूप वाले उन सबको देखकर, श्री के गुण, लक्षण एवं तेज को धारण करने वाले, उन बोधिसत्त्व का चित्त उसी प्रकार थोड़ा भी कम्पित नहीं हुआ, जिस प्रकार हवा के झोंकों से सुमेरु कम्पित नहीं होता।

भयानक रस—भयानक रस का स्थायीभाव भय है, भय की कारणभूत परिस्थिति इसके विभाव होते हैं, भागना, रोना, चिल्लाना इसके अनुभाव हैं। चिन्ता, शंका, दैन्य, आवेग आदि इसके संचारीभाव हैं। ललितविस्तर के कवि ने भयानक रस के भी कुछ अवसर कथानक में, मुख्य दो अवसर प्राप्त किये हैं।

---

१. ल० वि० श्लोक ५४०-५४१

२. वही, श्लोक ५४४

३. वही, श्लोक ६५७

गोपा स्वयंवर के समय तथा मारधर्षण के समय। मारधर्षण के अवसर पर ऐसे दो अवसर हैं, जहाँ भय भाव के अनुकूल उद्दीपन विभाव का निबन्धन हुआ है। प्रथम अवसर है जहाँ भय का कारण स्वयं मार है किन्तु वहाँ भय के कारण बोधिसत्त्व के समक्ष उपस्थित होते हैं, किन्तु बोधिसत्त्व भय के समस्त कारण उपस्थित होने पर भी भयभीत नहीं होते, अतः वह बोधिसत्त्व के धैर्य (धृति) की व्यंजना में परिणत हो जाता है। दूसरी स्थिति वह है जहाँ मार के अत्यन्त भयानक आक्रमण के बाद तथागत धैर्यपूर्वक प्रतिक्रिया करते हैं, फलतः मार अत्यन्त भयभीत होता है। ऐसे स्थलों को भयानक रस की योजना के उदाहरण के रूप में माना जा सकता है —

सो पाणिना धरणि आहनते सलीलं
रणते इयं वस्तुमती यथ कंसपात्री।
मारो निसम्य खु मेदिनिये निरस्तः
श्रृणुते वचं हनत गृह्लत कृष्णबन्धुम्॥
परिचन्नगातु हततेजु विवर्णवक्त्रो
मारो जराभिहतु आत्मनु संप्रपश्यी।
उरताडु क्रन्दतु भर्यार्तु अनाथभूतो
भ्रान्तं मनो नमुचिनो गतु चित्तमोहं॥[1]

मार द्वारा भयंकर आक्रमण करने पर अतितेजस्वी बोधिसत्त्व ने केवल लीलापूर्वक हाथ से पृथिवी पर चोट की, जिसके फलस्वरूप पृथ्वी काँसे के घंटे की तरह झंकार कर उठी। मार इस ध्वनि को सुनते ही पृथ्वी पर गिर पड़ा, उसे ऐसा सुनाई पड़ा मानो यह कह गया हो कि 'इस कृष्ण को पकड़ो और मारो।' इस ध्वनि को सुनते ही मार के शरीर से पसीना छूटने लगा, उसका तेज नष्ट हो गया, वह विवर्ण-वदन होकर ऐसा अनुभव कर रहा था, मानों उसे बुढ़ापे ने मार गिराया हो। वह छाती पीट-पीटकर अनाथ की तरह रोने लगा और व्याकुल चित्त होकर संज्ञाहीन (बेहोश) हो गया।

हस्त्यश्वयानरथभूमितले निरस्ताः
धावन्ति राक्षस कुम्भण्डपिशास भीताः।
सम्मूढ मार्ग न लभन्ति अलेनत्राणाः
पक्षी दवाग्निपतनेव निरीक्ष्य क्रान्ताः॥[2]

---

१. ल० वि०, श्लोक ११२७-११२८
२. वही, श्लोक ११२९

उस समय उसके हाथी, घोड़े, गाड़ी, रथ धरती पर गिर पड़े, भयभीत राक्षसों, कुम्भाण्डों और पिशाचों में भगदड़ मच गयी। वे दिग्भ्रमित होकर भागने लगे, वे उसी प्रकार अशरण और अनाथ हो गये, जिस प्रकार दावानल की लपट में अपने को पड़ा देखकर पक्षी हो जाते हैं।

माता रत्वसा पितर पुत्र पौत्र तथैव भ्राता
पृच्छन्ति तत्र कहि दृष्ट कहिं गता वा।
अन्योन्य विग्रह करोन्ति तथैव हेठाः
प्राप्ताः वयं व्यसन-जीवित नावकाशः ॥[1]

उस समय उसके माता, पिता, पुत्र, बहिन, भाई भयभीत एवं चिन्तायुक्त होकर इधर-उधर पूछ रहे थे कि क्या उसे कहीं देखा है, वह किधर गया है। इस प्रकार व्याकुल होकर आपस में ही झगड़ने लगे कि हम संकट में पड़ गये हैं, अब तो जीना भी सम्भव नहीं है इत्यादि।

भयानक रस के प्रसंग इस ग्रन्थ में कम होते हुए भी जो हैं वे अत्यन्त मार्मिक और हृदयग्राही हैं। भय के प्रसंग में इस ग्रन्थ के लेखक ने बहुत महत्त्व-पूर्ण बात कही है, वह यह कि परिस्थितियाँ समान होते हुए भी, भय उन्हें ही आक्रान्त करता है 'जो अहंता ममता से आक्रान्त होते हैं, शरीर को ही जो परम तत्त्व माने रहते हैं, ऐसे लोग तो बहुत बार स्वयं को भी देखकर घबड़ा उठते हैं।[2]

बीभत्स रस

वीभत्स रस ललितविस्तर में केवल एक स्थान पर ही प्रतीत होता है। जहाँ उसने बोधिसत्त्व के चित्त में काया (शरीर) के प्रति अशुभ संज्ञा की भावना की है। शार्दूलविक्रीडित छन्द के ढाई श्लोकों अर्थात् दस चरणों में जितनी सुन्दर योजना इस रस की है, वह अन्यत्र दुर्लभ है, तथा दर्शनीय भी है—

कर्मक्षेत्ररुहं तृषासलिलजं सत्कायसंज्ञीकृतम्
अश्रुस्वेदकफार्द्रमूत्रविकृतं शोणीतबिन्द्वाकुलम्।
वस्तीपूयवसासमस्तकरसैः पूर्णं तथा किल्विषैः
नित्यप्रस्त्रवितं ह्यमेध्यसकलं दुर्गन्धनानाविधम् ॥

१. ल० वि०, श्लोक ११३०

२. यस्य भवेत् अहंति ममेति भाव समुद्दि तत्त्वानिविष्टाः।
सो विमियाद् अबुद्धेः स्थितु ग्राहे आत्मसंभ्रमु गच्छ निरीक्ष्य ॥
—वही, श्लोक ९५९

अस्थीदन्तसकेशरोमविकृतं चर्मावृतं लोमसं
अन्तःप्लीहजकृद्वपोष्णरसनैर् एभिश्चितं दुर्बलैः ।
मज्जास्नायुनिबद्धयन्त्रसदृशं मांसेन शोभीकृतम्
नानाव्याधिप्रकीर्णशोककलिलं क्षुत्तर्षसंपीडितम् ॥
जन्तूनां निलयं अनेक सुषिरं मृत्युं जरां चाश्रितं
दृष्ट्वा को हि विचक्षणो रिपुनिभं मन्ये शरीरं स्वकम् ॥[1]

यह शरीर जिसे सुन्दर 'काय' नाम दिया गया है। कर्मरूपी खेत में तृष्णा-रूपी जल के सहकार से उत्पन्न होता है। अश्रु, स्वेद. कफ आदि से यह गील है, मलमूत्र से मलिन है। खून इसमें भरा पड़ा है, मलाशय, वसा, पीव, मस्तक-पिण्ड आदि मलिन पदार्थों से यह पूर्ण है। नाना प्रकार के मलों का यह स्रोत है, हड्डियाँ, दाँत, केश, रोम आदि से विकृत यह लोमसहित चर्म से ढका है। इसके अन्दर आंतें, प्लीहा, यकृत, फेफड़ा और हृत-पिण्ड पड़े हैं, वसा (चरबी), लार, मज्जा और स्नायुओं से यंत्र की भांति इसे बांधकर मांस से सजाया गया है। अनेक व्याधियों से ग्रस्त, शोक से संतप्त, भूख, प्यास और जरा, मृत्यु की पीड़ा से यह संकीर्ण है। फलतः यह तो शत्रु सदृश है, इसे कौन अपना समझेगा ?

वात्सल्य रस

बालक अथवा शिशु के प्रति रतिभाव के आस्वादन को वात्सल्यरस अथवा वत्सल रस कहते हैं।[2] क्योंकि तथागत बोधिसत्त्व की जन्मकथा अथवा शैशव की गाथा को कवि ने बोधिसत्त्व के अलौकिक प्रभावों एवं चमत्कारों से सराबोर कर दिया है, अतः उस स्थिति में वात्सल्य रस के उदाहरण ललितविस्तर में खोज पाना सम्भव नहीं है। किन्तु कृषिग्राम परिवर्त्त में पांच ऋषियों ने बोधि-सत्त्व के चमत्कार पूर्ण प्रभाव का दर्शन कर उनसे भक्तिपूर्वक बातें करने लगे, इस कारण बोधिसत्त्व को घर पहुँचने में विलम्ब हो गया। उस समय शुद्धोदन की उनके विषय में चिन्ता आदि व्यभिचारिभावों एवं अन्वेषण आदि अनुभावों के निबन्धन से इस रस की मधुर-योजना हुई है—

शुद्धोदनश्च स्वगृहे परिमार्गमानः
संपृच्छते क्व नु गतः स हि मे कुमारः ।

---

१. ल०वि०, श्लोक ६१९-६२०

२. स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥ —सा०द० ३.२५१

मातृस्वसा अवचि मार्गत नो लभामि
सम्पृच्छता नरपते क्व गतः कुमारः ॥
शुद्धोदनः त्वरितु पृच्छति काञ्चुकीयं
दौवारिकं तथपि चान्तजनं समन्तात् ।
दृष्टः कुमारं सम केनचि निष्क्रमन्तो
शृणुतेवरुपगतु देव कृषाणग्रामं ॥[1]

शुद्धोदन बोधिसत्त्व को इधर-उधर खोजते हुए लोगों से पूछने लगे कि मेरा राजकुमार कहाँ चला गया । तथागत की मौसी प्रजापती ने कहा उसे खोजो, मैं उसे बहुत समय से खोजकर नहीं देख पा रही हूँ । तब शुद्धादन ने कंचुकी, द्वारपाल और अन्तःपुर के सभी लोगों से पूछा कि 'कहीं किसी ने राजकुमार को कहीं निकलते देखा है। तब किसी ने उत्तर दिया, देव वे कृषिग्राम गये हैं ।'

इसी प्रकार जब कुमार सिद्धार्थ महाभिनिष्क्रमण कर गये हैं उस समय भी वात्सल्य रस की अनूठी योजना ललितविस्तर में हुई है—

"ततोऽन्तः पुरिकाभिः·········क्रन्दन्ति स्म ।······काश्चिदन्योन्यमुखावलोकितया······सहसा धरणीतले निपत्य रुदन्ति स्म ॥"[2]

तदनन्तर अन्तःपुर की नारियाँ कुमार (बोधिसत्व)को न देखकर ·····एकत्र होकर कुररी (क्रौञ्च पक्षियों) के झुण्ड की भाँति चिल्लाने लगीं । उनमें कुछ शोक से अत्यन्त व्याकुल होकर 'हा तात' इस प्रकार विलाप कर रही थीं······ कुछ एक दूसरे का मुख देखती हुई सो रही थीं, कुछ आँखें पलटकर, कुछ अपने मुख को वस्त्र से ढँककर रो रही थीं, कुछ हाथों से जाँघों को पीटती हुई, कुछ छाती पीटती हुई, कुछ हाथों से बाहुओं को ठोंकती हुई, कुछ शिर पटकती हुई, कुछ शिर को धूल से लथपथ करती हुई रो रही थीं । कुछ अपने केशों को बिखेर कर, कुछ केशों को नोचती हुई, कुछ बाहुओं को उठाकर जोर-जोर से चिल्ला रही थीं । कुछ विष बुझे हुए वाण से घायल मृगी की तरह सहसा इधर-उधर दौड़ती हुई रो रही थीं । कुछ वायु द्वारा कम्पित केले के पेड़ की तरह कांपती हुई रो रही थीं । कुछ भूतल पर लोटती हुई कुछ अधमरी सी जाल में फंसी मछली की तरह तड़पती हुई रो रही थीं और कुछ जड़ कटे पेड़ की तरह सहसा भूमि पर गिरकर रो रही थीं ।

---

१. ल०वि०, श्लोक ३३१-३३२
२. वही, गद्यभाग, पृ० १६४-१६५

तथागत के घर से निकल जाने के समाचार से राजा शुद्धोदन भी पुत्र-वियोग न सह पाने के कारण मूर्च्छित होकर पृथिवी पर गिर पड़े और बड़ी कठिनता से सैकड़ों शाक्यों द्वारा घट-जल से सेचन करने पर वे होश में आये।

राजा श्रुणित्वा धरणितले निरस्तो, उत्क्रोसुक्त्वा अहो मम एक पुत्रो।
सो स्तेमितो हि जलघट-सम्प्रसिक्तो, आश्वासयन्ती बहुशत शाकियानां ॥[1]

इन कुछ उदाहरणों को देखकर ही यह अनुमान किया जा सकता है कि वियोगाश्रित वात्सल्य रस का कितना हृदयग्राही वर्णन ललितविस्तर के कवि ने किया है।

कवि ने इसी प्रकरण में तथागत की पत्नी गोपा के विलाप का भी अत्यन्त हृदयावर्जक वर्णन किया है, उसे विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत परिगणित किया जाएगा। इस प्रसंग के कुछ पद्य उदाहरण के रूप में द्रष्टव्य हैं।

विप्रलम्भ श्रृङ्गार

गोपा शयातो धरणितलेनिपत्य केशां लुनाति अवशिरि भूषणानि।
अहो सुभाष्टं मम पुरि नायकेना सर्वाप्रियेभिः न चिरतु विप्रयोगः ॥[2]
न पास्यि पानं न मधु न प्रमादं, भूमौ शयिष्ये जटमुकुटं धरिष्ये।
स्नानं जहित्वा व्रततप आचरिष्ये, यावन्न द्रक्ष्ये गुणधरु बोधिसत्त्वम् ॥[3]
हा गीतवाद्या सुमनोहरमञ्जुघोषाः हा इस्त्रिगारा विगडितभूषणाभिः।
हा हेमजालैः परिस्फुटमन्तरिक्षं न भूयुद्रक्ष्ये गुणधरविप्रहीणा ॥[4]

गोपा ने बोधिसत्त्व को न देखकर अपने आभूषण उतार फेंके, भूमि पर गिर पड़ी और बालों को नोचती हुई विलाप करने लगी 'अहो मेरे नायक (बोधिसत्त्व) ने पहले ही कहा था कि सभी प्रियजनों से शीघ्र ही वियोग होने वाला है'। मैं अब न मधुपान करूँगी न मद्यपान। मैं भूमि पर ही सोऊँगी, जटाएँ धारण करूँगी। स्नान अनुलेपन भी त्यागकर मैं अब व्रत, और तप का आचरण तब तक करूँगी, जब तक पुनः गुणधर का दर्शन नहीं कर लेती। मैं उन गुणधर के विना गीतवाद्य, मनोहर मञ्जुघोष, आभूषणों से सजे अन्तःपुरः, सुवर्ण के जाल से अलंकृत अन्तरिक्ष यह अब मैं त्याग करती हूँ। उनके बिना मैं इन सबका उपभोग नहीं करूँगी।

---

१. ल०वि०, श्लोक ६८८
२. वही, श्लोक ६८९
३. वही, श्लोक ६९१
४. वही, श्लोक ६९३

इस प्रकार हम देखते हैं कि वियोग के प्रसंग में ही कवि ने वात्सल्य और शृङ्गार (विप्रलम्भ शृङ्गार) दोनों का ही अत्यन्त मनोरम निबन्धन किया है। अभिनिष्क्रमण परिवर्त्त पूरा का पूरा इस प्रकार के विप्रलम्भमय रस से परिपूर्ण है। विस्तार भय से अधिक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत नहीं किये जा रहे हैं।

भावध्वनि—जिस प्रकार स्थायीभावों का विभाव आदि कारणों से आस्वाद रस कहा जाता है। (क) उसी प्रकार उद्‌बुद्धमात्र कान्ताविषयक रति जो विभावादि से पुष्ट न हुई हो (ख) विभावादि से परिपुष्ट (व्यञ्जित) व्यभिचारी-भाव या सञ्चारीभाव (ग) देवादि विषयक रति भावध्वनि कहलाती है।[1] ललितविस्तर में संचारी (व्यभिचारी) भावों को भी स्थान-स्थान पर आस्वाद-योग्यता प्राप्त हुई है। सहृदय पाठक उसके आस्वादन में भी ब्रह्मास्वाद सहोदर आनन्द का अनुभव करते हैं। इस प्रसंग में कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं

हर्ष

ऋद्धस्फीत पुरमद्य भेष्पतीदेव कोटिनयुतैः समाकुलं।
अप्सरोभिः तुरियैर्निनादितं राजगेहि मधुरंश्रुणिष्यति ॥[2]

बोधिसत्त्व द्वारा जन्म ग्रहण किये जाने की संभावना होने पर, अप्सराएँ स्तुति करती हुई कहती हैं कि आपके जन्म लेने से कपिलवस्तु नामक नगर ऋद्ध, स्फीत अर्थात् धन-धान्यपूर्ण एवं कोटिखर्व देवताओं से परिपूर्ण हो जाएगा। राजभवन अप्सराओं की मधुर संगीत लहरी से गूँज उठेगा।

पुण्यतेजभरिता शुभकर्मणा नारि स परम रूप उपेता।
यस्य पुत्र अयमेव समृद्धः तिस्रलोकि अभिभाति शीरिये ॥[3]

वह स्त्री पुण्यमय तेज से परिपूर्ण है, शुभ कर्मों वाली तथा परम रूपशालिनी है, जिसका पुत्र इतना समृद्ध है कि उसकी श्री से तीनों लोक आलोकित हो रहे हैं।

उपर्युक्त दोनों ही पद्यों में हर्ष संचारीभाव पुष्ट होकर आस्वाद्य हो रहा है।

---

१. (क) संचारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उदबुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥ —सा०द० ३. २६०-२६१
(ख) काव्यप्रकाश (संपादक डा० श्रीनिवास शास्त्री)
—समु० ४, पृ० १४०-१४१

२. ल०वि०, श्लोक १५०

३. वही, श्लोक १५१

औत्सुक्य

समुदीक्ष्यन्ते बहवो देवासुरनागयक्षगन्धर्वाः ।
द्रक्ष्यामो बोधिप्राप्तं निरुत्तरं धर्म श्रोष्यामः ॥[1]

अनेकानेक देव, असुर, नाग, यक्ष और गन्धर्व प्रतीक्षा कर रहे हैं कि आप बोधि को प्राप्त करें, उसके बाद वे आपका दर्शन करें एवं निरुत्तर धर्म का उपदेश सुनें ।

स्तब्धता

न च भूयु क्रयविक्रयं करोन्ती
न च पुन सौण्ड पिबन्ति मद्यपानं
न च गृहि न च वीथिये रमन्ते
पुरुषवरस्य निरीक्षमाणरूपम् ॥[2]

बोधिप्राप्त करने के अनन्तर जब तथागत एक समय भिक्षा के लिए राजगृह नगर में प्रवेश करते हैं । तब उनके रूप सौन्दर्य और तेज को देखकर नगर भर में स्तब्धता व्याप्त हो गई, व्यापारी उस काल में क्रय-विक्रय करना भूल गये, शराबी मद्यपान करना भूल गये । नगर निवासी उस पुरुष श्रेष्ठ का रूप देखते हुए घर में अथवा सड़क पर कहीं भी अपने विषयों में लगे न रह सके ।

वितर्क

यच्चिन्तयामि तदिहासु भोति
कथं न एषो इम वीक्षते च ।
मूढो व एषो अनभिज्ञ किं वा
यदुत्थिहित्वा न पलायते लघुं ॥[3]

यहाँ जो सोचता हूँ शीघ्र हो जाता है । कैसी बात है कि ये इन मार सैनिकों को नहीं देखते, जल्दी उठकर नहीं भागते । क्या ये मूढ़ हैं अथवा अनभिज्ञ ?

प्रस्तुत पद्य में मार-सैनिकों के पराक्रमपूर्ण आक्रमण पर भी पूर्णतया स्थिर बोधिसत्त्व के सम्बन्ध में दुश्चिन्तित चिन्ती मार सेनापति वितर्क करता है कि ये मूढ़ हैं अथवा अनजान जो उठकर भाग नहीं रहे हैं ? इस वितर्क का परिपोष हुआ है ।

---

१. ल०वि०, श्लोक ५३८
२. वही, श्लोक ७५२
३. वही, (शास्त्री), श्लोक ९९७

इस प्रकार ललितविस्तर में विविध रसों की अथवा भावों की व्यंजना बहुत सफल हुई है।[1]

अलंकार

किसी भी काव्य रचना में काव्य के तत्त्वों में अलंकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आरम्भ में काव्य की शोभा के आधायक तत्त्व को काव्य की संज्ञा दी गई।[2] वामन ने अलंकार को सौन्दर्य का पर्यायवाची घोषित किया।[3] मम्मट के अनुसार काव्य में अलंकारों की स्थिति अनिवार्य न होकर वैकल्पिक हो गई।[4] आनन्द-वर्धन ने अलंकारों के रसपरक होने में ही इनकी अलंकारता स्वीकार की है।[5] अन्यथा ये अलंकार पहेलियों की तरह हैं चित्रकाव्य के उदाहरण भी नहीं हो सकते हैं।[6] आनन्दवर्धन ने रस आदि ध्वनि को अंगी माना है और अलंकार को अंग।[7] अलंकारों की रचना के लिए अलग से प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है। अलंकार वही है जो स्वाभाविक रूप से रसादि के अभिव्यंजन के साथ ही बिना किसी विशेष प्रयास के रस से आक्षिप्त होकर स्वतः उपनिबद्ध हो जायें।[8] ध्वनिकार ने काव्य में रूपक आदि सभी अलंकारों को अङ्ग (अप्रधान) रूप में स्वीकार किया है और उसके लिये पाँच नियम बनाये हैं—

१. अलंकारों की विवक्षा सदैव रस को प्रधान मानकर रस-परक हो।

---

१. गांधी शारदा, ललितविस्तरः रस-निरूपण' मेरठ-विश्वविद्यालय-संस्कृत-शोध-पत्रिका, १९७८, पृ० ४५-५६।

२. 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।' —दण्डी, काव्यादर्श २.१

३. 'सौन्दर्यमलंकारः।' —वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति १.१.१

४. 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलंकृती पुनः क्वापि' —काव्यप्रकाश १.४

५. 'रसादिपरता यत्र सोऽलंकारो ध्वनेर्मतः'। —ध्वन्यालोक २.२६

६. 'काव्ये उभे तोऽन्यद्यत् तच्चित्रमित्यभीधीयते।' —वही, ३.९८

७. 'विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।' —वही, २.४१

८. रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्य-क्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वत्यः सोऽलंकारो ध्वनौमतः॥
विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन।
कार्ले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्बहणैषिता॥
निर्व्यूढापि चाङगत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिरलंकारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्॥ —ध्वन्यालोक २.३९, ४१, ४२

२. उनका विनिवेश अङ्गी (प्रधान) रूप में किसी भी दशा में नहीं होना चाहिए।

३. कविता में अलंकार का ग्रहण एवं त्याग उचित अवसर पर हो जाना चाहिए।

४. कविता में आरब्ध अलंकार के अन्त तक निर्वाह का दुराग्रह नहीं होना चाहिए।

५. यदि किसी अलंकार का निर्वाह अन्त तक हो भी जाये तो इस बात के लिये सदा सचेत रहना चाहिए कि वह अङ्गरूप में ही बना रहे, कहीं अङ्गी न हो जाये।

वस्तुतः कवि का प्रयास काव्य के अङ्गीभूत तत्त्व रस की निष्पत्ति के लिए होना चाहिए।[1] जिस प्रकार नारियों में सौन्दर्य का आधायक मुख्य तत्त्व उनका लज्जाभाव ही है न कि कटक, कुण्डल आदि अलंकार, उसी प्रकार महाकवियों की अलंकार युक्त रचनाओं में भी चारुत्व का आधायक मुख्यतत्त्व उनकी व्यंजनीयता ही है।[2] नायिका के शरीर और काव्य दोनों में अलंकारों का स्थान अंग रूप में है अंगी रूप में नहीं। रूपकादि अलंकार जहाँ अंगी रूप में आयेंगे वहाँ वह उत्तम काव्य न होकर, शब्दचित्र और अर्थचित्र भेद से दो प्रकार का चित्र काव्य माना जायेगा।[3]

वस्तुतः विवेच्य-वस्तु की विचित्र ढंग से अभिव्यक्ति ही अलंकार है।[4] ललितविस्तर में अलंकार रस-भाव आदि के सहायक रूप में उपस्थित हुए हैं विवेच्य-वस्तु के उत्कर्षाधायक हैं तथा कविता-कामिनी के सौन्दर्य की अभिवृद्धि करने वाले हैं। अलंकारशास्त्रियों ने शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थालंकार इन तीन वर्गों में अलंकारों का विवेचन किया है। शब्दालंकारों में वक्रोक्ति,

---

१. डा० प्रो० चतुर्वेदी, व्रजमोहन, महिमभट्ट, १९६८, पृ० २५७

२. मुख्या महाकविगिरामलंकृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम्॥ —ध्वन्यालोक ३.९४

३. प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
काव्ये उभे ततोऽन्यद् यत् तच्चित्रमभिधीयते॥ —वही ३.९८
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः॥ —वही ३.९९

४. डा० प्रो० चतुर्वेदी, व्रजमोहन, महिमभट्ट, १९६८, पृ० २५९

श्लेष, अनुप्रास, यमक आदि हैं तथा अर्थालंकार सादृश्यमूलक उपमा, रूपक आदि, विरोधमूलक विरोध, विभावना आदि, काव्यन्यायमूलक पर्याय, परिवृत्ति आदि, लोकन्यायमूलक प्रत्यनीक, मीलित आदि, शृंखलाबंधमूलक कारणमाला, एकावली आदि, तर्कन्यायमूलक काव्यलिंग अनुमान आदि, गूढ़ार्थप्रतीतिमूलक व्याजोक्ति, सूक्ष्म आदि हैं ।[1] ललितविस्तर में शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थालंकार (उभयालंकार या मिश्रालंकार) तीनों प्रकार के अलंकारों का प्रयोग स्वाभाविक और अयत्न-सिद्ध है । कवि ने परम्परागत उपमानों के साथ-साथ नये-नये उपमानों का चयन भी किया है । उदाहरणार्थ विविध अलंकारों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

अनुप्रास अलंकार

वातु प्रवायतु वर्षति वर्षं विद्यु तसहस्रशशतानि पतन्ति ।
देव गुडायति वृक्ष लुडन्ति बोधिवटस्य न ईर्यति पत्रम् ॥[2]

प्रस्तुत पद्य में 'वातु प्रवायतु' पदों में वकार ध्वनि की दो बार आवृत्ति, सहस्रशशतानि पद में 'श' वर्णों की एक बार आवृत्ति, देव गुडायति, वृक्ष लुडन्ति पदों में 'ड' वर्ण की दो बार आवृत्ति होने से यहाँ अनुप्रास अलंकार है । इसी प्रकार—

दृष्ट्व च तानति भीषणरूपां, सवि विसंस्थितरूप-विरूपां ।
श्रीगुणलक्षणतेजधरस्या, चित्तु न कम्पति मेरुयथेव ॥[3]

इस पद्य में 'सवि विसंस्थित' पदांशों में 'व' एवं 'स' ध्वनियों की 'श्रीगुण-लक्षणतेजधरस्या' पद में 'ण' ध्वनि की आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है । इसी प्रकार—

ते तं स्रुवन्ति गुणभूतयथार्थदर्शी
ध्यायी गुणां विगतक्लेशतमो नुदस्य ॥
सुचिरेण सत्त्वरतनस्य हि प्रादुर्भावो
जातीजरामरणक्लेशरणंजयस्य ॥[4]

---

१. गाँधी, शारदा, ललितविस्तर : अलंकार-निरूपण
Proceedings of AIOC, XXVIII th Session, 1976, BORI, Poona, 1978, pp. 360-378.

२. ल०वि०, श्लोक ९५५

३. वही, श्लोक ९५७

४. वही, श्लोक २८०

इस पद्य में प्रथम चरण के पूर्वार्ध में 'त' ध्वनि की अनेक बार आवृत्ति है। तृतीय चरण में 'स' ध्वनि की तीन बार आवृत्ति, तथा चतुर्थ चरण में 'ज' ध्वनि की अनेक बार आवृत्ति होने से यहाँ भी अनुप्रास अलंकार है। इसी भांति—

आदीप्त सर्वत्रिभवं त्रिभिरग्नितप्तं
संकल्परागविषयारणि उच्छ्रितेन।
त्वं धर्ममेघ त्रिसहस्र स्फरित्व धीरा
अमृतोदकेन प्रशमेष्यसि क्लेशतापं॥[1]

यहाँ प्रथम चरण में 'प्त' एवं 'भ' ध्वनियों की आवृत्ति, द्वितीय चरण में 'र' ध्वनि की आवृत्ति, एवं चतुर्थ चरण में श, ष एवं स ध्वनियों की आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार है।

यमक अलंकार

शुभविमलप्रज्ञ प्रभतेधरा, द्वात्रिंशलक्षण वराग्रधरा।
स्भृतिभं मतिमं गुणज्ञानधरा, अकिलान्तकाशिरसि वन्दामिते॥[2]

प्रस्तुत पद्य में 'धरा' वर्णसमूह की तीन चरणों में आवृत्ति होने से यहाँ पादान्त यमक अलंकार है, तथा तृतीय चरण में 'तिमं' वर्णों की आवृत्ति होने से यमक अलंकार की शोभा मनोहारी है। इसी प्रकार—

अमला विमला त्रिमलैर्विमला
त्रैलोक्यविश्रुत त्रिविद्यगता।
त्रिविद्याविमोक्षवरचक्षुप्रदा
वन्दामि त्वां त्रिनयनंविमलं॥[3]

इस पद्य में 'मला' वर्णों की प्रथम चरण में चार बार तथा अन्तिम चरण में एक बार आवृत्ति होने से यमक अलंकार का चमत्कार काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि कर रहा है। इसके साथ ही इसी पद्य में 'त्र' शब्द की तीन बार एवं 'व' शब्द की अनेक बार आवृत्ति होने से अनुप्रास अलंकार विद्यमान है।

इसी प्रकार 'वातु प्रवायतु[4]' इत्यादि पूर्व उद्धृत पद्य में प्रथम चरण में 'वर्षति वर्ष' अंश में 'वर्ष' शब्द एवं ध्वनिसमूह की आवृत्ति होने से यहाँ भी

---

१. ल० वि०, श्लोक २८१
२. वही, श्लोक ११७९
३. वही, श्लोक ११८०
४. वही, श्लोक ९५५

यमक अलंकार होगा। ललितविस्तर में यथास्थान अनेक शब्दालंकारों का प्रयोग हुआ है।

श्लेष अलंकार

जब काव्य में ऐसी शब्दयोजना की जाती है जब वाक्यगत पदों से अनेक अर्थों की प्रतीति हो रही हो तो वहाँ श्लेष अलंकार माना जाता है।[1] वह आठ प्रकार का होता है। निम्नलिखित पद्य में श्लेष अलंकार[2] का चमत्कार द्रष्टव्य है—

पश्चिमेऽस्मिन् दिशो भागे अष्टंगो नाम पर्वतः।
प्रतिष्ठा चन्द्रसूर्याणां अष्टमर्थं ददातु वः।
सोऽपि च अधिपालेतु आरोग्येन शिवेन च ॥[3]

प्रथम अर्थ—पश्चिम दिशा में अस्ताचल नामक पर्वत है, जहाँ सूर्य और चन्द्रमा अस्तंभाव को प्राप्त हो जाते हैं। वह अस्ताचल पर्वत तुम्हें अर्थ प्रदान करे, साथ ही आरोग्य एवं कल्याण देते हुए तुम्हारा पालन करे।

द्वितीय अर्थ—पश्चिम दिशा में अष्टंग (आठ तक पहुँचाने वाला) प्रसिद्ध पर्वत है, वह चन्द्र और सूर्य का निवास स्थान है, वह तुम्हें अष्ट अर्थ अर्थात् आठ प्रकार के धन प्रदान करे, साथ ही आरोग्य एवं कल्याण देते हुए तुम्हारा संपूर्ण रूप से पालन करे।

इस श्लोक में दो अर्थों का बोध होने से श्लेष है।

उपमा अलंकार

उपमा अलंकार सर्वस्वीकृत एवं सुविदित अलंकार है। इस अलंकार में कथावस्तु में प्रस्तुत किसी पदार्थ के सदृश एक अन्य पदार्थ का प्रयोग किया जाता है। इन दोनों पदार्थों के बीच कोई समानता रहा करती है। यह समानता कभी-कभी एक धर्म के रूप में होती है अथवा कभी समान प्रतीत होने वाले दो धर्मों के द्वारा होती है। साथ ही दो पदार्थों में सादृश्य विद्यमान है इस तथ्य को सूचित करने के लिए इव, यथा इत्यादि सादृश्य वाचक पदों का प्रयोग वाक्य में रहा

---

१. श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते।
वर्णप्रत्ययलिङ्गवनां प्रकृत्योःपदयोरपि ॥ —सा० द० १०-१२

२. श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः।
पुनस्त्रिधा समङ्गोऽघाभङ्स्तदुभयात्मकः ॥ —सा० द० १०, १२

३. ल० वि०, श्लोक १३६५

करता है। उपमा अलंकार के चार अंग हैं। इनमें प्रथम प्रस्तुत पदार्थ को उपमेय कहते हैं, जिसकी समानता किसी पदार्थ के साथ बतायी जा रही है। उक्त पदार्थ की समानता जिस अन्य पदार्थ के साथ बतायी जा रही हो, उसे उपमान कहते हैं।[1] उपमेय और उपमान दोनों में रहने वाले उस धर्म अथवा धर्मों को साधारण धर्म कहते हैं, जिसके कारण उन दोनों पदार्थों को सदृश कहा जा सकता है। सादृश्य का कथन करने वाले 'इव' आदि को वाचक या उपमा-वाचक पद कहते हैं। उपमा अलंकार के इन चारों तत्त्वों का जहां कथन किया जाता है उसे उपमा अलंकार कहा जाता है। जहां इन चारों में से किसी एक अथवा अधिक का शब्दों द्वारा कथन नहीं होता है परन्तु उस अकथित अंग की प्रतीति अर्थ-सामर्थ्य से होती है वहां लुप्तोपमा अलंकार माना जाता है। उपमा अलंकार में साधारण धर्म सामान्यतः गुण विशेष हुआ करता है यद्यपि कभी-कभी क्रिया भी धर्म या गुण के रूप में उपमेय और उपमान के मध्य स्थित होकर सादृश्य का कारण बनती है। ऐसी उपमा को क्रियोपमा कहा जा सकता है।

ललितविस्तर में उपमा अलंकार का प्रयोग अत्यधिक मात्रा में हुआ है। संख्या की दृष्टि से ही नहीं अर्थ की दृष्टि से इस ग्रन्थ में उपमा अलंकार का प्रयोग अपना विशेष महत्त्व रखता है। उपमा के प्रयोगों में प्रायः नये उपमानों की उद्भावना कवि ने की है, इतना ही नहीं, बहुधा ऐसे उपमा प्रयोग हैं जिनमें यदि उपमान को छोड़ दिया जाए तो अर्थ की पूर्ण अभिव्यक्ति ही संभव नहीं हो सकेगी। उपमा अलंकार के प्रायः सभी भेद इसमें प्रयुक्त हैं पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा, मालोपमा आदि। उदाहरणार्थ कुछ पद्य उपस्थित हैं—

बाहुं प्रसार्य दश दिक्षु च सत्त्वसारा
आभासयिसु कलविङ्करुताय वाचा।
बोधिर् यथाम् अनुगता भवता विशुद्धा
तुल्यः समोऽपि यथ सर्पिणि सर्पिमण्डैः॥[2]

प्रस्तुत पद्य में दशों दिशाओं में एक साथ बोलने के लिए कलविंक पक्षियों के बोलने की उपमा सर्वथा नवीन है। इस उपमा में क्रिया साधारण धर्म के

१. काव्यप्रकाश (संपादक डा० श्री निवास शास्त्री) १०.१२५-१३४
वि० सं० २०१७, पृ० ४२७-४४२

२. ल० वि०, श्लोक ११४१

रूप में विद्यमान है। पद्य के उत्तरार्द्ध में शुद्ध बोधि के लिए सर्पि (घृत) में सर्पिमण्ड की उपमा सर्वथा नवीन है।

इह तन्मयानुबुद्धं प्रतीत्य समुदागतं जगच्छून्यम् ।
चित्तैकक्षणेऽनुयातं मरीचिगन्धर्वपुरतुल्यं ॥[1]

इस पद्य में बोधि प्राप्त होने के अनन्तर, जगत् के प्रतीत होने वाले स्वरूप के लिए गंधर्व नगर की उपमा दी है, जो क्षणमात्र में विलीन हो जाता है।

मारयुद्ध के प्रसंग में तथागत के तेज के समक्ष मार की सेना के भय-विह्वल होकर भागने में प्रवृत्त होने पर, भय के कारण की अतिशय भयानकता को व्यक्त करने के लिए दावाग्नि को उपमान के रूप में निबद्ध किया है—

हस्त्यश्वयानरथभुमितले निरस्ताः
धावन्ति राक्षसकुम्भण्ड-पिशास भीताः ।
सम्मूढमार्ग न लभन्ति अलेनत्राणाः
पक्षी दवाग्निपतनेव निरीक्ष्य क्रान्ताः ॥[2]

इस प्रसंग में दावाग्नि से अधिक उत्तम दूसरा कोई उपमान हो ही नहीं सकता।

काम की अनित्यता का कथन करते हुए कवि ने निम्नलिखित गद्य वाक्य में उपमानों की झड़ी लगा दी है जो अत्यन्त प्रासङ्गिक है।

'अनित्याः खल्वेते कामा अध्रुवा अशाश्वता विपरिणामधर्माणः प्रद्रुताश्चपला गिरिनदीवेगतुल्याः। अवश्यायबिन्दुवदचिरस्थायिन, उल्लापना रिक्तमुष्टिवदसाराः, कदलीस्कन्धवद्दुर्बलाः, आमभाजनवद् भेदनात्मकाः, शरदभ्रनिभाः क्षणाद् भूत्वा न भवन्ति। अचिरस्थायिनो विद्युत इव नभसि, सविषभोजनमिव परिणामदुःखाः, मालुतालतेवासुखदा, अभिलिखिता बालबुद्धिभिरुदकबुदबुदोपमा क्षिप्रं विपरिणामधर्माणः। मायामरीचिसदृशाः संज्ञाविपर्यासमुत्थिताः, मायासदृशाश्चित्तविपर्यासविधापिताः। स्वप्नसदृशाः दृष्टिविपर्यास परिग्रहयोगेनातृप्तिकराः। सागर इव दुष्पूरा लवणोदक इव तृषाकराः। सर्वशिरोवद् दुःस्पर्शनीया। महाप्रतापवत्परिवर्जिताः पण्डितैः ॥[3]

---

१. ल० वि० श्लोक १२८४
२. (क) वही, (वैद्य), गद्यभाग, परिवर्त्त १५, पृ० १५३
 (ख) वही, (शास्त्री) श्लोक ६२७
३. वही, (वैद्य) परिवर्त्त २१, पृ० २४७

इस गद्यखण्ड में काम की अनित्यता की पुष्टि के लिए अठारह उपमानों की योजना अलग-अलग अठारह धर्मों की योजना करते हुए की गयी है। यह उपमान सामान्य अभिधेय अर्थ की पुष्टि के लिए प्रयुक्त हैं अतः अर्थ की दृष्टि से सप्रयोजन हैं बाह्य अलंकार मात्र नहीं हैं।

एक अन्य स्थल पर बोधिवृक्ष की अधिष्ठात्री श्री, वृद्धि तथा श्रेयसी, विदु, ओजोवला, सत्यवादिनी, समङ्गिनी आठ देवता, बोधिसत्त्व की उपदेशोपचार द्वारा पूजा करके उनकी स्तुति करती हैं। इस स्तुतिक्रम में वे उनकी (बोधिसत्त्व की) सोलह आकारों से वृद्धि करती हैं। कवि उनके द्वारा प्रत्येक आकार का कथन करते हुए, एक-एक उपमा की योजना करता है। शोभा के लिए शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की, अभिरोचन के लिए उदीयमान सूर्य की, प्रफुल्लता के लिए कमल की, नदन हेतु केसरी की, विभ्राजन के लिए सागर के मध्य में स्थित पर्वतराज की, अभ्युदय के लिए चक्रवाल पर्वत की, दुःखगाहता के लिए रत्नाकर की, बुद्धि के विस्तार के लिए आकाश की, बुद्धि की सुस्थिरता के लिए धरतीतल की, बुद्धि की अकलुषता के लिए निर्मल (अनवतप्त) सरोवर की, गति के लिए वायु की, दुष्प्राप्यता के लिए तेजोराशि सूर्य की, बलवत्ता के लिए नारायण की, अपराजेयता के लिए इन्द्र के वज्र की आदि उपमाओं की सृष्टि की है।[1] स्मरणीय है कि उल्लेख अलंकार में एक उपमेय भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न उपमानों के रूप में देखा जाता है।[2] जब कि यहां द्रष्टा का भेद न होकर केवल दृष्टिभेद ही है अतः इसे हम उपमा के प्रकरण में ही परिगणित कर रहे हैं।

इसी प्रकार इसी प्रकरण में पुनः मार की दुर्बलता के उद्देश्य से सोलह प्रकार से उपमानों द्वारा उसमें निर्बल भाव का कथन किया गया है।[3] प्रायः इन सभी उपमा अलंकारों की योजना में धर्म को ही हेतु के रूप में उपनिबद्ध किया गया है। यहां निरन्तर सोलह श्लोकों में प्रत्येक में दो-दो उपमाओं का निबन्धन कवि की उपमा-प्रियता के साथ ही उसकी कवित्व प्रतिभा का भी सूचक है। उदाहरणार्थ दो पद्य उपस्थित हैं—

---

१. ल० वि०, श्लोक १०७४-१०८१

२. क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते॥

—सा० द० १०.३७

३. ल० वि०, श्लोक १०८२-१०९७

ध्वस्तस्त्वं पापीयं जीर्णक्रौञ्च इव ध्यायसे
दुर्बलस्त्वं पापीयं जीर्णगज इव पंकमग्नः ।।[1]

आम्लायिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन कल्पदान इव तृण वनस्पतयः ।
विकिरिष्यसे त्वमद्य पापीयं
बोधिसत्त्वेन महावर्जेणेव गिरिकूटम् ।।[2]

इन उपर्युक्त पद्यों में प्रत्येक में ही समान रूप से श्लोकार्ध के अंतिम अंश में 'जीर्ण क्रौञ्च इव ध्यायसे', 'जीर्णगजइव पंकमग्नः' इत्यादि पद्य में दो-दो साधारण धर्मों का, एक ही शैली में निबन्धन हुआ है। एक धर्मपाद के आदि में और द्वितीय उपमान के प्रयोग के बाद पादान्त में, यह क्रम-प्रकार यहाँ पाँच श्लोक १०८२ से १०८६ तक निरन्तर है। उसके अनन्तर के ग्यारह निरन्तर श्लोकों में पादादि में, क्रिया के रूप में आगन्तुक (साध्य) धर्म का पलायिष्यसे, विधुनेष्यसे, विवर्जिष्यसे, निग्रहीष्य से, निर्जेष्यते, आभिभविष्यसे, विध्वंसयिष्यसे, वित्रासिष्यसे, प्रपातिष्यसे, विलोप्स्यसे, विशोषिष्यसे, पालापिष्यसे, उद्भामिष्यसे, रोषिष्यसे, ध्यायिष्यसे, बिभत्स्यंसे, विलपिष्यसे, आम्लापिष्यसे, एवं विकिरिष्यसे आदि पदों के निबन्धन द्वारा जो चमत्कार प्रगट होता है, वह अन्यत्र-दुर्लभ है।

काम की निन्दा के प्रसंग में निम्नलिखित पद्य भी द्रष्टव्य है जहाँ उसे द्रुम-फल के समान पतनशील, आकाशस्थ मेघ के समान चंचल एवं पवन के समान अध्रुव कहा गया है—

काम द्रुमफला यथा पतन्ती, यथमिव अभ्रबलाहका व्रजन्ती ।
अध्रुव चपलगामि मारुतं वा, विकिरण सर्वशुभस्य वञ्चनीया ।।[3]

इस पद्य में उपमा का प्रयोग विचित्र अभिधा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि यहाँ कवि ने उपमा के माध्यम से ही कुछ कहना चाहा है।

कामगुणों की निन्दा निम्नलिखित श्लोक में उपमा के माध्यम से कितनी सुन्दर बन पड़ी है—

---

१. ल० वि०, श्लोक १०८२
२. वही, श्लोक १०९७
३. वही, श्लोक ७६७

उदचन्द्रसमा इमि कामगुणाः
प्रतिविम्ब इवा गिरिघोष यथा ।
प्रतिभाससमा नटरङ्गसमाः
तथ स्वप्नसमा विदितार्यजनैः ॥[1]

प्रस्तुत पद्य में कामगुण को जल में प्रतिविम्बित चन्द्रमा के सदृश, छाया के सदृश, पर्वत पर गूँजती प्रतिध्वनि के समान, मृगतृष्णा के समान अभिनय के समान तथा स्वप्न के समान बताते हुए, शब्दतः उनकी असत्यता का अभिधान किये बिना ही उपमा के द्वारा ही असत्यता का कथन कर दिया गया है।

ललितविस्तर में इस प्रकार उपमा अलंकार के असंख्य प्रयोग हुए हैं जहाँ वह केवल सामान्य अलंकरण न रहकर अर्थ के बोधक बनकर सुशोभित हो रहे हैं।

मालोपमा

मालोपमा अलंकार में एक ही उपमेय के लिए, अनेक उपमानों का एक ही साधारण धर्म के साथ निबन्धन होता है। इस प्रकार के उपमानों की माला से काव्य में एक अद्‌भुत चमत्कार आ जाता है। मालोपमा अलंकार के सौन्दर्य को निम्नलिखित पद्यों में देख सकते हैं—

हस्ती यथामभाण्डं प्रमर्दते क्रोष्टुकान् यथा सिंहः ।
खद्योतं वादित्यौ भेत्स्यति सुगतस्तथा सेनां ॥[2]

प्रस्तुत पद्य में सेना का भेदन क्रिया-रूप साधारण धर्म है, जो उपमेय सुगत के साथ हस्ती, सिंह, आदित्य इन तीनों उपमानों में विद्यमान है। यद्यपि उपमेय और उपमान के इन चारों स्थलों में भेदन-क्रिया के कर्म अलग-अलग हैं तथापि क्रिया एक ही है जो उपमेय में रहती हुई हस्ती आदि तीन उपमानों में साधर्म्य का कारण बनती है। इस प्रकार यहाँ मालोपमा अलंकार है। इसी प्रकार :—

तृणसंस्तरणं संस्तीर्य सिंहवत् शूरवत् बलवद् दृढ़वीर्यवत् स्थामवत् नागवत् ऐश्वर्यवत् स्वयंभूवत् ज्ञानिवद् अनुत्तरवत्, विशेषवत् अभ्युद्‌गतवत् यशोवत् कीर्त्तिवत् दानवत् शीलवत् क्षान्तिवत् वीर्यवत् ध्यानवत् प्रज्ञावत् ज्ञानवत् पुण्यवत् निहतमार-प्रत्यर्थिवत् संभारवत् पर्यङ्कमाभुज्य तस्मिन् तृणसंस्तरे न्यषीदत् ।[3]

---

१. ल० वि०, श्लोक ४६१

२. वही, श्लोक १०१६

३. वही, (वैद्य), परिवर्त १६, गद्यभाग, पृ० २१०

प्रस्तुत गद्यखण्ड में सुगत उपमेय के लिए सिंह आदि चौबीस उपमानों का निबन्धन किया गया है। यहाँ 'वत्' प्रत्यय उपमा का वाचक है तथा 'निषीदन्' क्रिया साधारण धर्म है जो उपमान के साथ सभी उपमेयों में समान रूप से विद्यमान है।

उपमा अलंकार के उपर्युक्त उदाहरणों में अन्य अलंकारों से असंसृष्ट कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। अग्रिम पंक्तियों में अन्य अलंकारों से संसृष्ट कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

उपमा और उत्प्रेक्षा

ये अन्तरीक्षात्तु प्रवर्षि पुष्पां
स्याच्चूडबन्धा हि महासहस्रा।
ते तुभ्य काये पतिता अशेषा
नद्यो यथा सागरि संप्रविष्टाः॥[1]

प्रस्तुत पद्य में अन्तरिक्ष से होती हुई पुष्पवृष्टि के लिए हजारों चूडबन्धों की उत्प्रेक्षा की गई है, जिसके द्वारा पुष्पवृष्टि में अतिशयिता की प्रतीति होती है। साथ ही पद्य के उत्तरार्ध में पुष्पवृष्टि में गिरते हुए पुष्पों की झड़ी तथागत पर ही गिरती रही (बिखरे नहीं), यह करने के लिए विम्ब-प्रतिविम्बभाव की योजना के साथ नदियों के सागर में गिरने की उपमा की गयी है। इस प्रकार यहाँ उपमा और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है।

उपमा और उल्लेख

शरणंभयार्दितानां दीपो अचक्षुषाणां
लयनो उपद्रुतानां वैद्यश्चिरातुराणां।
राजेव धर्मराजो इन्द्रः सहस्रनेत्रो
ब्रह्म स्वयंभुभूतः कायप्रशब्धचित्तो॥[2]

प्रस्तुत पद्य के पूर्वाप्त में तथागत बोधिसत्त्व को भयाक्रान्त जनों के लिए 'शरण', चक्षुहीन जनों के लिए नेत्रज्योति (दीप), शत्रु से आक्रान्त जनों के लिए आश्वस्त होकर छिपने का स्थान तथा चिरकाल से रोगग्रस्त जनों के लिए चिकित्सक कहते हुए उल्लेख अलंकार की योजना हुई है, तथा उत्तराप्त पद्य में धर्मराज के समान, राजा इन्द्र के तुल्य सहस्रनेत्र और ब्रह्म के समान स्वयंभू

१. ल० वि०, श्लोक १२२१
२. वही, श्लोक ६८१

कहते हुए उपमा अलंकार की योजना हुई है, इस प्रकार यहाँ उपमा और उल्लेख की संसृष्टि है।

रूपक

रूपक अलंकार उपमा के समान सादृश्यमूलक अलंकारों में एक है। इस अलंकार में सादृश्य के आधार पर उपमेय पर उपमान का अभेद आरोप होता है।[1] इस अभेद आरोप के कारण काव्य में उपमा अलंकार की अपेक्षा रूपक में कुछ अधिक चारुत्व की अनुभूति होती है।[2] इसीलिए रूपक अलंकार का प्रयोग काव्यों में आदिकाल से ही बहुत प्रचलित रहा है। ललितविस्तर के लेखक ने भी इस अलंकार का बहुतायत से सहज प्रयोग किया है। रूपक अलंकार के आचार्यों ने अनेक भेद स्वीकार किये हैं। इनमें निरङ्ग, साङ्ग और परम्परित रूपक मुख्य हैं। निरङ्ग रूपक में बिना किसी अवयव कल्पना के, किसी एक आरोप विषय पर, अवयव रहित आरोप्यमाण का आयोजन किया जाता है। इस निरङ्ग रूपक अलंकार के असंख्य उदाहरण ललितविस्तर में निबद्ध हैं। इन उदाहरणों में से कुछ उदाहरणों में कवि-परम्परा में प्रचलित आरोप्यमाण का आरोप किया गया है, जब कि अनेक उदाहरण ऐसे हैं जहाँ कवि ने नवीन-नवीन आरोप विषयों की उद्भावना की है। इन निरङ्ग रूपक योजनाओं के उदाहरणार्थ—**प्रज्ञा-असि**[3], ज्ञान-असि[4], मनुष्य-चन्द्र[5], तृष्णा-लता, नीवरण-कपाट[6] पुण्य-द्रुम[7]

---

१. वाच्यात् प्रतीयमानो ऽर्थस्तद्विदां स्वदतेऽधिकम्।
रूपकादिरतः श्रेयानलंकारेषु नोपमा॥ व्यक्तिविवेक, —का० २.३९

२. रूपकं रूपितारोपाद्विषये निरपह्नवे।
तत्परम्परितं साङ्गंनिरङ्गमिति च त्रिधा॥
यत्र कस्यचिदारोपः परारोपकारणम्।
तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्ट शब्दनिबन्धनम्॥
प्रत्येकं केवल मालारूपं चेति चतुर्विधम्।
अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत्॥
—सा० द० १०, २८-३३, पृ० ७१५-७२५

३. ल० वि०, श्लोक १२६६

४. वही, १२५९

५. वही, १२९७

६. वही, १२९६

७. वही ६७२,

मोह विद्यान्धतम[1], धर्मचक्षु[2], प्रज्ञाबल-लाङ्गल[3], तृष्णा-नदी[4], क्लेशारण्य[5], विनयाग्नि[6], ज्ञानाग्नि[7], ज्ञानाञ्जन[8], ज्ञान-सूर्य[9], अमृतमण्ड[10] आदि शब्दों के प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

जहाँ किसी एक रूपक योजना का आश्रय बनाकर अन्य रूपकों की योजना की जाती है वह परम्परित रूपक है, अथवा एक रूपक के अङ्ग उपाङ्ग के रूप में अन्य रूपकों की योजना की जाती है वह साङ्गरूपक है, वहाँ कविता में अपूर्व सौन्दर्य आ जाता है। ललितविस्तर में दोनों प्रकार के ही रूपक बहुतायत में प्रयुक्त हुए हैं।

परम्परित रूपक अलंकार

> **त्वं वैद्य धातुकुशल चिरातुरान् सत्यवैद्य सत्त्वान् ।**
> **त्रिविमोक्षागदयोगैर्निर्वाणमुखे स्थपय शीघ्रम् ॥**[11]

प्रस्तुत पद्य में तथागत पर सद्वैद्य का आरोप किया गया है और उसे हेतु मानकर त्रिविमोक्ष आभ्यन्तर-अशुचिदर्शन, बाह्य-अशुचि-दर्शन तथा बाह्याभ्यन्तर-अशुचि-दर्शन पर औषध (अगद) का, भव-दुःख पर रोग का आरोप किया गया है। इसी प्रकार—

> **इह मय किलेशगहना संकल्पविरूढमूल-भववृक्षाः ।**
> **स्मृतिपरशुना अशेषा छिन्ना ज्ञानाग्निना दग्धा ॥**[12]

---

१. ल० वि० श्लोक ५१४-५१५,
२. वही, श्लोक ५१५
३. वही, श्लोक १२६१
४. वही श्लोक १२५३
५. वही, श्लोक १२५४
६. वही,
७. वही, श्लोक १२५८
८. वही, श्लोक १२६२
९. वही, श्लोक १२७५
१०. वही श्लोक १२८७-१२९२
११. वही, श्लोक २७
१२. वही, श्लोक १२५८

भव पर वृक्ष का आरोप मुख्य है, उसके अंग के रूप में संकल्पों पर मूल का, एवं क्लेश पर झाड़ी का आरोप किया गया है इस अंश में यहां सांगरूपक है, तथा इसे हेतु मानकर स्मृति पर परशु का, ज्ञान पर अग्नि का एवं उनके समापन की क्रिया पर छेदन एवं दहन का आरोप किया गया है। इस प्रकार यहां पारम्परिक रूपक का सौन्दर्य काव्य में रम्यता का हेतु बन गया है। इस प्रकरण में अग्रिम दो श्लोकों में भी परम्परित रूपक की छटा द्रष्टव्य है—

इह ते मूलक्लेशाः सानुशया दुःखशोकसंभूताः।
मय उद्धृता अशेषा प्रज्ञाबललाङ्गलमुखेन ॥[1]
इह मे प्रज्ञाचक्षुविशोधितं प्रकृतिशुद्धसत्त्वानां।
ज्ञानाञ्जनेन महता मोहपटलविस्तरं भिन्नं ॥[2]

इनमें प्रथम पद्य में दुःख और शोक से उत्पन्न क्लेश पर मूल का आरोप-हेतु है प्रज्ञाबल पर लाङ्गलमुख (हल के फाल) का आरोप है। इसी प्रकार द्वितीय पद्य में ज्ञान पर अंजन के आरोप को हेतु मानकर, प्रज्ञा (बुद्धि) पर चक्षु का एवं मोह पर चक्षुजालक (माढा रोग) का आरोप नवीन उपमान होने के कारण तर्कसंगत है।

त्वं वैद्य धातुकुशलश्चिरातुरां सत्त्वरोगसंस्पृष्टां।
भैषज्यधर्मयोगैर्निर्वाणमुखे स्थपय शीघ्रं ॥[3]

हे बोधिसत्त्व ! रूप धातु अरूपधातु और कामधातु के भली प्रकार धातुविद् अर्थात् रसायन शास्त्र के जानकार वैद्य हो, अतः सत्त्व अर्थात् संसार रूपी रोग से आतुर जनों को धर्मरूपी औषधियों का योग प्रदान करके तुम उन्हें निर्वाण-रूपी आरोग्य का सुख शीघ्र प्रदान करो।

प्रस्तुत पद्य में बोधिसत्त्व पर किये गये वैद्य के आरोप को हेतु मानकर, उसके गुण धातुवेदिता पर धातु-वेदिता का, साथ ही संसार-चक्र पर रोग का, धर्मयोग पर भैषज्ययोग का एवं निर्वाण पर आरोग्य का आरोप किया गया है। इस प्रकार यहां परम्परित रूपक अलंकार की छटा दर्शनीय है, जिसमें सभी आरोप प्रायः कवि की अपनी प्रतिभा की सहज सृष्टि हैं। इसी प्रकार—

---

१. ल० वि०. श्लोक १२६१
२. वही, श्लोक १२६२
३. वही, श्लोक ५३६

इह धातुभूत चतुरो मदमकरविलोडित विपुलतृष्णाः।
स्मृतिसमथभास्करांशौ विशोषिता मे भवसमुद्राः ।।[1]

प्रस्तुत पद्य में धातु-चतुष्टय युक्त भव पर समुद्र के आरोप को हेतु मानकर तृष्णा—लोभ पर तृष्णा—प्यास का मद पर मकर का स्मृति और शमथ (शान्ति) पर सूर्य (भास्कराचार्य) की किरणों (हाथों) का आरोप अतिशय मनोहारी है। इसी भांति—

इह विषयकाष्ठनिचयो वितर्कसामो महामदनवह्निः।
निर्वापितोऽतिदीप्तो विमोक्षरसशीततोयेन ।।[2]

प्रस्तुत पद्य में मदन पर वह्नि के आरोप को हेतु मानकर, विषय पर काष्ठ समूह का, वितर्क पर धूम (साम-श्याम) का आरोप होने से परम्परित रूपक अलंकार है। साथ ही इस वह्नि-के आरोप को हेतु मानकर, विमोक्ष-रस पर शीतलतोय (शीतल-जल) का आरोप किया गया है अतः इस अंश में परिणाम अलंकार भी है। इस प्रकार सम्पूर्ण रूप में सजातीय रूपक एवं परिणाम अलंकार का संकर अत्यन्त चमत्कार पूर्ण है। इसी प्रकार—

इह मे अनुशयपटला आस्वादतडिद्वितर्कनिर्घोषाः।
वीर्यबलपवनवेगैर्विधूय विलयं सामुपनीताः ।।[3]

इस पद्य में अनुशय-पटल पर मेघ-पटल का, आस्वाद पर विद्युत का, और वितर्क पर निर्घोष का आरोप हेतु है। तथा इस रूपक-योजना को हेतु मानकर, वीर्यबल पर पवनवेग के विधूनन-कार्य का आरोप किया गया है अतः परिणाम है। इस प्रकार यहां भी रूपक और परिणाम अलंकार का संकर अतिशय चमत्कारी है।

इसी प्रकार निम्नलिखित गद्यभाग भी परम्परित रूपक के चमत्कार पूर्ण प्रयोग के लिए देखने योग्य है—

ध्यानविमोक्षसमाधिसमापत्तिगिरिदरीगुहानिवासितस्य चतुरीर्यापथविनयनौ-पवनसुवर्धिततरोर्दशबलवैशारद्याभ्यासीभावितबलस्य विगतभवविभवभयलोभहर्ष-स्यासंकुचितपराक्रमस्य तीर्थ्यशशमृगगणसंघशमथनस्य नैरात्म्यघोषोदाहारमहा-

---

१. ल० वि० श्लोक, १२६३

२. वही, श्लोक, १२६४

३. वही, श्लोक १२६५

सिंहनादनादिनः पुरुषसिंहस्य विमुक्तिध्यानमण्डलप्रज्ञप्रभरश्मितीर्थंकरखद्योतगणनिप्रभंकरस्य अविद्यातमोन्धकारतमःपटलवितिमिरकरणस्योत्तप्तबलवीर्यस्य देवमनुष्येषु पुण्यतेजः तेजितस्य महापुरुषदिनकरस्य कृष्णपक्षापगतस्य शुक्लपक्षप्रतिपूर्णस्य मनापप्रियदर्शनस्य अप्रतिहतचक्षुरिन्द्रियस्य देवशतसहस्रज्योतिर्गण प्रतिमण्डितस्य ध्यानविमोक्षज्ञानमण्डलस्य बोध्यङ्गसुखरश्मिशशिकिरणस्य··· तुषितवरभवने स्थितस्यश्वेतकेतुनाम्नो देवपुत्रोत्तमस्य···सम्यक्संबोधिमभिसंमोत्स्यतीति ।[1]

इस गद्यखण्ड में देवपुत्रोत्तम बोधिसत्त्व पर पुरुषसिंह महापुरुष दिनकर एवं चन्द्रमा (शशिकिरण) आदि अनेक पदार्थों का आरोप किया गया है तथा इन प्रत्येक आरोप को हेतु मानकर अन्य अनेक आरोप हुए हैं। उदाहरणार्थ बोधिसत्त्व पर पुरुषसिंह के आरोप को हेतु मानकर, तीर्थ्य पाखण्डी विद्वान जनों पर शशमृग का आरोप, नैरात्म्य की घोषणा पर सिंह गर्जन (निनाद) का आरोप, बोधिसत्त्व पर दिनकर के आरोप को हेतु मानकर, प्रज्ञा पर प्रकाश-किरण का, तीर्थंकर आदि पर खद्योत समूह का, अविद्या पर अंधकार का आरोप तथा बोधिसत्त्व पर ही किये गये चन्द्रमा के आरोप को हेतु मानकर भ्रमपूर्ण जीवन पर कृष्ण-पक्ष का, ज्ञानमय जीवन पर शुक्ल पक्ष का, देवसमूह पर ज्योतिर्गण अर्थात् नक्षत्र-समूह का, ध्यानविमोक्ष और ज्ञान पर मण्डल का और बोध्यंग सुख पर रश्मियों का आरोप किया गया है । इस प्रकार प्रस्तुत गद्य खण्ड में परम्परित माला रूपक की शोभा अत्यन्त मनोरम है ।

सांगरूपक

उपर्युक्त प्रकरण में ही बोधिचित्तमूलमहाकरुणादण्डाध्याशयोद्‌गतस्य गम्भीरवीर्य सलिलाभिषिक्तस्य उपायकौशलकर्णिकस्य बोध्यङ्गध्यानकेशरस्य समाधिकिञ्जल्कस्य गुणगणविमलसरसिसुजातस्य विगतमदमानपरिवाहशशिविमलविस्तीर्णपत्रस्य शीलश्रुताप्रसाददशदिगप्रतिहतगन्धिनो लोके ज्ञानवृद्धस्याष्टाभिर्लोकधर्मैरनुपलिप्तस्य महापुरुषपद्मस्य पुण्यज्ञानसंभारविस्तृतसुरभिगन्धिनः···'[2] इत्यादि गद्यखण्ड में महापुरुष पद द्वारा वाच्य बोधिसत्त्व पर, किये गये पद्म के आरोप के अंग के रूप में उपाय-कौशल पर कर्णिका का, बोध्यंग ध्यान पर केशर का, समाधि पद किंजल्क का, मद-मान के परिताप से

१. ल० वि० (वैद्य) गद्यभाग, पृ० ७-८

२. वही, पृ० ७

रहित स्वभाव पर चन्द्रमा सदृश निर्मल पत्र का, शील-श्रुत-अप्रमाद आदि गुणों पर सुगन्ध का आरोप किया गया है। तथा इस रूप-योजना की अनुकूलता से ही गुणगण पर निर्मल सरोवर का आरोप हुआ है। इस प्रकार प्रस्तुत गद्य-खण्ड में एक अंश में परम्परित रूपक होते हुए भी, सावयव रूपक अलंकार की योजना अतिशय मनोरम रूप से निबद्ध हुई है।

इस प्रकार रूपक अलंकार के अनेक उदाहरण ललितविस्तर में हैं जिसकी तुलना संस्कृत एवं पालि भाषा के किसी काव्य में प्राप्त हो, यह सम्भव नहीं है।

उदात्त अलंकार

उदात्त अलंकार वह है जहां किसी वस्तु (धन, शौर्य आदि) की असंभावित समृद्धि का वर्णन होता है और महापुरुषों के चरित का वर्णन किया जाता है।[1] मारधर्षण से पूर्व एतदर्थ प्रस्तुत होने के लिए की गयी देवताओं द्वारा बोधिसत्त्व की स्तुति के प्रकरण के निम्नलिखित पद्यों में उदात्त अलंकार की शोभा दर्शनीय है।[2]

विभ्राजसे त्वं अग्रसत्त्व, पर्वतराज इव सागरमध्ये।
अभ्युद्गतस्त्वं विशुद्धसत्त्व, चक्रवाड इव पर्वतः॥
दुखगाहस्त्वं अग्रसत्त्व, जलधर इव रत्नसम्पूर्णः।
विस्तीर्णबुद्धिरसि लोकनाथ, गगनमिवापर्यन्तं॥
सुस्थितबुद्धिरसि विशुद्धसत्त्व, धरणितलवत्सर्वत्त्वपोजीव्यः
अकलुषबुद्धिरसि अग्रसत्त्व, अनवतप्त इव सरः सदा प्रसन्नः॥

इन स्तुति पद्यों में कवि ने पर्वतराज चक्रवाड जलधर गगन धरणितल तथा सरोवर की उपमा की योजना करते हुए, बोधिसत्त्व की अत्यन्त तेजस्विता, उदात्तता, अतिशय दुःखगाहता, उनकी बुद्धि का असीम विस्तार, चित्त की सर्वतोभावेन एकाग्रता, बुद्धि का सर्वात्मना अकलुषित होना वर्णन करते हुए, बोधिसत्त्व की परम महिमा का गुणगान किया है। इस प्रकार यहां उदात्त अलंकार है। तथा समष्टि रूप से उपमा और उदात्त का संकर यहां संकर है।

---

१. (क) उदातं वस्तुनः सम्पत् महतां चोपलक्षणम्॥
—का० प्र० १०, १७६-१७७ पृ० ४९८-९९

(ख) लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते।
यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत्॥
—सा० द० १०, का० ९४

२. ल० वि०, श्लोक १०७६-१०७८

उत्प्रेक्षा अलंकार

सुप्तं प्रबोधयितुमिच्छति पन्नगेंद्रं
सुप्तं प्रबोधयितुमिच्छति यो गजेन्द्रं ।
सुप्तं प्रबोधयितुमिच्छति यो मृगेन्द्रं
सुस्थं प्रबोधयितुमिच्छति सो नरेन्द्रं ॥[1]

प्रस्तुत पद्य में समाधि में स्थित बोधिसत्त्व की, समाधि में विघ्न उत्पन्न करने को प्रस्तुत मार से सार्थवाह नामक प्रमुख मारपुत्र कहता है कि 'जो समाधि में स्थित बोधिसत्त्व को जगाना चाहता है, वह मानों सोते हुए सर्प को, सोते हुए गजराज को और सोते हुए मृगराज सिंह को जगाना चाहता है। इस प्रकार यहां बोधिसत्त्व को जगाने की इच्छा पर नागराज, गजराज और मृगराजसिंह के जगाने की इच्छा का अध्यवसाय किया जा रहा है। फलतः यहां उत्प्रेक्षा अलंकार है। यहां उत्प्रेक्षा बोधक 'मन्ये', 'शङ्के' आदि किसी पद का प्रयोग नहीं है अतः गम्या-उत्प्रेक्षा स्वीकार की जाएगी।

अर्थान्तरन्यास अलंकार

सामान्य से विशेष अथवा विशेष से सामान्य का समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग ललितविस्तर में अनेक बार हुआ है—

निःसंशयेन विनिहत्य स मारसेनां
पूर्वे जिनानुमत प्राप्स्यति अग्रबोधि।
ताता न रोचति हि नो व रणे विवादे
बलवत्सु विग्रहु सुकृच्छ्र अयं प्रयोगः ॥[2]

प्रस्तुत पद्य में मारकन्याएं अपने पिता मार को बोधिसत्त्व के साथ युद्ध न करने के लिए समझाते हुए कहती हैं कि 'हे तात ! यह रण और विवाद उत्तम नहीं प्रतीत होता, क्योंकि बलवानों के साथ युद्ध करना कष्टकर व्यापार है। यहां सामान्य से विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

विस्तार भय से अन्य अलंकारों के उदाहरणों को प्रस्तुत करने के मोह को छोड़कर, यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि ललितविस्तर में अलंकारों की अतिशय ललित योजना हुई है। उपमा और रूपक इन दो अलंकारों के प्रयोग यहां समस्त संस्कृत साहित्य में अनूठे हैं। सभी अलंकार

---

१. ल० वि०, श्लोक ६६१

२. वही, श्लोक १०७०

प्रायः अर्थ प्रतीति की दृष्टि से अपना विशेष स्थान रखते हैं अतः वे विचित्र अभिधारूप हैं, सामान्य अलंकरण मात्र नहीं।

ललितविस्तर में छन्द

गेयता, जो काव्य का प्रमुख गुण है, भाषा में छन्द की योजना से आया करता है। छन्दयोजना का अर्थ है वर्णों अथवा मात्राओं का अत्यन्त सुव्यवस्थित और नियमित प्रयोग, एक स्थिर व्यवस्था जिससे उसे स्वरसंधानपूर्वक पढ़ा जा सके अथवा प्रस्तुत किया जा सके। वर्णों अथवा मात्राओं की प्रयोग व्यवस्था को छन्द के नाम से जाना जाता है। इस व्यवस्था का विवेचन करने वाले शास्त्र को छन्दः शास्त्र कहते हैं। पिङ्गलाचार्य इस शास्त्र के आदि आचार्य माने जाते हैं।

छन्दःशास्त्र के अनुसार छन्द दो प्रकार के होते हैं मात्रिक और वार्णिक। मात्रिक छन्दों में पदों के उच्चारण के समय, उनमें विद्यमान स्वरों के उच्चारण काल की गणना की जाती है। इस उच्चारण काल को मात्रा के नाम से स्मरण किया जाता है। सामान्यतः किसी स्वर ध्वनि के उच्चारण में लगने वाली न्यूनतम काल मात्रा को एक मात्रा कहते हैं। इस काल-मात्रा में उच्चरित स्वर-ध्वनि को 'ह्रस्व' कहते हैं। इस न्यूनतम काल-मात्रा की अपेक्षा कुछ ध्वनियों के उच्चारण में इससे दुगुना समय लगता है, इस दुगुनी कालमात्रा में उच्चरित ध्वनि को 'दीर्घ' कहते हैं। लोक व्यवहार में हम किसी को दूर से पुकारने में जब पुकारे जाने वाले व्यक्ति का नाम लेकर पुकारते हैं[1] तो उस नाम के किसी एक स्वर के उच्चारण में सामान्य न्यूनतम काल-मात्रा की अपेक्षा तीन गुना समय लगता है। इस तीन गुनी काल-मात्रा में उच्चरित स्वर-ध्वनि को प्लुत कहते हैं। छन्दःशास्त्र में एक मात्रा से उच्चरित होने वाली ह्रस्व ध्वनि को 'लघु' कहते हैं।[2] दीर्घ ध्वनि के उच्चारण में द्विगुणित समय लगता है उसके लिए 'गुरु' शब्द का प्रयोग होता है। ह्रस्व स्वर के बाद यदि दो व्यंजनों का संयोग हो तो उस संयोग के प्रभाव से उससे पूर्ववर्ती स्वरध्वनि के उच्चारण में दो मात्रा का समय लगता है अतः उसे भी गुरु कहते हैं। तीन काल मात्रा वाली प्लुत ध्वनि का प्रयोग काव्य-रचनाओं में नहीं मिलता, अतः प्लुत के लिए छन्दःशास्त्र में किसी अन्य शब्द का प्रयोग प्रचलित नहीं है। छन्दःशास्त्र में ह्रस्व

---

१. दूराद्धूते च ॥ —पाणिनि अष्टाध्यायी ८. २. ८४

२. ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः ॥ —वही १. २. २७

और दीर्घ संज्ञाओं का प्रयोग न करके 'लघु' और 'गुरु' संज्ञाओं का ही प्रयोग होता है।

मात्रिक और वार्णिक छन्द

छन्द दो प्रकार के माने जाते हैं, मात्रिक और वार्णिक। गेयता की दृष्टि से जिन छन्दों में मात्राओं की गणना की जाती है, उन्हें मात्रिक छन्द कहते हैं। आर्या, गीति, उपगीति, गाथा आदि मात्रिक छन्द हैं। हिन्दी के दोहा, सोरठा, चौपाई, छप्पय आदि मात्रिक छन्द हैं। इसके विपरीत जिन छन्दों में वर्णों की गणना की जाती है उन्हें वार्णिक छन्द कहते हैं। अनुष्टुप्, त्रोटक, दोधक, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ, भुजंगप्रयात, शार्दूलविक्रीडित आदि वार्णिक छन्द हैं। लोकभाषा में लिखित काव्यों में आर्यागीति, गाथा आदि छन्दों का प्रयोग प्रायः अधिक होता है। गाथा सप्तशती आदि प्राकृत भाषा के काव्य एवं रामचरित मानस तथा पद्मावत आदि हिन्दी भाषा में लिखे काव्य इसके निदर्शन हैं। इसके विपरीत श्रेण्य (Classical) भाषा संस्कृत में लिखे गये काव्यों में वर्णिक छन्दों का प्रयोग अधिक होता है। रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, रघुवंश, कुमारसम्भव, किरातार्जुनीयम, शिशुपालवध आदि काव्य इस दिशा में उदाहरण हैं।

समीक्ष्य ग्रन्थ ललितविस्तर की भाषा भले ही पूर्णतया श्रेण्य संस्कृत अर्थात् पाणिनीय व्याकरण के सम्पूर्णतया अनुकूल नहीं है, तथापि इस काव्य में प्रायः वर्णिक छन्दों का ही प्रयोग हुआ है। किन्तु साथ ही स्मरणीय है कि जिस प्रकार भाषा के प्रयोग में संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हुए भी ग्रन्थकार ने, पाणिनीय आदि व्याकरण शास्त्रीय ग्रन्थों में, शब्द स्वरूप सम्बन्धी निर्धारित नियमों की पूर्णतया उपेक्षा की है, उसी प्रकार छन्दों का प्रयोग करते हुए भी छन्दःशास्त्रीय नियमों के पालन में सम्पूर्णरूप से नियमों की उपेक्षा की है। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रायः छन्दों के प्रयोग में दो या अधिक छन्दों का मिश्रण एक ही पद्य में हो गया है।

इस प्रसंग में स्मरणीय यह है कि कविता कवि की प्रतिभा से प्रसूत हुआ करती है। शास्त्रीय नियमों का पालन करने का निरन्तर ध्यान रखने पर कविता की सहजता समाप्त हो जाती है और उस सहज सौन्दर्य (चमत्कार, आह्लाद कहता) का समुचित उन्मेष नहीं हो पाता, यह सर्वस्वीकृत तथ्य है। छन्दो योजना के सम्बन्ध में कवि की यही स्थिति होती है इसी कारण वैदिक छन्दों में एक अथवा दो वर्णों के कम अथवा अधिक का प्रयोग किसी पद्य (मन्त्र) में हो जाने पर उसे निचृत, भूरिक् विराट् एवं स्वराट् विशेषण के साथ छन्द विशेष

माना जाता रहा है।[1] लौकिक छन्दों में भी उपजाति छन्द इसी प्रकार का है जिसमें एक ही पद्य में इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा छन्दों का एक साथ प्रयोग होता है।[2] यद्यपि छन्दःशास्त्र में इन प्रसंगों में भी कुछ नियम निर्धारित किये हैं, जैसे उपजाति छन्दों में आधे पद्य में एक स्थिति हो तथा आधे में द्वितीय स्थिति। उदाहरणार्थ उपजाति में दो चरण इन्द्रवज्रा के होने चाहिए और अन्य दो उपेन्द्रवज्रा के। इस नियम का पालन अनिवार्यतः करना होता है।[3]

पिङ्गलनागकृत छन्दःशास्त्र में भी 'अर्द्धे'[4] इस सूत्र के अधिकार का प्रारम्भ करके ही उपचित्रक, द्रुतमध्या, वेगवती, भद्रविराट्, केतुमती, आख्यानकी, विपरीताख्यानकी, हरिणप्लुता, अपखका, पुष्पिताग्रा, यवमती, शिखा, खुञ्जा नामक तेरह ऐसे छन्दों का वर्णन किया है, जहाँ छन्द सम्बन्धी परस्पर भिन्न नियमों का पालन किया गया होता है।[5] किन्तु संस्कृत काव्यों में एक पद्य में ही छन्द के नियमों का प्रयोग प्रायः उपेक्षित रहा है। केवल उपजाति का प्रयोग इसका अपवाद है। यही कारण है कि वृत्त रत्नाकर, छन्दोमञ्जरी, वाणीभूषण आदि छन्दःशास्त्रीय ग्रन्थों में उपचित्रक आदि छन्दों के लक्षण और उदाहरणों को खोज पाना काफी कठिन कार्य है।

संस्कृत कवियों में उपजाति का प्रयोग भी केवल इसलिए मिल जाता है कि, उसमें प्रयुक्त होने वाले इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा छन्दों में अन्तर बहुत कम है, अर्थात् इन्द्रवज्रा छन्द में प्रथम अक्षर के ह्रस्व होने मात्र से उपेन्द्रवज्रा छन्द हो जाता है। तात्पर्य यह है कि इन दोनों छन्दों में केवल एक मात्रा का अन्तर है, प्रथम वर्ण के ह्रस्व अथवा दीर्घ होने भर का अन्तर है, इससे अधिक नहीं। उपजाति के प्रयोग में इस व्यतिक्रम का भी नियमतः निर्वाह किया जाता है। फलतः या तो प्रथम और द्वितीय चरणों में इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा में अन्यतम का प्रयोग होता है और शेष (तृतीय और चतुर्थ) चरणों में दूसरे का अथवा प्रथम और तृतीय में एक का और द्वितीय तथा चतुर्थ में दूसरे का।

---

१. 'ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भूरिजौ, द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ ॥
—पिङ्गलनाग, छन्दःशास्त्रम, ३-६०

२. आद्यन्तावुपजातयः ।' —वही, ६. १७

३. 'अनन्तरोदीरित लक्ष्मभाजौ पादौ यदीयौ उपजातयस्ताः, ।
—केदारभट्ट, वृत्त रत्नाकर, ३. ३०

४. पिङ्गलनाग, छन्दःशास्त्रम् ५, ३१

५. वही, ५, ३२-४४

ललितविस्तर में उपर्युक्त किसी व्यवस्था का पालन छन्दो-योजना के प्रसंग में नहीं हुआ है । अतएव लगभग पचास प्रतिशत पद्यों को उपजातिजातीय मिश्रित छन्दों के रूप में स्वीकार करना पड़ता है तथा इन मिश्रणों में भी पिङ्गलनागकृत छन्दःशास्त्र में वर्णित मिश्रित छन्दों उपचित्रक आदि के लक्षण घटा पाना सम्भव नहीं हो पाता । उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

अभिशोभसे त्वं विशुद्धसत्त्व, चन्द्र इव शुक्लपक्षे ।
अभिरोचसे त्वं विशुद्धसत्त्व, सूर्य इव प्रोदयमानः ॥[1]

इस पद्य में और इसके परवर्ती अनेक पद्यों में यह निर्णय करना कठिन है कि इसे मात्रिक छन्द माना जाए अथवा वार्णिक । क्योंकि वर्णिक मानने पर प्रथम और तृतीय चरण में ग्यारह-ग्यारह वर्ण प्राप्त होते हैं और द्वितीय चरण में आठ तथा चतुर्थ में नौ । यदि इसे मात्रिक मानें तो प्रथम एवं तृतीय चरण में सत्रह-सत्रह मात्राएँ हैं एवं द्वितीय में बारह तथा चतुर्थ में चौदह । इस प्रकार यहाँ किसी दृष्टि से नियमबद्धता नहीं है ।

इसी प्रकार निम्नलिखित पद्य द्रष्टव्य है—

शृणु छन्दक मह्य निश्चयं
मोक्षसत्त्वार्थ—हितार्थमुद्यतं ।
अचलाचलमव्ययं दृढं
मेरुराजेव यथा सुदुश्चलं ॥[2]

इसके प्रथम और तृतीय चरण में दो सगण, एक जगण एवं एक गुरु कुल दस वर्ण हैं तथा द्वितीय और चतुर्थ में एक रगण, भगण, लघु एवं गुरु के क्रम से ग्यारह वर्ण हैं । इस पद्य में यद्यपि एक क्रम स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु वह क्रम ऐसा है जो पिंगलकृत छन्दशास्त्र जैसे प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों में दुर्लभ है । यही कारण है कि शान्तिभिक्षुशास्त्री जैसे विद्वानों को भी यहाँ छन्द का निर्वाह करना दुष्कर लगा । स्मरणीय है कि उन्होंने यहाँ वियोगिनी १.३ पाद एवं रथोद्धता २.४ पाद के मिश्रण से बना गाथा छन्द माना है किन्तु पिंगलकृत छन्दःशास्त्र में वियोगिनी छन्द अनुपस्थित है और रथोद्धता में रगण नगण, रगण तथा एक लघु एवं एक गुरु वर्ण होते हैं ।[3] न कि रगण भगण रगण

---

१. ल० वि०, श्लोक १०७४ (शास्त्री, शान्तिभिक्षु, छन्द गाथा गद्यगति)

२. ल० वि०, श्लोक ६३६

३. (क) रथोद्धता रनौ रलौ ग ॥ —पिंगलनाग, छन्दःशास्त्रम् ६.२२
(ख) दान्नराविह रथोद्धता लगौ । —केदारभट्ट, वृत्तरत्नाकर, ३.३८

एवं लघु गुरु। इस पद्य में भी दस एवं ग्यारह वर्गों वाले अप्रचलित छन्द का मिश्रण है।

यही स्थिति निम्नलिखित पद्य में भी है—

यथा मत्तगजेन्द्रगतीनां (मा) पादाङ्गुष्ठतलेन गजेन्द्र।
सप्त पुरापरिखा अतिक्रम्य क्षिप्तु बहि षूपुरा तु अयं हि॥[1]

यहाँ प्रथम और तृतीय चरण में दस-दस वर्ण हैं एवं तृतीय और चतुर्थ में ग्यारह-ग्यारह। यहाँ भी पूर्ण अनियमितता है। क्योंकि यहाँ प्रथम चरण में तीन सगण एवं एक गुरु, द्वितीय में एक भगण दो सगण एक गुरु तृतीय में दो भगण एक रगण दो गुरु तथा चतुर्थ चरण में तीन भगण दो गुरु हैं। इस प्रकार यहाँ चारों ही चरणों में परस्पर वैषम्य है। शान्तिभिक्षु शास्त्री ने यहाँ वेगवती छन्द माना है किन्तु यह प्रथम एवं चतुर्थ चरण में ही घटित होता है द्वितीय एवं तृतीय चरणों में नहीं। ऐसी ही स्थिति इस पद्य में है।

यदि नारिगण प्रहर्षितो
बोधयती तुरियैर्महामुनिं।
तद गाथ विचित्र निश्चरी
तूर्यशब्दात् सुगतानुभावतः॥[2]

यहाँ प्रथम चरण में दस वर्ण हैं और तृतीय में नौ। द्वितीय चतुर्थ में ग्यारह-ग्यारह। गणयोजना में किसी प्रकार का साम्य नहीं दिखाई देता। क्योंकि प्रथम चरण में दो सगण एक जगण एक लघु, इस प्रकार दस वर्ण हैं। द्वितीय में दो भगण एक रगण एक लघु एवं एक गुरु, ग्यारह वर्ण हैं। तृतीय में एक-एक रगण जगण, रगण नौ वर्ण हैं और चतुर्थ में एक-एक रगण भगण रगण एवं एक लघु एक गुरु। यहाँ चारों ही चरणों में परस्पर समानता का अभाव है।[3]

---

१. ल० वि०, श्लोक ३५५

२. वहीं, श्लोक ४७७

३. शान्तिभिक्षु शास्त्री ने यहां वैतालीय छन्द स्वीकार किया है

षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः।
न समात्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रला गुरुः।

—वृत्तरत्नाकर २.१२

सदृशोऽस्ति न ते कुतोऽन्तरे
शील समाधि तथैव प्रज्ञया ।
अधिमुक्तिविमुक्तिकोविदा
शिरसा वन्दिम ते तथागतं ।।[1]

इस पद्य में प्रथम एवं तृतीय चरणों में दस एवं द्वितीय और चतुर्थ चरणों में ग्यारह वर्ण हैं । किन्तु लघु-गुरु योजना की दृष्टि से प्रथम और तृतीय चरणों में तो समानता है क्योंकि दोनों में ही दो सगण एक जगण एक गुरु है किन्तु द्वितीय चरण में दो भगण एक तगण एक लघु एक गुरु, तथा चतुर्थ चरण में क्रमशः सगण, भगण, रगण और एक-एक लघु गुरु है । इस प्रकार यहां समग्र रूप से असमानता है । शान्तिभिक्षु शास्त्री ने यहां मालभारिणी छन्द माना है ।

तत्साधो पुरवर इत शीघ्रं । निष्क्रम्या पुरिमऋषिभि चीर्ण ।
आक्रम्या धरणितलप्रदेशं । संबुद्धचा असदृश जिनज्ञानं ।।[2]

इस पद्य में शान्तिभिक्षु शास्त्री ने मात्रासमक चौपाई छन्द माना है । हिन्दी भाषा में चौपाई छन्द में प्रत्येक चरण में सोलह-सोलह मात्राएँ होती हैं किन्तु यहां मात्राओं की गणना में यह स्थिति नहीं मिलती क्योंकि यहां प्रथम, द्वितीय चरणों में सोलह-सोलह मात्राएँ हैं एवं तृतीय चतुर्थ में सत्रह-सत्रह मात्राएँ हैं । यदि इसे वर्णिक छन्द के रूप में देखा जाए तो प्रथम, द्वितीय चरणों में पूर्ण समानता है क्योंकि दोनों ही चरणों में समान क्रम से एक मगण दो नगण एवं दो गुरु हैं । जब कि तृतीय और चतुर्थ चरण में स्थिति भिन्न है । वहां तृतीय चरण में क्रमशः मगण नगण जगण तथा दो गुरु एवं चतुर्थ चरण में मगण नगण सगण एवं दो गुरु हैं ।

पूर्वकर्मशुभसंचितस्य ते दीर्घरात्र कुशलोदितस्य ते ।
सत्यधर्म नयशोधितस्य ते पूजा अद्य विपुला प्रवर्तते ।।[3]

इस पद्य में प्रत्येक चरण में ग्यारह वर्ण हैं यहां प्रथम तीन चरणों में रगण, नगण, रगण लघु गुरु वर्णों की योजना होने से रथोद्धता छन्द माना है किन्तु चतुर्थ चरण में आदि में रगण के स्थान पर भगण होने से रथोद्धता का लक्षण घटित नहीं होता ।

---

१. ल० वि०, श्लोक १२०४
२. वही, श्लोक ३९५
३. वही, श्लोक १३६

बहु दिक्षिषु प्राणिसहस्रा, धर्मरताश्शृणुयामय धर्म ।
क्षिप्र प्रवर्तय चक्रमुदारं, मोचय प्राणिसहस्र भवेषु ॥[1]

इस पद्य में प्रथम चरण में ग्यारह अक्षर हैं और शेष तीन चरणों में ग्यारह-ग्यारह अक्षर हैं किन्तु गणों की गणना करने पर प्रत्येक चरण का स्वरूप परस्पर भिन्न है। क्यों कि प्रथम चरण में सगण, यगण, सगण और एक गुरु, द्वितीय चरण में तीन भगण दो गुरु, तृतीय चरण में एक तगण दो भगण दो गुरु तथा चतुर्थ चरण में एक रगण दो भगण एवं दो गुरु हैं। शान्तिभिक्षु ने यहां वेगवती एवं दोधक का मिश्रण मानकर उपजाति वर्ग में इसे रखना चाहा है। किन्तु वेगवती और दोधक के लक्षण यहां घटित नहीं होते। द्वितीय चरण में तीन भगण होने से वेगवती का संदेह हो सकता है किन्तु उसमें तीन भगण के बाद एक ही गुरु वर्ण होता है जब कि यहां दो गुरु वर्ण हैं।

प्रासादि धर्मोच्चयि शुद्धसत्त्वः
सुधर्मसिंहासनि संनिषण्णः ।
सभागदेवैः परिवारितो ऋषिः
सबोधिसत्त्वेभिः महायशोभिः ॥[2]

पद्य में शान्तिभिक्षु शास्त्री ने ग्यारह वर्णों वाला उपजाति छन्द माना है। यहाँ प्रथम एवं चतुर्थ चरण में इन्द्रवज्रा एवं द्वितीय चरण में उपेन्द्रवज्रा छन्द के लक्षण मिलनेसे उपजाति का भ्रम होना स्वाभाविक है किन्तु यहां भी चतुर्थ चरण में बारह वर्णों वाले वंशास्थ छन्द का प्रयोग हुआ है।

वेगवती

सयुगात्सगुरु विषमे चेद्भावहि वेगवती युजि भाद्गौ ॥

—वृत्तरत्नाकर ४.३

विषम पादों में—पहले और तीसरे पादों में यदि क्रम से तीन सगण एक गुरु हो। सम पादों में—दूसरे और चौथे पादों में यदि क्रम से तीन भगण और दो गुरु हों, तो उसे 'वेगवती' छन्द कहा जाता है।

दोधक

बोधकवृत्तमिदं भभभाद्गौ। —वृत्तरत्नाकर ३.३३

प्रत्येक चरण में क्रम से तीन भगण तथा दो गुरु हों तो दोधकवृत्त कहा जाता है।

---

१. ल० वि०, श्लोक १२०३

२. वही, श्लोक ३४

व्यवलोकयन्तः खलु जम्बुसाह्वयं
चः क्षत्रियो राजकुलो महात्मा ।
सर्वान् सदोषाननुचिन्तयन्तः
शाक्यं कुलं चादृसु वीत शोकं ।।[1]

यहां वर्णों की व्यवस्था और भी विचित्र है। द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ चरणों में ग्यारह वर्णों वाले इन्द्रवज्रा छन्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु प्रथम चरण में सगण, यगण, सगण जगण एवं एक गुरु इस प्रकार तेरह वर्णों का प्रयोग है। ऐसा प्रयोग अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं है। यदि इसी पद्य में प्रथम चरण के प्रथम शब्द 'व्यवलोकयन्तः' के स्थान पर 'व्यलोकयन्तः' पाठ माना जाए (यद्यपि पी० एल० वैद्य ३.३) एवं शान्तिभिक्षु ने एक मत से 'व्यावलोकयन्तः' पाठ ही माना है) तो उस स्थिति में इस चरण में द्वादशाक्षर वंशस्थ का लक्षण घटित हो सकता है और इस स्थिति में यह पूर्व पद्य (३.४) के समान देखा जा सकता है जहां वंशस्थ इन्द्रवज्रा के साथ एक चरण में प्रयुक्त है। इस ग्रन्थ में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं।

यत्ते दृष्टा मेदिनी कम्पमाना, कूटाशैला मेदिनीये पतन्ता ।
देवा नागा राक्षसा सूतसंघाः सर्वे तुभ्यं पूज्य श्रेष्ठां करोन्ति ।।[2]

इस पद्य में प्रथम तीन चरणों में भगण दो तगण दो गुरु होने से शालिनी छन्द[3] माना जाएगा किन्तु चतुर्थ चरण में भगण के बाद तगण न होकर पुनः भगण का प्रयोग हो गया है, अतः इसे भी शुद्धशालिनी नहीं कह सकते।

तृणु देहि मि स्वस्तिक शीघ्रं अद्य ममाथुं तृणैः सुमहान्तः ।
सबलं नमुचिं निहनित्वा बोधिमनुत्तर शान्ति स्पृशिष्ये ।।[4]

उपर्युक्त पद्य में प्रथम एवं तृतीय चरणों में दस-दस वर्ण हैं, जब कि द्वितीय, चतुर्थ में ग्यारह-ग्यारह। गणों की परीक्षा करने पर किसी चरण में समानता नहीं है। प्रथम चरण में सगण, यगण, सगण और एक गुरु, द्वितीय चरण में तीन भगण और दो गुरु तृतीय चरण में तीन सगण एक गुण और चतुर्थ चरण में दो भगण एक तगण एवं दो गुरु वर्णों का प्रयोग हुआ है।

---

१. ल० वि०, श्लोक ३६
२. वही, श्लोक ५७२
३. शालिन्युक्ताम्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः ।। —वृत्तरत्नाकर ३.३४
४. ल० वि०, श्लोक ८९७

स्मरणीय है कि इस पद्य में शान्तिभिक्षु शास्त्री को दोधक छन्द[1] होने का भ्रम हुआ है ।

पुण्यज्ञाने शुभनिचिततात्मा, ध्यानाभिज्ञो प्रतपसि विरजो ।
ओभासेसी दश इमदिशतो, मेघामुक्तः शशिखि विमलः ।।[2]

प्रस्तुत पद्य में पी० एल० वैद्य (१३.७) एवं शान्तिभिक्षु (३९१) ने प्रथम चरण में पाठ के सम्बन्ध में परस्पर मतभेद है । पी० एल० वैद्य 'पुण्यज्ञाने शुभ-निचितात्मा' पाठ मानते हैं जब कि शान्तिभिक्षु 'निचितात्मा' के स्थान पर 'निचिततात्मा' पाठ स्वीकार करते हैं । इस प्रकार शान्तिभिक्षु के पाठ में प्रत्येक अन्य चरणों के अनुसार इस चरण में भी ग्यारह अक्षर होते हैं जब कि पी० एल० वैद्य का पाठ मानने पर इस चरण में एक अक्षर कम होकर केवल दस अक्षर रहेंगे । पी० एल वैद्य के पाठ के अनुसार प्रथम चरण में क्रमशः एक मगण, भगण, सगण एवं एक गुरु, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ चरणों में एक-एक मगण, भगण नगण एक लघु और एक गुरु होंगे । इस प्रकार इन चरणों में भ्रमर-विलसित छन्द[3] होगा किन्तु प्रथम चरण में इसका लक्षण घटित नहीं होगा । शान्तिभिक्षु स्वीकृत पाठ मानने पर भी प्रथम चरण में भ्रमरविलसित का लक्षण घटित न होगा । उक्त पाठ स्वीकार करने पर मगण, भगण एवं नगण की योजना तो भ्रमरविलसित के अनुकूल है किन्तु उपान्त्य अर्थात् दसम वर्ण लघु होना चाहिए किन्तु वह गुरु है । अतः इस पाठ में छन्दयोजना दोषपूर्ण ही रहेगी ।

अभ्रान्ता अत्रस्ता अभीरु अछम्भी
अलीना अदीना प्रहृष्टा दुर्धर्षा ।
अरक्ता अदुष्टा अमूढा अलुब्धा
निरक्ता विमुक्ता नमस्ते महर्षे ।।[4]

उपर्युक्त पद्य में प्रत्येक चरण में बारह वर्ण हैं । इसके द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ चरणों में चार यगणों का प्रयोग होने से भुजंगप्रयात छन्द[5] है किन्तु प्रथम चरण में दो भगण एवं दो यगण प्रयुक्त हैं अतः इस चरण में वैश्वदेवी छन्द[6] होगा । यह मिश्रण भी अन्यत्र प्राप्त नहीं है ।

---

१. दोधकवृत्तमिदं भभभाद् गौ ।। —वृत्तरत्नाकर ३.३३
२. ल० वि०, श्लोक ३९१
३. मभौ न्लौ गः स्याद् भ्रमरविलसितम् ।। —वृत्तरत्नाकर ३.३७
४. ल० वि०, श्लोक ८९२
५. भुजङ्गप्रयातं भवेद् यैः चतुर्भिः ।। —वृत्तरत्नाकर ३.५५
६. (क) वैश्वदेवी मौ याविन्द्रियऋषयः ।। —पिङ्गल० छन्दः शास्त्रम् ६.४१
(ख) पञ्चाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ ।। —वृत्तरत्नाकर ३.६२

अमरपुरगतान अप्सरणां रूप मनोरम दृष्ट्वा बोधिसत्त्वे ।
मतिरियमभवत्तदा हि तासां प्रमद नुकीदृश बोधिसत्त्वमाता ।।[1]

प्रत्येक चरण में बारह वर्णों वाले इस पद्य के प्रथम और द्वितीय चरणों में दो नगण, एक रगण एवं एक यगण का प्रयोग होने से इन चरणों में पुष्पिताग्रा छन्द[2] माना जाएगा। किन्तु तृतीय, चतुर्थ चरणों में इस छन्द का निर्वाह नहीं हो सका है।

तृतीय चरण में नगण, भगण, रगण एवं यगण का, तथा चतुर्थ चरण में एक नगण दो जगण एक रगण तथा एक गुरु कुल तेरह वर्णों का प्रयोग हुआ है। स्मरणीय है कि शान्तिभिक्षु ने इस पद्य में दो चरणों में लक्षण की संगति देखकर पुष्पिताग्रा[3] छन्द ही स्वीकार किया है।

अतिव मोहतमावृत दुर्मती
निगुण कामगुणैः गुणसंज्ञिनः ।
विहग पञ्जरमध्यगता यथा
न हि लभन्ति कदाचि विनिःसृति ।।[4]

प्रस्तुत पद्य में प्रथम, तृतीय एवं चतुर्थ चरणों में द्रुतविलम्बित[5] छन्द है तथा द्वितीय चरण में तीन भगण एवं अन्त में एक रगण होने से द्रुतविलम्बित छन्द का निर्वाह न हो सका है।

यथ पूरित एष धनुर्मुनिना
न च उत्थितु आसनि नो च भुमी ।
निःसंशयु पूर्णमभिप्रायु मुनिर्
लघु भेष्यति जित्व च मारचमूं ।।[6]

१. ल० वि०, श्लोक १२०
२. पुष्पिताग्रा नौ र्यौ, न्जौ ज्रौ ग् ।। —छन्दःशास्त्रम् ५.४१
३. अयुजि नयुग रेफतो यकारो, युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।।
वदन्ति अपरवक्त्राख्यं वैतालीयं विपश्चितः ।
पुष्पिताग्राभिधं केचिदौपच्छन्दसिकं तथा ।।
—वृत्तरत्नाकर ४-१०
४. ल० वि०, श्लोक ६१८
५. द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ ।। —वृत्तरत्नाकर ३.४६
६. ल० वि, श्लोक ३७०

इस पद्य के प्रथम, द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों में चार सगणों का प्रयोग होने से तोटक छन्द[1] होता है। किन्तु तृतीय चरण में तोटक के लक्षण का निर्वाह नहीं हुआ है क्यों कि इनमें अंतिम दो सगणों से पूर्व क्रमशः तगण, जगण का प्रयोग हुआ है (त ज स स)। शान्तिभिक्षु को यहां भी छन्द निर्वाह में भ्रम हुआ है।

न तं तरेद् यस्य न पारमुत्तरे
न तं खनेद् यस्य न मूलमुद्धरेत्।
न कोपयेत् तं क्षमयेत् पुनोऽपि यं
कुर्यान्न तं येन भवेच्च दुर्मनाः॥[2]

इस पद्य में भी प्रथम तीन चरणों में वंशस्थ छन्द[3] का प्रयोग हुआ है किन्तु चतुर्थ चरण में प्रथम वर्ण के गुरु होने के कारण वंशस्थ का निर्वाह नहीं हुआ है अपितु इस चरण में छन्द इन्द्रवंशा[4] हो गया है।

अयं कुमारः शतपुण्य लक्षणो
जातस्तवा आत्मज पुण्यतेजितः।
स चक्रवर्ती चतुद्वीप ईश्वरो
भविष्यति सप्तधनैरुपेतः॥[5]

प्रस्तुत पद्य में प्रथम एवं तृतीय चरण में वंशस्थ का प्रयोग हुआ है तथा द्वितीय चरण में वंशस्थ के प्रथमाक्षर के गुरु होने के कारण इन्द्रवंशा छन्द है किन्तु चतुर्थ चरण में वंशस्थ एवं इन्द्रवंशा के लक्षणों का भी निर्वाह नहीं हो सका है। क्यों कि इस चरण में तीन जगण एवं दो गुरु वर्णों का प्रयोग होने से, बारह वर्णों के स्थान पर ग्यारह वर्ण ही प्रयुक्त हुए हैं अतः दोनों ही छन्दों के लक्षणों की संगति नहीं हो सकी है।

यथा च पुत्रो मम भूषितो गुणैः
तथा च कन्या स्वगुणा प्रभासते।

---

१. इह तोटकमम्बुधिसैः प्रथितम्॥ ३.४८

२. ल० वि०, श्लोक १०७३

३. वंशस्था ज्तौ ज्रौ॥ —छन्दःशास्त्रम् ६.२८

४. (क) इन्द्रवंशा तौ ज्रौ॥ —वही, ६.२९

(ख) स्यादिन्द्रवंशा ततजै रसंयुतैः॥ —वृत्तरत्नाकर ३.४७

५. ल० वि०, श्लोक ६२४

विशुद्धसत्त्वौ तदुभौ समागतौ
समेति सर्पिर्यथ सर्पिमण्डे ॥[1]

प्रस्तुत पद्य में प्रथम तीन चरणों में वंशस्थ एवं चतुर्थ चरण से उपेन्द्रवज्रा[2] का प्रयोग हुआ है। अतः यहां भी किसी एक छन्द के लक्षण का निर्वाह नहीं मान सकेंगे।

अहु तूर्यसहस्त्र प्रवादितैर्
अप्सरकोटिसहस्त्र अलंकृतैः।
लोभयित्वान नेष्ये पुरोत्तमं
कामरतिं हि करोमि वसे तवे ॥[3]

इस श्लोक में चतुर्थ चरण में मोदक छन्द प्रयुक्त हुआ है। अतः शान्ति भिक्षु शास्त्री ने यहाँ मोदक छन्द माना है। इस छन्द में चार भगण हुआ करते हैं। द्वितीय चरण में अंतिम वर्ण के गुरु होने से मोदक नहीं कह सकते। प्रथम एवं तृतीय चरणों में ग्यारह-ग्यारह वर्ण हैं, किन्तु केवल वर्णसंख्या का ही साम्य हैं, क्यों कि प्रथम में दो सगण एक रगण एक-एक लघु एवं गुरु तथा चतुर्थ, तृतीय चरण में रगण, सगण रगण एवं एक-एक लघु तथा गुरु वर्णों का प्रयोग हुजा है। इस प्रकार चारों ही चरणों में परस्पर छन्दो भेद है।

येन बुद्ध नयुता स्तवित पूर्व
गौरवेण महता जनिय श्रद्धान्।
ब्रह्मघोषवचनं मधुरवाणिं
बोधिमण्डोपगतं शिरसि वन्दे ॥[4]

प्रस्तुत पद्य में प्रथम एवं तृतीय चरणों में यगणांत चन्द्रवर्त्म[5] छन्द है। स्मरणीय है कि सामान्यतः चन्द्रवर्त्म छन्द भगणांत होता है अर्थात् इसमें रगण, नगण, भगण एवं सगण रहा करते हैं। इसमें भी प्रथम चरण में पादांत्य लघु को विकल्प से गुरु मानकर निर्वाह करना होता है। शेष द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों में इस छन्द का निर्वाह नहीं हो सका है क्योंकि द्वितीय चरण में रगण,

१. ल० वि०, श्लोक ३८४
२. उपेन्द्रवजा जतजास्ततो गौ। —वृत्त रत्नाकर ३.२६
३. ल० वि०, श्लोक ६८८
४. ल० वि०, श्लोक ६१५
५. चन्द्रवर्त्म निगदन्ति रनभसैः। —वृत्त रत्नाकर ३.४५

नगण, एवं भगण का तथा चतुर्थ में रगण दो भगण एवं एक यगण का प्रयोग हुआ है।

> **यस्य गुणैः सततं गुणगन्धिका**
> **भोन्ति सुरासुरयक्ष महोरगाः ।**
> **सो गुणवान् गुणराजकुलोदितो**
> **बोधिविटपे उपविष्ट गुणोदधिः ।।**[1]

इसी प्रकार प्रस्तुत पद्य में प्रथम, द्वितीय चरणों में तीन भगण एवं एक रगण का प्रयोग हुआ है। इसे शान्तिभिक्षु ने भगणारब्ध द्रुतविलम्बित छन्द माना है। किन्तु द्वितीय चरण में भगण, रगण, भगण एवं रगण तथा चतुर्थ चरण में एक भगण तीन जगण एवं एक गुरु का प्रयोग होने से भगणारब्ध द्रुतविलम्बित[2] के लक्षण का भी निर्वाह न हो सका है।

> **निष्कान्तु शूरो यद विदु बौधिसत्त्वो**
> **नगरं विबुद्धं कपिलपुरं समग्रं ।**
> **मन्यन्ति सर्वे शायनगतो कुमारो**
> **अन्योन्य हृष्टाः प्रमुदित आरभन्ते ।।**[3]

इस पद्य में प्रथम, तृतीय एवं चतुर्थ चरणों में प्रत्येक में दो तगण एक एक नगण एक रगण तथा एक गुरु है। अतः शान्तिभिक्षु शास्त्री ने यहाँ अति-जगतीजातीय गाथा[4] अर्थात् तेरह अक्षरों वाला प्राकृत छन्द माना है किन्तु यहाँ द्वितीय चरण में सगण यगण, नगण, जगण एवं दो गुरु वर्णों का प्रयोग होने से किसी एक छन्द का लक्षण घटित होना संभव नहीं है।

> **कामा भो बहुदुःखसंचया दुःखमूला ध्यानर्द्धीतपसं च भ्रंसनी अबुधानां ।**
> **नस्त्रीकामगुणेभि तृप्तितां विदुम् आहुः, प्रज्ञात्‌ृप्तिकरों भविष्यहं अबुधानां ।।**[5]

इस पद्य के चारों चरणों में चौदह वर्ण हैं यह एक समानता है अतः यह चतुर्दशाक्षर छन्द है यह सुनिश्चित है। तृतीय चतुर्थ चरणों में समान रूप से क्रमशः भगण, सगण, जगण और भगण के बाद दो गुरु वर्णों का प्रयोग हुआ है।

---

१. ल० वि०, श्लोक ९१२

२. द्रुतविलम्बितं न्भौ भ्रौ ।। —छन्दः शास्त्रम्, ६.३०

३. ल० वि०, श्लोक ६८६

४. द्विपञ्चाशदक्षरमतिजगती ।। —छन्दःशास्त्रम, ४-७ पृ० ४४-४५

५. ल० वि०, श्लोक १०३५

किन्तु प्रथम चरण में भगण और सगण के बाद जगण और तगण का प्रयोग करके तथा द्वितीय में भगण और सगण के बाद तगण और भगण का प्रयोग करके दो गुरु वर्णों का प्रयोग हुआ है। अतः यहाँ एक ही पद्य में तीन छन्दों का अनुसन्धान अलग-अलग चरणों में करना पड़ता है।

साधो श्रृणुष्व मम पार्थिव भूमिपाला, याचामि ते नृपतिरद्य वरं प्रयच्छ।
अभिप्रायु मह्य यथ चिन्तमनः प्रहर्षं, तन्मे श्रृणुष्व भव प्रीतमना उदग्रः ॥[1]

इस पद्य के तीन चरणों में चौदह वर्णोंवाला वसंततिलका[2] छन्द प्रयुक्त हुआ है। इसमें तगण, भगण, जगण और दो गुरु वर्ण प्रयुक्त होते हैं किन्तु तृतीय चरण में इस छन्द का निर्वाह नहीं हुआ है क्योंकि इस चरण में सगण, जगण दो सगण एवं एक यगण इस प्रकार कुल पन्द्रह वर्णों का प्रयोग हुआ है।

हिमरजतनिकाशश्चन्द्रसूर्यातिरेकः
सुचरण सुविभक्तः षड्विषाणो महात्मा।
गजवरु दृढ़संधि वज्रकल्पः सुरूपः
उदरि मम प्रविष्टस्तस्य हेतुं श्रृणुष्व ॥[3]

इस श्लोक में प्रथम चरण में नगण, जगण, भगण एवं दो यगण इस प्रकार कुल पंद्रह वर्ण हैं कि शेष तीन चरणों में प्रत्येक में एक भगण एक सगण दो तगण तथा दो गुरु इस प्रकार कुल चौदह वर्ण ही हैं। इस पद्य में शान्तिभिक्षु शास्त्री ने मालिनी छन्द[4] लिखा है यह विचारणीय है क्यों कि किसी चरण में भी मालिनी छन्द का लक्षण घटित नहीं होता।

अपिडित अलुडित अवितथवचना, अपगततमरज अमृतगतिगता।
अरहसि दिवि भुवि श्रिय क्रियमनुलाः अतिद्युति स्मृतिमति प्रणिपति शिरसा ॥[5]

प्रस्तुत पद्य में प्रथम एवं द्वितीय चरणों में आदि से चौदह वर्ण लघु तथा अंतिम वर्ण गुरु है अतः यहाँ चन्द्रवती[6] या शशिकला[7] छन्द मानना चाहिए।

---

१. ल० वि०, श्लोक ७५
२. उक्ता वसंततिलका तमजा जगौ गः। —वृत्त रत्नाकर ३.७९.
३. ल० वि०, श्लोक १६१
४. ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः। —वृत्त रत्नाकर ३.८७
५. ल० वि०, श्लोक, ८९
६. चन्द्रावर्ता नौ नौ स्। मालर्तुनवकौ चेत्। मणिगुणनिकरो वस्वृषयः। विङ्गल० छन्दःशास्त्रम् ७-११,१२,१३
७. द्विहतहयलघुरथ गिति शशिकला ॥ वृ० रत्नाकर ३.८४

किन्तु तृतीय चरण में आठवां एवं दसवाँ तथा चतुर्थ चरण में दूसरा, चौथा और आठवाँ वर्ण भी गुरु है अतः इन दोनों चरणों में चन्द्रावर्ता या शशिकला छन्द के लक्षण का घटित होना संभव नहीं है।

शिविनृपति त्वमिहा शशिकेतो आसि सुदंष्ट्रो
कृप करुणामनसो मणिचूडो चन्द्रप्रदीपः ॥
इति प्रमुखा करिया दृढसूरो राज सुनेत्रो
बहुनृपति (ती)-नयुता रत दाने त्वं सा विकुर्वन् ॥[1]

इस पद्य को यदि मात्रिक रोला छन्द माना जाए यो प्रत्येक चरण में चौबीस-चौबीस मात्राएँ होनी चाहिए किन्तु प्रथम और अंतिम चरणों में मात्राओं की संख्या तो ठीक है किन्तु द्वितीय एवं तृतीय चरणों में एक-एक मात्रा अधिक अर्थात् पचीस-पचीस मात्राएँ हैं। यदि इसे मात्रिक छन्द न मानकर वर्णिक मानें तो प्रथम और चतुर्थ चरणों में प्रत्येक में एक नगण दो जगण एक यगण एक भगण एवं दो गुरु वर्ण होने से अत्यष्टि गाथा छन्द कहा जाएगा किन्तु द्वितीय एवं तृतीय चरणों में यह स्थिति नहीं है। उनमें क्रमशः एक नगण दो जगण एक यगण एक तगण एवं दो गुरु तथा तीन जगण एक यगण एक भगण एवं दो गुरु वर्ण हैं। अतः यहाँ भी किसी शुद्ध (अमिश्रित) छन्द की कल्पना नहीं की जा सकती। शान्ति-भिक्षु शास्त्री ने यहाँ रोला छन्द[2] माना है।

पदसौ जगत्प्रधानो निष्क्रान्तु बोधिसत्त्वो
तस्या नमे व्रजन्तो स्तवींयसु अप्सराणां।
एष महदक्षिणीयो एष महपुण्यक्षेत्रं
पुण्यार्थिकान क्षेत्रं अमृताफलस्य दाता ॥[3]

इस पद्य में भी यही स्थिति है। यदि इसे मात्रिक छन्द मानकर चौबीस मात्राओं वाला रोला छन्द कहना चाहें तो प्रथम, द्वितीय, तृतीय चरणों में तो लक्षण घटित हो जाएगा किन्तु चतुर्थ में नहीं। क्यों कि इसमें केवल तेइस

---

१. ल० वि०, श्लोक ४०२

२. यथेच्छं गुरुलघुभिः चतुर्विंशतिमात्राः प्रतिचरणं भवन्ति, एवं पादचतुष्टय-युता रोला।...अत्र एकादश भुखो द्वौलघू यदि पादे तदा रोला शुद्धा। प्रतिपादमेकैकगुरुहासे लघुद्वयवृद्धौ च करतालादिसंज्ञा भेदा द्वादश ॥
—वृत्तरत्नाकर ५. पृ० १६६

३. ल० वि०, श्लोक ६७६

मात्राएँ ही हैं। यदि इसे अष्टिजातीय षोडशाक्षरी गाथा छन्द[1] मानें, जैसा कि शान्तिभिक्षु मानते हैं तो भयंकर अव्यवस्था प्रकट होती। क्योंकि प्रथम, द्वितीय चरणों में केवल पन्द्रह वर्ण हैं एवं चतुर्थ में सत्रह। सोलह वर्ण केवल तृतीय चरण में ही मिलते हैं। इन चारों चरणों में गणों के आधार पर परीक्षा करने पर चारों चरण परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। क्यों कि प्रथम चरण में सगण, जगण, भगण रगण, और यगण, द्वितीय चरण में तगण रगण भगण रगण और यगण, तृतीय चरण में नगण, भगण, भगण, नगण, भगण और एक गुरु तथा चतुर्थ चरण में तगण मगण सगण जगण और दो गुण वर्ण प्रयुक्त हुए हैं।

श्रुत्वा स्वस्तिकु वाच नायके सुरुचिर मधुरां
तुष्टो आत्मनाश्च हर्षितः प्रमुदितमनसः।
गृह्लनीत्वा तृणमुष्टि स्पर्शनवती मृदुतरुण सुभां
पुरतः स्थित्वन वाच भाषते प्रमुदित हृदयः॥[2]

इस पद्य में भी यही स्थिति है। इसे यदि मात्रिक छन्द रोला माना जाए तो द्वितीय, चतुर्थ चरणों में चौबीस-चौबीस मात्राएँ होने से अनुचित न होगा किन्तु प्रथम चरण में केवल तेइस तथा तृतीय में छब्बीस मात्राएँ होने से रोला लक्षण की संगति न हो सकेगी। यदि इसे सप्तदशाक्षरी गाथा (वार्णिक) छन्द मानना चाहें तो जैसा कि शान्तिभिक्षु शास्त्री मानते हैं, व्यवस्था एक दम नहीं बनती। क्यों कि इस पद्य में सत्रह वर्ण केवल द्वितीय चरण में हैं। प्रथम में एक कम अर्थात सोलह हैं जब कि चतुर्थ में अधिक अठारह एवं तृतीय में दो अधिक उन्नीस वर्ण विद्यमान हैं। गणों की व्यवस्था प्रथम और द्वितीय चरणों में प्रायः समान है केवल द्वितीय चरण में उपान्त्य लघु वर्ण प्रथम की अपेक्षा अधिक है। भ स ज भ न ग, भ स ज भ न ल ग। तृतीय चरण इससे बहुत भिन्न है। इसमें भगण सगण तगण सगण दो नगण एवं एक गुरु है। चतुर्थ चरण की स्थिति दोनों से पूर्णतः भिन्न है यहाँ सगण, भगण, रगण, जगण, नगण एवं सगण का प्रयोग हुआ है। अतः यहाँ भी किसी एक छन्द का लक्षण घटित नहीं हो सकता।

छिन्न वर्त्मोपसान्त रजाः शुष्का आश्रवा न पुन श्रवन्ति।
छिन्न वर्त्म निवर्तते दुःखस्यैषोऽन्त उच्यते॥[3]

---

१. पिङ्गल० छन्दःशास्त्रम् ६० पृ० १५४ (टिप्पणी)
२. ल० वि०, श्लोक ९०२
३. ल०वि०, श्लोक ११३९

इस श्लोक में मात्रिक छन्द विपुला आर्या माना जाता है। विपुला आर्या में आर्या के प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ चरणों की मात्राओं की गणना संयुक्त करके ही की जाती है। आर्या में प्रथम और तृतीय चरण में बारह-बारह मात्राएँ होती हैं, तथा द्वितीय में अठारह और चतुर्थ में पन्द्रह मात्राएँ होती हैं[1] इस प्रकार विपुला के पूर्वार्ध में (१२+१८=३०) तीस मात्राएँ तथा उत्तरार्ध में (१२+१५=२७) सत्ताइस मात्राएँ होनी चाहिए। जबकि प्रस्तुत पद्य के पूर्वार्ध में बत्तीस से अधिक तथा उत्तरार्ध में छब्बीस अर्थात् एक कम मात्रा विद्यमान है।

शुभविमलविशुद्धहेमप्रभा चन्द्रसूर्यप्रभा
षष्टिदशसहस्र देवाप्सरा मञ्जुघोषस्वराः।
तस्मि क्षणि उपेत्य तां लुम्बिनीं मायदेव्यब्रुवन्
मा खु जनि विषादु तुष्टा भवोपस्थापिकास्ते वयं॥[2]

प्रस्तुत पद्य में प्रथम चरण में दो नगण एवं चार रगणों का प्रयोग होने से यहाँ नाराचछन्द मानना चाहिए। इसे ही सिंहविक्रीडित अथवा महामालिका (=वनमाला) छन्द कहा जाता है।[3] इस छन्द का लक्षण भी केवल प्रथम चरण में संगत है, अन्य चरणों में नहीं। क्योंकि अन्य चरणों से दो नगणों एवं चार रगणों का प्रयोग न होकर सर्वथा भिन्न स्थिति है। यथा द्वितीय चरण में दो भगण, तीन यगण, एक-एक लघु गुरु कुल सत्रह वर्ण, तृतीय चरण में एक तगण, एक सगण, तीन यगण एवं एक-एक लघु गुरु कुल सत्रह वर्ण तथा चतुर्थ चरण में भगण, सगण दो यगण प्रयुक्त हुए हैं। इस प्रकार यहाँ भी छन्द की एक व्यवस्था नहीं दिखाई देती है।

---

१. एकैव भवति पथ्या तिस्रो विपुलाः चतस्र एवं ताः।
चपलाभेदैः त्रिभिरपि भिन्ना इति षोडशार्याः स्युः॥
गीतिचतुष्टयमित्थं प्रत्येकं षोडशप्रकारं स्यात्।
साकल्पेनार्याणामशीतिरेवं विकल्पाः स्युः॥

—छन्दःशास्त्रम्, ४, २३, पृ० ५१

२. ल०वि०, श्लोक २१३

३. नाराचच्छन्दः—इह ननरचतुष्कसृष्टं तु नाराचमाचक्षते।' षोडशाक्षर-प्रस्तारे नराचः, अत्र तु नाराच इत्यनयोः भेदः। नाराचस्यैव 'सिंहविक्रीडितम्' 'महामालिका' इति नामान्तरे अन्यत्र। अस्यैव यतिभेदात् 'लालसा' इति नामोक्तमन्यैः—'दशवसुविरतिर्ननौ रेश्चतुर्भिर्युतौ लालसा' इति। 'निशा' इति मं० म०। --पिङ्गल छन्दःशास्त्रम्, टिप्पणी, पृ० १६१

तृष्णाऽरती रतिश्च सहिता प्रमदवर मधुरा
मारसमीरिताः सुलडिता त्वरितमुपगताः।
वायुसमीहिता किसलयास्ततरुणतरुलता
नृत्तत लोभयं नृपसुतं द्रुमविटपगतं ॥[1]

प्रस्तुत पद्य में द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ चरणों में वंशपत्रपतित छन्द[2] है जिसमें क्रमश: भगण, रगण, नगण, भगण, नगण एवं एक-एक लघु गुरु वर्ण होते हैं किन्तु इसी पद्य के प्रथम चरण में एक वर्ण अधिक होने से अन्त्य में एक लघु एवं एक गुरु के स्थान पर दो लघु एक गुरु अर्थात् एक सगण का प्रयोग होने से वंशपत्रपतित छन्द का लक्षण घटित नहीं होता।

किं देवो त्वसुरोऽथवापि स भवेद् गरुडोऽथवा किंनरः।
बुद्धो नाम किमेतदश्रुतपदं प्रीतिकरं मोदनं।
दिव्या चक्षुष प्रेक्षते दश दिशः शैलान् महीं सागरान्।
भूपः पश्यति चाद्‌भुतं बहुविधं भूमौ गिरौ सागरे ॥[3]

इस पद्य के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ चरणों में शार्दूलविक्रीडित[4] छन्द है। इस छन्द में बारह और सात वर्णों पर यति युक्त उन्नीस वर्ण होते हैं। तथा उनकी योजना मगण, सगण, जगण सगण दो तगण और एक गुरु इस क्रम से होती है। किन्तु प्रथम चरण में इस लक्षण का निर्वाह नहीं हो सका है। वहाँ मगण, सगण जगण, सगण के बाद तगण न होकर सगण, यगण और एक लघु गुरु वर्ण है।

आभेयं प्रविराजते सुरुचिरा प्रल्हादयन्ती तनुं
जातश्चैव तथा हि शैलशिखरे स्निग्धाः प्रवाडाङ्कुराः।
वृक्षाश्चैव तथा सुपुष्पभरिता नानाफलैर्मण्डिताः
सुव्यक्तं त्रिभवे भविष्यति लघु रत्नोद्भवः शोभनः ॥[5]

इस उपर्युक्त पद्य में शार्दूलविक्रीडित छन्द का लक्षण, प्रथम तीन चरणों में घटित होता है। किन्तु अंतिम चरण में मगण, सगण, नगण के बाद सगण के

---

१. ल०वि०, श्लोक १०४६

२. वंशपत्रपतितं भ्रौ न्भौ न्लौ ग् दिगृषयः॥ —छन्दःशास्त्रम् ७.१८

३. ल०वि०, श्लोक २४६

४. सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्॥ —वृत्तरत्नाकर ३.१०१

५. ल०वि०, श्लोक २४७

प्रयोग के स्थान पर नगण का प्रयोग हुआ है। अतः यहां भी छन्द का लक्षण घटित नहीं होता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छन्द के प्रयोग के प्रसंग में ललितविस्तरकार किसी नियम का पालन नहीं कर सके हैं, और न कवि में ऐसी प्रतिभा के दर्शन होते हैं कि छन्दोयोजना स्वतः होती चले।

उपर्युक्त उदाहरणों को देखकर यह कल्पना करनी उचित नहीं होगी कि समग्र ग्रन्थ में छन्दः प्रयोग के कोई शुद्ध उदाहरण हैं ही नहीं। इस प्रसंग में पद्य संख्या ३५७[1], ९९२ आदि में इन्द्रवज्रा[2] छन्द के, ६४२ आदि में रुचिरा[3] छन्द के, ३२० आदि में प्रहर्षिणी[4] छन्द के, २४५, २४७ आदि पद्यों में शार्दूल-बिक्रीडित छन्द के शुद्ध प्रयोग भी देखे जा सकते हैं।

काव्यरचना की सामान्यतः दो शैलियाँ हुआ करती हैं छन्दोबद्ध काव्य और छन्दोयोजना से रहित काव्य। छन्दो योजना से युक्त काव्य को पद्यकाव्य कहते हैं जिसके सामान्यतः तीन प्रकार हैं (१) मुक्तक तथा युग्मक, कुलक आदि, (२) खण्डकाव्य और (३) महाकाव्य। छन्दोयोजना से रहित काव्य को गद्य-काव्य कहते हैं। काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने इसके दो प्रकार स्वीकार किये हैं (१) कथा और (२) आख्यायिका। इसके अतिरिक्त एक तृतीय शैली भी परम्परा में प्राप्त है और आचार्यों द्वारा स्वीकृत भी—जिसमें आवश्यकतानुसार अथवा इच्छानुसार यथावसर कहीं छन्दों का प्रयोग होता है और कहीं नहीं भी

---

१. मानुष्यलोकेऽथ च देवलोके, गन्धर्वलोकेऽप्यसुरेन्द्रलोके।
   ······ शुद्धसत्त्वः॥ —ल०वि०, श्लोक ३५७

२. स्यात् तादृशानामपि···। —वही, श्लोक ९९२

३. (क) न रज्यते पुरुषवरस्य मानसं
   नभो यथा तमरजधूमकेतुभिः।
   न लिप्यते विषयसुखेषु निर्मलो
   जले यथा नवनलिनं समुद्भवं॥ —वही श्लोक ६४२

   (ख) रुचिरा ज्भौ स्जौ ग् चतुर्नवकौ॥ —पिङ्गल, छन्दःशास्त्रम् ७.२

४. (क) व्यावृत्ते तिमिरनुदस्य मण्डलेऽपि
   व्यामाभं शुभवरलक्षणाग्रधारि
   ध्यायन्तं गिरिनिचलं नरेन्द्रपुत्रं
   सिद्धार्थं न जहति सैव वृक्षछाया॥ —ल०वि० श्लोक ३२०

   (ख) प्रहर्षिणी मनौ जरौ ग् त्रिकदशकौ॥ —पि० छन्दःशास्त्रम् ७.१

होता। इस प्रकार की गद्यपद्यमयी रचना को चम्पूकाव्य[1] कहा गया है। छन्दों का प्रयोग करते हुए काव्य रचना करने की दो शैलियाँ संस्कृत वाङ्मय में प्राप्त होती हैं। इनमें से एक शैली में छन्दोयोजना सम्बन्धी नियमों का पूर्ण पालन किया जाता है, एक चरण में जितने वर्णों का प्रयोग किया गया है जहां-जहां लघु और गुरुवर्णों का प्रयोग हुआ है दूसरे शब्दों में जिस क्रम से गणों का प्रयोग किया गया है, उसका निर्वाह संपूर्ण रूप से चारों चरणों में किया जाए। इन लोगों ने केवल महाकाव्य के प्रसंग में ही कुछ उदारता वरती कि सर्ग के अंत में छन्द बदल लेने की छूट कवि को प्रदान की।[2] इस परंपरा के अनुसार उपजाति और आर्या ही केवल अपवाद रहे हैं। उपजाति छन्द, जहां इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा दो छन्दों का प्रयोग एक ही पद्य में होता है, उसमें केवल प्रथम वर्ण के लघु अथवा गुरु होने का अन्तर रहता है शेष सर्वत्र नियम अथवा प्रक्रम का पूर्ण निर्वाह होता है। आर्या छन्द जहां प्रथम और तृतीय चरणों में बारह मात्राओं तथा द्वितीय में अठारह और चतुर्थ में पन्द्रह मात्राओं का प्रयोग होता है यह प्रयोग इस परम्परा के कवियों ने प्रायः नहीं किया है अथवा बहुत कम किया है।

छन्दः प्रयोग की दूसरी शैली में केवल गेयता को ध्यान में रखकर पद्य-रचना की जाती रही है। वर्णों अथवा मात्राओं के प्रयोग, प्रक्रम के निर्वाह की आवश्यकता कथमपि नहीं समझी गयी। प्रत्येक छन्द में चार चरण होते हैं किन्तु यदि कहीं चार के स्थान पर तीन ही चरण हैं, तो उसे भी अस्वीकार नहीं किया अपितु गायत्री छन्द के नाम से उसे भी एक स्वतन्त्र छन्द इस परम्परा में मान लिया गया। जहां तक वर्णों की संख्या या लघु गुरु के प्रयोग का प्रश्न है केवल वर्ण संख्या के आधार पर ही छन्द विशेष की स्वीकृति इस परम्परा में की गयी। इस परम्परा में अष्टाक्षर चार चरणों वाले छन्द को अनुष्टुप्, एकादशाक्षर चार चरणों वाले छन्द को त्रिष्टुप्, द्वादशाक्षर चार चरणों वाले छन्द को जगती नाम दे दिये गये। किन्तु चारों चरणों को मिलाकर वर्णों की जो संख्या चौबीस, बत्तीस, छत्तीस, चालीस, चवालिस, या अड़तालिस बनती है, उस संख्या में एक या दो वर्णों की न्यूनता या अधिकता को दोष नहीं माना गया, अपितु उस स्थिति में छन्द का एक विशेष प्रकार स्वीकार कर लिया गया। इस परम्परा में एक वर्ण की न्यूनता होने पर निचृत

---

१. गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ॥ —सा०द० ६.३३६
२. सर्गबन्धो महाकाव्यं······सर्गनाम तु ॥ —सा०द० ६.३१५-३२५

विशेषण के साथ, अधिकता की स्थिति में भूरिक विशेषण के साथ दो वर्णों की न्यूनता या अधिकता होने पर क्रमशः विराट् और स्वराट् विशेषण के साथ कोई भी छन्द विशेष माना जाता है[1] फलतः सप्ताक्षर चतुष्पाद उष्णिक् छन्द में ७×४=२८ वर्णों के स्थान पर छब्बीस वर्ण होने पर विराट् उष्णिक् सत्ताइस वर्ण होने पर निचृत उष्णिक् अट्ठाइस में उष्णिक् (शुद्ध उष्णिक्), उन्तीस वर्ण होने पर भुरिक् उष्णिक्, तीस वर्ण होने पर स्वराट् उष्णिक् छन्द होगा। इसी प्रकार अष्टाक्षर चतुष्पाद अनुष्टुप् में ८×४=३२ वर्ण होंगे। किन्तु तीस वर्ण होने पर विराट् अनुष्टुप्, एकतीस होने पर निचृत् अनुष्टुप्, तैंतीस वर्ण होने पर भुरिक् अनुष्टुप् तथा चौंतिस वर्ण होने पर स्वराट् अनुष्टुप् छन्द होगा। नौ वर्णों वाले चतुष्पाद बृहती छन्द में कुछ ९ ४=३६ वर्ण होते हैं किन्तु दो कम अर्थात् चौंतीस होने पर विराट् बृहती कम एक अर्थात् पैंतीस वर्ण होने पर निचृत्त बृहती, एक अधिक अर्थात् सैंतीस वर्ण होने पर भुरिक् बृहती और दो अधिक अर्थात् अड़तीस वर्ण होने पर स्वराट बृहती छन्द माना जायेगा। इस स्थिति में तीस, चौंतीस, अड़तीस आदि वर्ण संख्या होने पर सन्देह हो सकता है कि इस प्रकार के स्थलों पर स्वराट् उष्णिक मानें अथवा विराट् अनुष्टुप्, चौंतीस अक्षर होने पर स्वराट् अनुष्टुप् मानें अथवा विराट् बृहती इत्यादि। इस परम्परा में इस प्रकार के स्थलों पर प्रथम चरण में वर्ण संख्या देखकर निर्णय करने की व्यवस्था की जाती है।[2] अर्थात् तीस वर्णों वाले पद्य में प्रथम पाद में सात वर्ण हैं तो विराट् उष्णिक् और यदि आठ वर्ण हैं तो विराट् अनुष्टुप् समझना चाहिए। इसी प्रकार चौंतीस वर्ण वाले पद्य में प्रथम पाद में अनुष्टुप् का लक्षण घटने पर स्वराट् अनुष्टुप् और बृहती का लक्षण घटने पर अर्थात् नौ वर्ण होने पर विराट् बृहती छन्द माना जाएगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस परम्परा में प्रकान्त वर्ण संख्या के निर्वाह की आवश्यकता नहीं समझी जाती। पद्य में कितने भी वर्ण हों कोई-न-कोई छन्द, नया छन्द मान लिया जाता है। इतना ही नहीं इस परम्परा में चरणों की संख्या का भी कोई अनिवार्य नियम नहीं माना जाता। पद्य में एक चरण दो चरण, तीन चरण, चार चरण अथवा पांच चरण कितने भी चरण हो सकते हैं कोई दोष नहीं माना जाएगा।[3] आर्या गीति, उपगीति, आदि छन्द इसी परम्परा के छन्द हैं। यह परम्परा पूर्व निर्दिष्ट परम्परा से अधिक प्राचीन

---

१. पिङ्गल०, छन्दशास्त्रम् ३.५९, ६०

२. वही, ३.६१

३. पिगल० छन्दःशास्त्रम् ३.७

है। वैदिक काव्य में यही परम्परा देखने को मिलती है। परवर्ती प्राकृत काव्य में आर्या, गीति तथा उपगीति छन्दों का प्रयोग अधिक होने से तथा हिन्दी काव्य में दोहा, सोरठा आदि के प्रयोगों की भी इसी परम्परा में माना जाएगा। लौकिक अर्थात् क्लासिकल संस्कृत काव्यों में प्रथम निर्दिष्ट परम्परा का अनुसरण है।

ललितविस्तर के पद्यों में छन्दोयोजना सम्बन्धी पूर्व पृष्ठों में विस्तृत रूप से किये गये विश्लेषण को देखते हुए हम कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ छन्दोयोजना के प्रसंग में वैदिक शैली का अनुसरण करता हुआ प्रतीत होता है। अतएव क्लासिकल संस्कृत काव्यों की शैली, जिसमें 'अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दो भङ्ग न कारयेत्' जैसी मान्यता बद्धमूल रही है। इस उक्ति के अनुसार छन्द के नियमों का समग्रतया पालन न होना, एक ही पद्य में दो-तीन छन्दों के लक्षणों का मिश्रण मात्र, वर्ण अथवा गण के प्रसंग में प्रथम चरण में प्रक्रान्त नियम का अन्य चरणों में निर्वाह न होना, दूसरे शब्दों में छन्दशास्त्र के नियमों की शिथिलता दोष प्रतीत होता है। वहीं दूसरी शैली अर्थात् वैदिक वाङ्मय में मुख्यतः स्वीकृत शैली को ध्यान में रखकर, विचार करने पर उपर्युक्त तत्त्व ही गुण बन जाता है, प्रशस्तता का हेतु बन जाता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् (S. Leffmann) ने ललितविस्तरकार की अतिशय प्रशंसा की है। उन्होंने इसीलिए इस ग्रन्थ में छन्दों का अध्ययन करते हुए लौकिक छन्दों की अपेक्षा त्रिष्टुप्, जगती, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति आदि वैदिक छन्दों के लक्षणों को सामने रखकर परीक्षा करनी चाही है।[1]

उनके अनुसार इस ग्रन्थ में गण छन्द, मात्रा छन्द और अक्षर छन्द (वार्णिक छन्द) इन तीनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। गण छन्दों में भी आर्या तथा आर्यागीति का, मात्रिक छन्दों में वैतालीय मात्रासमक, तथा प्राकृत छन्दों का प्रयोग अधिक है। वैदिक परम्परा में अक्षर छन्द, जिन्हें वार्णिक वृत्त भी कहते हैं, समवृत्त, अर्धसमवृत्त और विषमवृत्त भेद से तीन प्रकार के होते हैं। समवृत्तों में वैदिक छन्द त्रिष्टुप्, जगती, अतिजगती, शक्वरी, अतिशक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति, उत्कृति, प्रकृति, दण्डक आदि का प्रयोग इस ग्रन्थ में अधिक हुआ है। अर्धसमवृत्तों में पुष्पिताग्रा,

1. S. Lefmann, Lalita-Vistara Vol. 2. Halle, 1908
—pp. 229-232. (Metre), pp. xix-xxv (Introduction)

वेगवती, आख्यानकी का तथा विषमवृत्तों में गाथा का प्रयोग अधिक हुआ है यह कहा जा सकता है।[1] समवृत्तों में आठ वर्णों वाला छन्द अनुष्टुप् लौकिक और वैदिक दोनों ही छन्दः शास्त्रीय ग्रन्थों में स्वीकृत हैं। लौकिक काव्यों में आदि-कवि का प्रथम श्लोक—

मा निषाद, प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।।

अनुष्टुप् छन्द में ही है। वाल्मीकि रामायण, महाभारत तथा पुराणों की रचना अधिकांशतः इसी छन्द में हुई है। इस छन्द में मुख्य बात है प्रत्येक चरण में आठ वर्णों का होना आवश्यक है। वृत्तरत्नाकर के अनुसार इस छन्द के आठ वर्णों वाले प्रत्येक चरण में पांचवां वर्ण लघु होना चाहिए और छठा गुरु। सप्तम वर्ण प्रथम और तृतीय चरणों में गुरु रहता है और प्रथम तथा तृतीय चरणों में लघु। शेष वर्णों के लघु अथवा गुरु होने के सम्बन्ध में लौकिक (क्लासिकल) काव्यों में भी कोई प्रयोग सम्बन्धी नियम नहीं है। ललितविस्तर में अनुष्टुप् छन्द का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। स्मरणीय है कि इस प्रयोग क्रम में भी वर्ण संख्या को ही महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। पंचम और षष्ठ वर्णों के लघु और गुरु सम्बन्धी नियम के पालन में पर्याप्त शिथिलता दिखाई पड़ती है।

त्रिष्टुप् जातीय ग्यारह वर्णों वाले समवृत्तों में इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा इन दोनों के मिश्रण से बना उपजाति, भ्रमर विलसित, रथोद्धता और शालिनी आदि कुछ छन्द भी ललितविस्तर में बहुतायत से प्रयुक्त हैं किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है इन छन्दों के शुद्ध प्रयोग अपेक्षाकृत बहुत कम हैं, बहुलता मिश्रित छन्दों की है।

जगतीजातीय बारह वर्णों वाले समवृत्तों में चन्द्रवर्त्म, वंशस्थ, तोटक, भुजङ्गप्रयात, द्रुतविलम्बित एवं प्रमिताक्षरा वृत्तों का, अतिजगतीजातीय तेरह वर्णों वाले वृत्तों में केवल प्रहर्षिणी और रूचिरा वृत्तों का, चौदह वर्णवाले समवृत्तों में वसंततिलका तथा चतुर्दशाक्षरी गाथा, वृत्तों का पंचदशाक्षर में मालिनी और तूणिका का, सोलह वर्णों वाले वृत्तों में पंचचामर का, सत्रह अक्षरों वाले वंशपत्रपतित और शिखारिणी का, अठारह वर्णों वाले वृत्तों में

---

1. Gandhi, Sharada 'Lalita-Vistara A Profile? Meerut University Sanskrit Research Journal, 1986, p. 85—92.

बनमाला (महामालिका) का तथा उन्नीस अक्षरों वाले समवृत्तों ने शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। यद्यपि इनमें भी दीर्घवृत्तों की अपेक्षा लघुवृत्त अर्थात् शार्दूलविक्रीडित की अपेक्षा चन्द्रवर्त्म, वंशस्थ आदि के प्रयोग ही अधिक हैं।

इससे अधिक बड़े इक्कीस अक्षरों वाले स्रग्धरा का, छब्बीस वर्णों वाले भुजंगविजृम्भित का, तथा उससे भी अधिक वर्णों वाले दण्डक आदि छन्दों का प्रयोग बहुत कम है। इनके उदाहरण बहुत खोजने पर दो चार ही मिल पाते हैं।

अर्ध समवृत्तों में १०, ११ वर्णों वाले वेगवती और बारह-तेरह वर्णों वाले पुष्पिताग्रा का प्रयोग बहुत हुआ है। इसके अतिरिक्त वियोगिनी छन्द भी पर्याप्त प्रयुक्त है।

ललितविस्तर में विषमवृत्तों का प्रयोग भी कम नहीं दिखाई पड़ता। इनमें उद्गाता (५.२५) षोडशाक्षरी गाथा अष्टिजातीय गाथा, सप्तदशाक्षरी गाथा, अतिजगतीजातीय गाथा का प्रयोग अधिक है। यद्यपि अत्यष्टिजातीया गाथा जिसमें अट्ठाइस मात्राएं होती हैं का प्रयोग भी दुर्लभ नहीं है।

मात्रिक छन्द जिन्हें प्रायः जाति कहा जाता है, का प्रयोग भी ललितविस्तर में अनेकत्र देखने को मिलता है। इनमें आर्या और आर्यागीति का प्रयोग सर्वाधिक है यद्यपि आर्याविपुला और औपच्छन्दसिक के प्रयोग भी देखने को मिलते हैं।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यदि किसी छन्दोग्रन्थ को उठाकर लौकिक काव्य (Classical Poetry) की दृष्टि से ललितविस्तर की छन्दोयोजना का परीक्षा करना चाहें तो इसके साठ प्रतिशत से अधिक पद्य छन्द लक्षणों के अनुकूल नहीं मिलेंगे। किन्तु यदि हम वैदिक काव्य की परम्परा को दृष्टि में रखकर आचार्य पिङ्गलनाग की भावना के अनुसार इस ग्रन्थ के छन्दों का निरीक्षण करें तो हमें कहना पड़ेगा कि वेदों को छोड़कर सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में एक भी ऐसा ग्रन्थ न मिलेगा जो छन्दों की विविधता की दृष्टि से ललितविस्तर की समानता कर सके। इसमें इतने अधिक प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है कि प्रत्येक छन्दःप्रयोग का नाम और उसका लक्षण दे सकना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। छन्दों की इस विविधता को देखकर इस ग्रन्थ को वैदिक काल के अधिक निकट मानना होगा।

गुण-दोष

माधुर्य, प्रसाद और ओज ललितविस्तर काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है इसका प्रत्येक पद्य इस दृष्टि से निदर्शन है। कथा के प्रतिनायक मार के

अथवा उसके सैनिकों के मुख्यतः वाम भाग में स्थित असुर प्रवृत्तिवाले सैनिकों के वचनों में रोष का भी यथेष्ट मात्रा में समावेश हुआ है जो अतिशय हृदयावर्जक है।

दोषों की सत्ता काव्यार्थ के आस्वादन अथवा रसानुभूति में बाधा के रूप में स्वीकार की जाती है।[1] क्योंकि यहां कथानक का अविच्छिन्न प्रवाह अबाधित है, काव्यार्थ का आस्वाद बिना किसी बाधा के होता है और रसानुभूति अविच्छिन्न रूप से हो रही है। अतः दोषा भाव यहां स्वतः सिद्ध हो जाता है। यदि कहीं एकाध दोष दिखाई भी पड़ते हैं तो वह कालिदास के 'एको हि दोषों, गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः,[2] वचनों के अनुसार काव्यार्थ के आस्वादन के समय तिरोहित ही बने रहते हैं। इस स्थिति में इस काव्य को निर्दोष काव्य कहना ही अधिक उपयुक्त होगा ।

भाषा-शैली

ललितविस्तर की भाषा बोलचाल की संस्कृत है। निरन्तर प्रवाह में रहने के कारण इसमें श्रेष्य संस्कृत से इतने अधिक परिवर्तन हो चुके हैं कि उसे पाणिनि के व्याकरण के आधार पर परिष्कृत संस्कृत भाषा नहीं कहा जा सकता है। वैदिक संस्कृत के विकल्प पालिभाषा के विभक्ति आदि के स्वरूप पाणिनि-व्याकरण में केवल, आत्मनेपदी धातु के परस्मैपद में प्रयोग अनेक बार लौकिक संस्कृत अथवा श्रेष्य संस्कृत (Classical Sanskrit) से भिन्न भाषा स्वीकार करने को विवश करते हैं। श्री शान्तिभिक्षु शास्त्री ने पाणिनीय व्याकरण पर प्रतिष्ठित संस्कृत एवं ललितविस्तर की भाषा की तुलना करते हुए 'सूत्रों की कल्पना की है—

१. पदों में कहीं-कहीं शुद्ध संस्कृत की छाप है।···ऐसे पदों में प्रकृतियां भी संस्कृत की हैं तथा प्रत्यय भी संस्कृत के हैं।[3]

२. पदों में प्रकृतियां संस्कृत की मिल जाती हैं किन्तु प्रत्यय असंस्कृत अर्थात् पालि, प्राकृत और अपभ्रंश के हैं।[4]

---

१. 'मुख्यार्थहतिर्दोषः रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद् वाच्यः।'

—काव्यप्रकाश ७, ४९

२. कुमारसम्भव १.३

३. ललितविस्तर की प्रस्तावना, पृ० १४

४. वही; पृ० १५

३. पदों में कहीं-कहीं प्रत्यय संस्कृत के होते हुए भी, प्रकृतियां सर्वथा संस्कृत की नहीं होती हैं। यथा संप्रज्ञानम्।[1]

४. पदों में कहीं-कहीं प्रकृति तथा प्रत्यय दोनों ही असंस्कृत के होते हैं।[2]

५. कहीं-कहीं अविभक्तिक पद दिखाई पड़ते है।[3]

६ पदों में नाना प्रकार के विपर्यास दृष्टिगोचर होते हैं।

इसीलिए ललितविस्तर की भाषा की समीक्षा करनेवाले विद्वानों ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि इसकी भाषा पर पाणिनि के संस्कृत व्याकरण का प्रयोग करना उचित न होगा।

इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं ललितविस्तर की भाषा लौकिक संस्कृत या श्रेष्य संस्कृत (Classical Sanskrit) न होकर बोलचाल की संस्कृत है और इसी कारण इसकी भाषा में सतत प्रवाहशीलता के कारण होने-वाले, ऐसे अनेक रूप दिखाई पड़ते हैं, जो पाणिनीय व्याकरण के अनुसार शुद्ध नहीं कहे जा सकते। अतः अनेक विद्वान् इसकी संस्कृत को मिश्रित संस्कृत (Hybrid Sanskrit) कहते हैं 'In form, too, the work consists of Unequal parts, a continuous narrative in Sanskrit Prose, and numorous, often long, metrical passages in "mixed Sanskrit." It is rarely Sanskrit, but in a dialect akin to the prose of the Mahavāstu, and that it was not sanskritized untill later.'

काव्यात्मकता की दृष्टि से इस ग्रन्थ की भाषा के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसकी भाषा छोटे-छोटे वाक्योंवाली, दीर्घसमास रहित अत्यन्त ललित है। कहीं-कहीं दीर्घ समास एवं लम्बे-लम्बे वाक्य[4] भी हैं जैसे निदान परिवर्त्त,[5] समुत्साह परिवर्त्त,[6] और धर्मचक्र प्रवर्त्तन[7], आदि में। आलंकारिक प्रयोगों के उदाहरण, संवाद आदि बहुत सरल सुबोध्य और ललित शैली में हैं। अनेकों सूक्तियां और सुभाषित भाषा में गुम्फित हैं।

---

१. ल०वि० की प्रस्तावना पृ० १६

२. वही, पृ० १६

३. वही, पृ० १६

4. Winternitz, Maurice, A History of Indian Literature, Vol. II, 1972, Delhi, p. 253

५. ल० वि० (वैद्य), गद्यभाग, पृ० ३

६. वही, पृ० ७-८

७. वही, पृ० ३१०-१३

चतुर्थ अध्याय

उपलब्धियाँ

पूर्व-पृष्ठों में ललितविस्तर के प्रायः सभी पक्षों पर अध्ययन और लेखन के अनन्तर ललितविस्तर की सबसे बड़ी उपलब्धि सर्वार्थसिद्ध-सिद्धार्थ गौतम बुद्ध का जन्म है। वे ऐतिहासिक पुरुष हैं तथा युग-प्रवर्त्तक हैं।

ललितविस्तर महायान परम्परा का ग्रन्थ है जिसमें तथागत बोधिसत्त्व के ललित-जीवन का विस्तर अर्थात् विवरण है।

इसे महायान-बौद्ध-परम्परा में आदरपूर्वक महानिदान वैपुल्यसूत्र और धर्म-पर्याय आदि नामों से अथवा इन विशेषणों से विशेषित करते हुए स्मरण किया जाता है।

इसकी रचना कब और किसने की, प्रमाणों के अभाव में इस प्रसंग में कुछ भी कह सकना सम्भव नहीं है, किन्तु बौद्ध वाङ्मय में यह ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रतिष्ठित रहा है। चीनी और तिब्बती भाषा में इसके अत्यन्त प्राचीन-काल में सप्तम शती अथवा उससे भी प्राचीन-काल में किये गये अनुवादों से इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है। साथ ही उस काल में इतने दूरस्थ देशों में इसके अनुवाद तथा सारनाथ, जावा, दिल्ली के बुद्ध मन्दिर में इसकी कथा पर आश्रित भित्तिचित्रों और मूर्तियों को देखकर इसकी महत्ता की और बौद्ध परम्परा में इस ग्रन्थ के प्रति आदरभाव की कल्पना की जा सकती है।

गद्य और पद्य में चम्पू शैली में एक विशेष प्रकार की 'मिश्रित संस्कृत' में, जो पालि और प्राकृत की अपेक्षा वैदिक भाषा के अधिक निकट है लिखा गया यह काव्य ऐतिहासिक महापुरुष बुद्ध के जन्म, चरित्र, सम्बोधि-प्राप्ति और निर्वाण से सम्बद्ध है। सिद्धार्थ बुद्ध उच्चकुलोत्पन्न, धीरोदात्त नायक हैं, उन्होंने समस्त प्राणियों के दुःख दूर करने के लिए धर्मचक्र प्रवर्त्तन किया। इसकी रचना २७ परिवर्त्तों में हुई है। यह ग्रन्थ अपने रचना-काल से ही पाठकों के हृदय को आकृष्ट कर रहा है। इसके उपलब्ध होने वाले कई संस्करण और अनुवाद इस बात का प्रमाण हैं। इसकी महत्ता इस तथ्य और सत्य से भी

प्रमाणित होती है कि यह ग्रन्थ परवर्ती कवियों की प्रेरणा का स्रोत रहा है अश्वघोष ने 'बुद्धचरितम्' एवं 'सौन्दरनन्द' में, सत्यव्रत शास्त्री ने 'बोधिसत्त्व-चरितम्' में, वीरेन्द्र कुमार भट्टाचार्य ने 'सिद्धार्थचरितम्' नाटक में. विश्वनाथ केशव छत्रे ने 'सिद्धार्थप्रव्रजन' नाटक में इस ललितविस्तर काव्य की प्रख्यात ऐतिहासिक कथा को उपजीव्य और आधार बनाया है।

चमत्कार एवं निमित्त

ललितविस्तर का उद्देश्य सर्वार्थसिद्ध बोधिसत्त्व के महामहिमामय लीला चरित का वर्णन करके, जनसामान्य को बुद्ध-धर्म की ओर, बुद्धयान की ओर आकृष्ट करना रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ग्रन्थकार ने ललितविस्तर के अध्ययन के चमत्कारिक फलों का विवरण बहुत विस्तार से किया है। जिसके अनुसार सभी सुखद परिणाम ललितविस्तर के अध्ययन-मात्र से होने चाहिए। पूरा निगम परिवर्त्त इसका ही वर्णन करता है किन्तु इसे अर्थवाद (प्रशंसनमर्थवादः) ही समझना चाहिए। यदि निगम परिवर्त्त के वचनों को लेखक के अनुभव से जोड़ा जाए और कथ्य के सत्यता की समीक्षा की जाए तो परिणाम अपेक्षित ही मिलेगा। लेखक का अपना अनुभव तो यह है कि कवि के निर्णय के अनुसार, इस ग्रंथ में इस अर्थवाद का उद्देश्य लोगों को बुद्धयान के प्रति आकृष्ट करना है।

ललितविस्तरकार ने इसी उद्देश्य के लिए सर्वार्थसिद्ध, चरमभविक तथागत बोधिसत्त्व के जीवन के साथ अनन्त चमत्कारों को जोड़ने का प्रयत्न किया है। सभी देवगण उनकी सेवा में व्यापृत रहते हैं, जिन्हें सेवा का अवसर प्राप्त नहीं है, वे दर्शनमात्र से कृतार्थ होते हैं। जन्म से ही वे चलते-फिरते हैं। विद्याभ्यास के विना ही वे लिपिशाला (विद्यालय) के संचालक अध्यक्ष से अधिक विद्यावान हैं, वे चौंसठ लिपियों के जन्म से ही ज्ञाता हैं, जिनका नाम भी लिपिशाला के अध्यक्ष को विदित नहीं है। जब वे गर्भ में स्थित हैं तो उनकी माता यदि किसी दुःखी रोगी व्यक्ति को तृणगुल्म दे देती हैं या सिर पर हाथ रख देती हैं तो वह स्वस्थ हो जाता है इत्यादि अनन्त चमत्कारों का वर्णन ललितविस्तरकार ने किया है उनका यहां मैंने संकेत कर दिया है। विस्तार की आवश्यकता नहीं समझी।

ललितविस्तरकार को शकुनों, निमित्तों और स्वप्नों पर बहुत अधिक विश्वास है। वह प्रत्येक अवसर पर तथागत बोधिसत्त्व के किसी भी कार्य के समय निमित्तों का निबन्धन करना नहीं भूलता, किन्तु क्योंकि इस प्रकार के निमित्त (शकुन) कभी तो अपनी उपस्थिति से पाठक को कार्य की पूर्णता का

आभास देकर, कर्म में शिथिलता ला सकता है तथा अपने अभाव की स्थिति में सफलता के प्रति निराशा जगाकर कर्म में शिथिलता उत्पन्न कर सकते हैं अतः मैंने इनकी ओर संकेत भर किया है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, महावीर, ईसा मसीह, मुहम्मद, गुरु नानक (जन्म साखियाँ) आदि महापुरुषों के जीवन के साथ प्रायः इस प्रकार के चमत्कार जुड़े हुए हैं।

दार्शनिक अध्ययन

ललितविस्तर दर्शनशास्त्र का ग्रन्थ नहीं है। इसमें चरम-भविक तथागत बोधिसत्त्व की लीलाओं का ही वर्णन ग्रन्थकार को अभीष्ट है। तथापि कुछ दार्शनिक पदों के प्रयोग अथवा उनका कुछ परिचय यथास्थान हुआ है। एक बात स्मरण रखनी चाहिए दार्शनिक विवेचन के प्रसंग में यह आवश्यक नहीं है कि वह चिन्तन परम्परा से स्वीकृत दार्शनिक शाखाओं के साँचे के अनुरूप हो, तथापि यह सत्य है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राप्त दार्शनिक विवरण बौद्ध-दर्शन की मान्यताओं के अनुकूल और अनुरूप है। प्रस्तुत ग्रन्थ में निम्नलिखित दार्शनिक पक्षों पर चर्चा निबद्ध है—

१. विश्व प्रपञ्च की अनित्यता का सिद्धान्त।

२. कर्मफल और कर्मानुरूप पुनर्जन्म का सिद्धान्त।

३. अनात्मवाद का सिद्धान्त।

४. दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध एवं दुःखनिरोधोपाय, इन चार आर्य सत्यों की स्वीकृति।

५. निर्वाण का सिद्धांत, जिसमें निर्वाण का स्वरूप और उपाय दोनों सम्मिलित हैं।

६. निर्वाण के लिए योग साधना की ओर संकेत। अहिंसा आदि नियमों का पालन, आसन, प्राणायाम, ध्यान, एवं समाधि की साधना की स्वीकृति।

७. पारमिताओं और ब्रह्म विहारों की अनिवार्यता।

८. पूर्ववर्णित एक सौ आठ धर्मालोकमुखों का अनुष्ठान।

९. निर्वाण के लिए बुद्धयान की अनिवार्यता की स्वीकृति।

१०. सम्यक् सम्बोधि की निर्वाण की प्राप्ति के लिए अनिवार्य रूप से स्वीकृति।

११. सम्बोधि के अंग के रूप में चार आर्यसत्यों तथा अविद्या, संस्कार, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा-मरण आदि का विवरण भी ग्रन्थ में किया गया है।

१२. प्रतीत्य-समुत्पाद को बौद्ध-दर्शन के अध्येता के लिए समझना अनिवार्य होता है। प्रतीत्य-समुत्पाद का अर्थ है हेतु-फल परम्परा की स्वीकृति और उसका सम्यक् बोध। इसके द्वादशाङ्ग या बारह स्कन्ध हैं जिसकी चर्चा यथास्थान हुई है।

१३. अनात्मवाद बौद्ध-दर्शन का मुख्य विन्दु है जिसका संकेत किया गया है। इसी परिप्रेक्ष्य में क्षणभंगुरता और वैराग्य का वर्णन ग्रन्थ में हुआ है।

१४. बुद्धयान के अधिकारी की चर्चा भी दार्शनिक अध्ययन के क्रम में आवश्यक रही है। यहां मैंने विस्तार भय से ललितविस्तर में वर्णित ३५८ विशेषण पदों का ही संकेत किया है जो अधिकारी के लिए प्रयुक्त होते हैं एवं बिना विशेष व्याख्या की अपेक्षा के अपने यौगिक अर्थों के द्वारा अधिकारी के गुणों की ओर संकेत करते हैं।

१५. बौद्ध दर्शन एवं जैन दर्शन में आस्रव पुद्गल, कर्म, कर्मफल, विविध योनियां भी ज्ञातव्य हैं और कुछ शब्द दोनों दर्शनों में साम्य रखते हैं, इस दृष्टि से कौन सा दर्शन पूर्ववर्ती है इन शब्दों के इतिहास का अध्ययन अपेक्षित है।

धार्मिक मान्यता एवं आचार

ललितविस्तर में सांस्कृतिक जानकारी के समान ही धार्मिक-कर्मों के सम्बन्ध में भी पर्याप्त जानकारी और निदेश प्राप्त होते हैं, जिनका विवेचन मैंने इस ग्रंथ में किया है। यहां धर्मालोकमुख के नाम से एक सौ आठ कृत्यों का विवरण तो है ही, व्रत, उपवास, पूजा आदि की ओर भी उचित संकेत किया गया है और उनके आचरण पर विशेष बल दिया गया है। इस विस्तृत विवरण का निष्कर्ष निम्नांकित है—

एक सौ आठ ऐसे कृत्य हैं जो नित्य करणीय हैं, इन्हे धर्मालोकमुख कहा गया है। श्रद्धा, प्रसाद, प्रमुदिता, प्रीति, कायसंवर, वाक्संवर, मनःसंवर, बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, शीलानुस्मृति, देवतानुस्मृति, मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षा, अनित्य प्रत्यवेक्षा, दुःखप्रत्यवेक्षा, अनात्मप्रत्यवेक्षा,

शान्तप्रत्यवेक्षा, ह्री, अपत्रपा, सत्य, भूत, धर्माचरण, त्रिशरणगमन, कृतज्ञता, कृतवेदिता, आत्मज्ञता, सत्त्वज्ञता, धर्मज्ञता, कालज्ञता, निहतमानता, अपहृत-चित्तता, अनुपनाह, अधिमुक्ति, अशुभप्रत्यवेक्षा, अव्यापाद, अमोह, धर्माथिकता, धर्मकामता, श्रुतपर्येष्टि, सम्यक्प्रयोग, सम्यक्वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक्व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक् समाधि, बोधिचित्त, आशय, अध्याशय, प्रयोग, दानपारमिता, शीलपारमिता, क्षान्तिपारमिता, वीर्यपारमिता, ध्यानपारमिता, प्रज्ञापारमिता,[1] उपायकौशल्य, दान-प्रियवादिता-अर्थचर्या, समा-नार्थता, इन चार का संग्रह, सत्त्वपरिपाक, सद्धर्मपरिपाक, पुण्यसंभार, ज्ञानसंभार, शमथसंभार, विदर्शना प्रतिसंवित्, प्रतिशरणावतार, धारिणीप्रतिलम्भ, प्रति-भानप्रतिलम्भ, धर्म-ज्ञान-क्षान्ति अवैवर्तिकभूमि, भूमेर्भूमिसंक्रान्तिज्ञान, एवं अभिषेकभूमि । इन एक सौ आठ धर्ममुखों में उत्तरोत्तर धर्ममुख उत्कृष्टतर है ।

ललितविस्तरकार के अनुसार शील, श्रुत और अप्रमाद के द्वारा ही मनुष्य को किसी भी प्रकार के गुणों की या सुख की प्राप्ति होती है।

अनित्यता प्रत्यवेक्षण धर्मालोकमुख में परिगणित है । उस प्रत्यवेक्षा के बाद ही मनुष्य अप्रमत्त होकर धर्म के मार्ग में आगे बढ़ सकता है।

धर्मपर्याय के श्रवण का भी धर्माचरण की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व है।

धर्म आचरण की प्रवृत्ति के लिए और अधर्माचरण की निवृत्ति के लिए ग्रन्थकार ने स्वर्ग और नरक को भी मान्यता प्रदान की है । उसके अनुसार अनेक ऐसे आचरण हैं जो मनुष्य को नरक में ढकेल देते हैं । देवालयों और चैत्यों का

---

1. Unique in History, the Enlightened one stands alone among gods and men alike. Even the creators and Destroyers of universes revere his matchless knowledge, and acknowledge him as thier teacher. The Buddha's omnisceince, manifested in all his actions, shows us the limits of our own knowledge. Unlike the Enlightened ones, we can never know the outcome of our actions, and we can never be sure that we will attain our gods. As we come to see this, we turn to the Tathāgata with a joyful heart, confident that we have found a guide of perfect wisdom. Bays, Gwendolyn 'The Voice of the Buddha the Beauty of Compassion, Vol. I, Introduction pp. xxii.

भी ललितविस्तर में यथास्थान संकेत मिलता है। तथागत बोधिसत्त्व से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु का, संबोधि-प्राप्त होने के बाद, उनके द्वारा प्रयोग करके छोड़ी गयी प्रत्येक वस्तु को लेकर देवगण उनका संग्रह चैत्य के लिए करते हुए वर्णित हुए हैं।

धार्मिक कृत्यों, व्रत और तपस्या का पर्याप्त विवरण ग्रन्थ में हुआ है।

लौकिक सुखों की प्राप्ति के लिए, अभीष्टफल की प्राप्ति के लिए राजा भी व्रत और तपश्चर्या करते हुए वर्णित हुए हैं तथा उनके अनेक प्रकारों की ओर यहां संकेत हुआ है। रामपुत्र रुद्रक और स्वयं तथागत बोधिसत्त्व अलौकिक फल की प्राप्ति के लिए, संबोधि तक की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या में प्रवृत्त होते हैं और सफलता प्राप्त करते हैं।

व्रत अनेक प्रकार के हैं, आतापक, पारितापक, मन्त्रविचारक, हस्तप्रलेहक अयाचन, अनामन्त्रण, अनेकमूलिक, अमत्स्यमांसक, अवार्षिक, सुरातुषोदकवर्णन, एक कुलिक भैक्ष्य त्रिकुलिकभैक्ष्य इत्यादि, लगभग डेढ़ सौ व्रतों की ओर इस ग्रन्थ में संकेत प्रस्तुत है। तपश्चर्या के उद्देश्य सत्फल की प्राप्ति आदि तो हैं ही, ललितविस्तर में विरोधियों अथवा जो अपने अनुवर्ती नहीं हैं, उन पर विजय प्राप्त करना भी इस ग्रन्थ में तपश्चर्या के उद्देश्य के रूप में वर्णित किया गया है। इस प्रकार के उद्देश्यों को सात्त्विक उद्देश्य अथवा प्रशस्त उद्देश्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि परपक्ष पर विजय की कामना का जन्म राजसिक अथवा तामसिक वृत्ति का उदय होने पर होता है।

सांस्कृतिक अध्ययन के प्रसंग में इस ग्रंथ का अवगाहन करने पर हमें निम्न-लिखित सांस्कृतिक जानकारी प्राप्त होती है—

इस ग्रंथ के रचनाकाल के समय भारत में राज-सत्तामूलक शासन-पद्धति प्रचलित थी। राज्य का प्रधान राजा कहलाता था। शासन-कार्य में उसकी सहायता के लिए मंत्रीगण और परिषदें[1] होती थीं। राज्य की रक्षा के लिए सेना होती थी। सेना के रथ, अश्व, गज और पदाति चार अंग थे और सेना के प्रधान अधिकारी को सेनापति कहते थे। वह राजा के आधीन एक उच्च राज्य-कर्मचारी माना जाता था।

वासुदेव शरण अग्रवाल ने मनुष्य शरीर की तरह राष्ट्र-शरीर (Body Politic) को भी पंचतत्त्व का बना कहा है। सच्चा राजा या शासक राष्ट्र-

---

१. ल० वि०, (वैद्य) गद्यभाग, पृ० २

शरीर की पंचकोषात्मक (अनमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय) रचना को ध्यानपूर्वक समझता है।[1] शाक्य राजा शुद्धोधन इस रचना को भली-भांति समझते थे। सिद्धार्थ ने त्रिविधदुःखनिवृत्ति और आनन्दमयकोष की अवस्था की प्राप्ति के लिए तप किया, संबोधि की प्राप्ति और निर्वाण की उपलब्धि हासिल की तथा दुःखनिवृत्ति के लिए धर्मचक्र-प्रवर्त्तन किया।

राज्य का उत्तराधिकारी राजा का पुत्र माना जाता था और जन्म से ही उसे वैसी शिक्षा और सम्मान दिया जाता था।

यद्यपि प्रत्येक राजा अपने राज्य में पूर्णरूप से प्रभुता संपन्न होता था तथा अधिक शौर्य-संपन्न राजा अनेक राजाओं को कुछ संदर्भों में अपने आधीन करके मंडलक्रम का निर्माण करता था ऐसा प्रतापी राजा चक्रवर्ती राजा कहलाता था। इस मंडलक्रम का पी० वी० काणे ने धर्मशास्त्र के इतिहास में और स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में मनुस्मृति आदि धर्मग्रन्थों के आधार पर वर्णन किया है।

राजा लोग राज्य और साम्राज्य का विस्तार कूटनीति और वैवाहिक सम्बन्धों से करते थे बिम्बसार के पात्र-परिचय से यह ज्ञात होता है।

यद्यपि राज्य का उत्तराधिकारी राजा का पुत्र होता था किन्तु ललितविस्तर में प्राप्त राजा के गुणों के विवरण को देखकर इस विश्वास के पर्याप्त प्रमाण हैं कि राजा अपने उत्तराधिकार को सर्वगुण संपन्न बनाए रखने के लिए, अनेक प्रकार के उपायों में यह भी एक उपाय करता था कि पुत्रवधू के गुणों की जानकारी विवाह से पूर्व प्राप्त कर ले, इस प्रसंग में कुलशुद्धि के विषय में अपने वंश की वृद्धि के लिए पर्याप्त सावधानी रखते थे। अन्य राज-परिवारों से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए गुणों की खोज के मूल में शमनीति प्रधान थी, साम्राज्य-लिप्सा नहीं। "उस युग में जनपदों में उत्कृष्ट बुद्धिवाद का एक नया आदर्श पोषण पा रहा था, जिसे उस युग के साहित्य में 'प्रज्ञा' कहा गया है। सामान्य नागरिक और शासन का भार वहन करने वाले अधिकारी, दोनों के लिए प्रज्ञा या बुद्धि-प्रधान जीवन का उल्लेख प्राचीन साहित्य में, विशेषतः महाभारत में आता है। इस प्रज्ञा का उन्मेष साहित्य, धर्म और दर्शन के क्षेत्र में विशेष रूप से हुआ है। ब्राह्मणों का उपनिषद् साहित्य, जैनों का अंग-साहित्य, और बौद्धों का त्रिपिटक साहित्य उसी जनपदीय युग में प्रज्ञाशील व्यक्तियों की देन है। तीन धाराओं में अभिव्यक्त होने पर भी यह महनीय साहित्य एक ही प्रज्ञा-भावना

---

१. इतिहास-दर्शन, पृ० ५१-५५

से ओतप्रोत है। तत्त्वचिन्तन, सत्यान्वेषण, तथ्यात्मक व्यावहारिक कौशल—ये इस साहित्य की समान विशेषतायें थीं।

जनपदों और संघों में विकसित मानवीय जीवन के उच्चस्तर की कल्पना यास्क, शाकटायन, आरुणि, श्वेतकेतु, याज्ञवल्क्य, जनक, बुद्ध, महावीर, मंखलि-गोसाल आदि अनेक आचार्यों के कार्य और विचारों में की जा सकती है। भारतीय इतिहास में लगभग १००० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक का युग महाजनपद युग के नाम से प्रसिद्ध है। इसी के गर्भ में लिच्छवि, शाक्य, कुरु, मद्र (भद्र), गन्धार, मालव, क्षुद्रक आदि महिमाशाली गणों और जनपदों का जीवन अन्तर्निहित है। वस्तुतः उस युग का पूरा महत्त्व अभी तक समझा नहीं जा सका है।"[1]

वैशाली आदि कुछ जनपदों में गणराज्यों की भी प्रतिष्ठा थी। उनकी विशेषता थी वैशाली संघ में कुलसंस्था का शासन, व्यक्ति का अनुभाव या गरिमा, और शम की नीति—इन तीनों विशेषताओं का वर्णन लिच्छवियों के इतिहास में प्राप्त है। लिच्छवियों के ७७०७ कुल थे। प्रत्येक कुल का कुलवृद्ध या प्रतिनिधि 'राजा की पदवी धारण करता था—'एकैक एव मन्यते अहं राजा अहं राजा अहं राजेति।' किन्तु उनकी शासन पद्धति एवं निर्वाचन-पद्धति की ओर ग्रन्थ में कोई संकेत नहीं है।

ललितविस्तर में सोलह महाजनपद राज्यों की चर्चा है। महाजनपद युग में संघों की परम्परा मिथिला से लेकर वाह्लीक तक फैली हुई थी। वह राष्ट्रीय जीवन का अभूतपूर्व प्रयोग था। मानवीय स्वाधीनता और वैयक्तिक गरिमा का जो अनुभव राष्ट्र ने उस युग में किया, वैसा फिर देखने में नहीं आया। जनपद या संघ-राज्य संस्कृति की सच्ची धात्रियां बन गई।[2] वैशाली के अतिरिक्त शेष सभी में राजतन्त्रीय शासन-पद्धति ही प्रचलित रही है।

गुणशाली होना यद्यपि व्यक्ति का धर्म है किन्तु गुणों का वंश परम्परा से संक्रमण होता रहे एवं पूरा कुल गुणवान के रूप में प्रतिष्ठित रहे ऐसी कामना राजाओं की रहती थी। उस काल में किसी राजकुल के लिए ६४ गुणों की अपेक्षा की जाती रही है, चक्रवर्ती राजा का होना भी इन गुणों में एक है। शुद्धोदन का कुल ६४ गुणों से युक्त था। पारमेष्ठ्य शासन में या कुलों की शासन प्रणाली में श्रेष्ठता या परमता कभी किसी कुल के पास चली जाती है और कभी किसी कुल के पास।

---

१. वासुदेवशरण अग्रवाल, इतिहास-दर्शन, पृ० ७२-७३
२. वही, पृ० ७२

गुणों के साथ राजाओं में दोषों की सम्भावना भी हो सकती है, जिनसे अपने कुल को बचाये रखने के लिए राजा प्रयत्न करते थे। नीच कुल में उत्पत्ति गंवार, क्रोधी और तेजहीन होना इन दोषों में मुख्य रहे हैं।

राजा जिस आसन पर बैठता था उसे सिंहासन कहते थे, वह सिंहासन वस्त्रों से आवृत एवं बहुमूल्य रत्नों से अलंकृत होता था।

राजा के निवास के लिए विशाल प्रासाद होता था और उसकी सुरक्षा के लिए उसके चारों ओर प्राचीर हुआ करती थी। उसे ध्वजाओं और पताकाओं से अलंकृत रखा जाता था।

राजा, राजकुमार तथा राजमहल की महिलाओं के लिए दिव्य-प्रसाधन सामग्री भी राजमहलों में जुटाई जाती थी।

राजा, राजकुमार अथवा महारानी की यात्रा प्रायः रथ पर होती थी। रथ को खींचने के लिए घोड़े का उपयोग होता था किन्तु जब कभी नगर में राजा अथवा उसके परिवार के सदस्यों की सवारी निकलती थी तो उस रथ को कन्याएँ खींचती थीं। यही नहीं, छत्र, चामर, सुगन्धित द्रव्य आदि ले चलने के लिए भी कुमारियाँ ही नियुक्त की जाती थीं। साथ ही मंगलध्वनि के लिए हजारों ब्राह्मणों को नियुक्त किया जाता था तथा सुरक्षा के लिए विशाल सेना आगे-पीछे चलती थी। यात्रा में सुख-सुविधा के लिए मार्ग के दोनों ओर ध्वजा-पताकाओं की योजना के साथ पुष्करिणियों, जलाशयों का निर्माण भी कराया जाता था।

ग्रन्थकार का विश्वास है कि विशिष्ट अवतारी पुरुषों की रक्षा एवं सुख-सुविधा की व्यवस्था में देव-शक्तियाँ भी निरन्तर प्रवृत्त रहा करती हैं।

राजा के यहाँ अभ्यागत-जनों के स्वागत-सत्कार की भी व्यवस्था बहुत सुन्दर और अभ्यागत के अनुरूप होती थी। अभ्यागत राजा और मुनिजनों के स्वागत के पद्धति क्रम बिल्कुल अलग-अलग थे। कभी-कभी राजा विशिष्ट अभ्यागत को अपना आधा राज्य देकर भी उसका सम्मान करना चाहता था।

राजा का कोशागार अलग होता था। इसे रत्नव्यूह कहते थे। इसकी रचना भी बहुत वैभवपूर्ण शैली में की जाती थी।

संग्रहणीय रत्नों में हीरे, जवाहरात, मणि-माणिक्य के साथ ही हाथी एवं घोड़ों को भी रत्न माना जाता था और रत्न के रूप में ही उनका संग्रह किया जाता था।

रत्नजटित राजछत्र राजा का चिह्न माना जाता था एवं राज्याभिषेक के समय उसको सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था ।

अभिषेक का रिवाज राज्याभिषेक के अवसर पर तो था ही, ज्ञान-प्राप्ति आदि अन्य शुभ अवसरों पर भी अभिषेक आवश्यक माना जाता था । अभिषेक के अनन्तर राजपरिवार के लोग बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे, इन वस्त्रों में काचिलिन्दक और काशिक वस्त्र मुख्य थे । भिक्षुजन चीवर या काषायवस्त्र धारण करते थे । सभी जनों का यह प्रयत्न होता था कि वे अपने अनुरूप ही वस्त्र धारण करें । भिक्षु जीवन में प्रविष्ट होता हुआ राजकुमार भी काषाय-वस्त्र या चीवर ही धारण करने की इच्छा करता था, राजसी वस्त्र की नहीं ।

चिकित्सा-कार्य उन दिनों प्रायः जड़ी-बूटियों (तृण-गुल्मों) से किया जाता था ।

कुछ राजपरिवारों में नववधू घूंघट करती थीं और कुछ में नववधू परदे की अपेक्षा शील, लज्जा आदि गुणों को महत्त्व देती थीं ।

शिक्षा व्यवस्था उस समय किसी विशेषज्ञ शिक्षाविद् के आधीन, उसके संचालन में चला करती थी । प्रवेशकाल में विद्यार्थी की रुचि जानकर और उसकी योग्यता की जानकारी प्राप्त करके प्रवेश दिया जाता था किन्तु कभी-कभी ऐसे भी विद्यार्थी आ जाते थे, जो विद्यालय के अध्यक्ष से अधिक से अधिक योग्यता रखते थे ।

परीक्षा-व्यवस्था विद्यालयों में होती रही है ऐसा कोई संकेत हमें ललित विस्तर में नहीं मिलता, किन्तु सार्वजनिक प्रतियोगिताओं के आयोजन समय-समय पर होते थे, जिनमें नगर अथवा जनपद में विद्या, बुद्धि और बल में सर्वातिशायी व्यक्ति का चुनाव किया जाता था । कलाओं में पारंगत व्यक्तियों में भी उत्कृष्ट कलाविद् का चुनाव उपर्युक्त प्रकार की प्रतियोगिताओं से ही होता रहा है ।

शिक्षा के विषयों में विविध प्रकार (६४) की लिपियों की शिक्षा को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता था । इसी कारण शिक्षालयों को प्रायः लिपिशाला नाम से जाना जाता था । औपचारिक और अनौपचारिक दोनों प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था थी । अनौपचारिक शिक्षा में युद्ध, शिल्प, धनुषवाण, तलवार चलाना तथा आदि कलायें, भारी पदार्थ को दूर तक फेंकना, गणित, युद्धविद्या, दौड़ना, तैरना. शस्त्रास्त्र-संचालन, घुड़सवारी, मुष्टि-बन्ध, द्यूत, चित्रकला, पेंटिंग (रूपयोजना) अग्निविद्या काव्यकला, वीणावादन आदि अनन्त कलाओं का अभ्यास

कराया जाता था। इन सभी में सूक्ष्म-तथ्यों तक पहुँचने का प्रयत्न कुछ गिने-चुने लोग ही कर पाते थे। कुमार (दारक) और कुमारिकाओं (दारिका) को सहशिक्षा दी जाती थी।

आर्थिक दशा बौद्धकाल में सम्पन्न थी, इस बात का प्रमाण ललितविस्तर से प्राप्त होता है। उस समय के नागरिक, धन, रत्न सुवर्ण, स्थिर-सम्पत्ति (सुभिक्ष) आदि से सम्पन्न थे। वे अनेकों प्रकार के उद्योग-धन्धे और व्यवसाय-वाणिज्य में संलग्न थे। इस युग में व्यापार वाणिज्य की प्रगति होने से भारतीय संस्कृति का विकास तीव्रतम हुआ। व्यापार-वाणिज्य की उन्नति के लिए स्थल मार्ग, जलमार्ग, नदीमार्ग, समुद्रीमार्गों में पर्याप्त सुरक्षा-व्यवस्था थी। सुरक्षा के लिए समूह बनाकर व्यापारी एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा करते थे, ऐसे समूह को वणिजगण और सार्थवाह कहते थे। वे व्यापारी सभी दिशाओं से अर्थ-लाभ और मंगल के लिए बुद्ध जैसे महपुरुषों से स्वस्तिवचन और आशीर्वाद प्राप्त करते थे। कवि ने आर्थिक जीवन की समृद्धि के लिए कृषि, ग्रामीण जीवन (कृषिग्राम परिवर्त्त), व्यवसाय-उद्योग-धन्धे, व्यापार-वाणिज्य, कुलों की समृद्धि (कुलशुद्धि परिवर्त्त) आदि को आधार माना है।

ब्राह्मण एवं बौद्ध दोनों ही धर्मों में भिक्षा का बड़ा महत्त्व है। ब्रह्म धर्म में ब्रह्मचारी प्रतिदिन ग्रामों, नगरों में भिक्षा अर्जन के लिए जाते थे, ब्रह्मचारियों द्वारा लायी गयी भिक्षा से ही उनके वानप्रस्थी गुरुओं की भी भोजन-व्यवस्था चलती थी और संन्यासी एक रात्रि गृहस्थ के घर निवास कर भिक्षान्न पर अपना जीवन यापन अपरिग्रह-वृत्ति से करता था। जैन और बौद्ध परम्परा में मुनि और भिक्षु की जीवन-यात्रा भी अपरिग्रह-वृत्ति से भिक्षा पर ही निर्भर रही है। गृहस्थ भी द्वार पर आये भिक्षार्थियों को अत्यन्त आदरपूर्वक भिक्षा प्रदान करता था। ललितविस्तर क्योंकि बौद्ध-महायान की परम्परा का तथागत के ललित जीवन का विवरण करने वाला ग्रन्थ है अतः भिक्षा का प्रसंग इसमें अतिशय महत्त्व के साथ उपनिबद्ध है। इसके अनुसार उस समय भिक्षा के प्रति गृहस्थ-जनों की क्या भावना थी, भिक्षु के प्रति उनका क्या व्यवहार था? इसका विवरण भी प्रस्तुत ग्रन्थ में करने का प्रयत्न किया गया है।

साहित्यिक समीक्षा

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक ने सर्वार्थसिद्ध सिद्धार्थ बुद्ध के प्रख्यात ऐतिहासिक कथानक को उपजीव्य स्रोत बनाया है। बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित काव्य बुद्ध-चरित, सौन्दरनन्द, शारिपुत्रप्रकरण, मंजुश्रीमूलकल्प, दिव्यावदान, मिलिन्दप्रश्न

सद्धर्मपुण्डरीक आदि भी अपने में ऐतिहासिक सामग्री को संजोये हैं। ललित-विस्तर में बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों के विवेचन और प्रतिपादन के साथ-साथ प्राचीन भारत के इतिहास निर्माण की प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है। कवि ने ऐतिहासिक कथावस्तु में अलौकिकतत्त्वों का समावेश किया है जिससे कि यह काव्य लालित्यमय बन गया है।

पात्र मानवीय और अमानवीय दो प्रकार के हैं। मानवीय पात्र प्रायः ऐतिहासिक हैं जो प्राचीन भारत के इतिहास निर्माण के दुरूह कार्य को सरल कर देते हैं। काल्पनिक और पौराणिक पात्र आधिकारिक कथावस्तु में रोचकता पैदा करते हैं।

महाकाव्य, चम्पूकाव्य आदि के लक्षणों में प्रकृतिचित्रण आवश्यक है प्रकृति मानव की सहचारी और सभी प्राणियों का उपकार करने वाली है। वह सिद्धार्थ के वियोग में उदास हो जाती है। उसके जन्म से पूर्व, जन्म के समय, जन्म के बाद वह आनन्द और उल्लास से फूल उठती है। वनस्पतियों, औषधियों पशु-पक्षियों आदि में अनेक प्रकार की क्रिया प्रतिक्रिया होती है। प्रकृति की कल्पना कवियों ने उद्दीपन और आलम्बन विभाव, मानवीकरण, अनेकों प्रकार के उपमानों, उपदेशिका, सहचरी, आह्लाददात्री, संवेदनशीला आदि अनेकों रूपों में की है। ललितविस्तर में प्रकृति के उपर्युक्त सभी रूप वर्णित हैं।

रसयोजना के प्रसंग में मैं लिख चुकी हूँ कि इस काव्य का प्रधान रस शान्त है भक्ति, वात्सल्य, बीभत्स, शृंगार, वीर आदि रसों की योजना इस ग्रन्थ में अग के रूप में हुई है। बोधिसत्त्व की दुष्करचर्या की समाप्ति पर तथा धीरता के प्रसंग में भक्ति का भी सुन्दर परिपोष हुआ है।

ललितविस्तर में अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, रूपक, परिणाम, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, अर्थान्तरन्यास, अर्थापत्ति विरोध आदि अलंकारों के प्रयोग में कवि पूर्णतया सफल है।

इस ग्रन्थ में छन्दोयोजना पर विस्तार से विचार किया गया है। विविध छन्दों का प्रयोग ललितविस्तर की रचना शैली को वैदिक काल की रचना शैली के निकट पहुँचा देता है।

माधुर्य, प्रसाद और ओज गुण इस काव्य की विशेषता है। अनेकों स्थानों पर इन गुणों के उदाहरण परिलक्षित होते हैं।

ललितविस्तर की भाषा मिश्रित संस्कृत (Mixed Sanskrit) है जिसे एडजर्टन ने Hybrid Sanskrit) कहा है। अनेकों सूक्तियों और सुभाषितों

के प्रयोग ने भाषा-शैली को प्रभावशाली, हृदयाह्लादक और ललित बना दिया है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि प्रस्तुत ग्रन्थ ललितविस्तर, जिसे सामान्यतः धर्म-पर्याय कहना अधिक उचित है सांस्कृतिक इतिहास की पर्याप्त सामग्री अपने में सम्भाले हुए है, दार्शनिक व्याख्या का स्वरूप इसमें नहीं है किन्तु बौद्ध-दर्शन के मूलसूत्र इसमें स्थान-स्थान पर गुँथे हुए हैं।

बुद्ध के जीवन चरित, दार्शनिक तत्त्व, सांस्कृतिक अध्ययन, साहित्यिक दृष्टि से यह अद्‌भुत रचना है।

पुस्तक-सूची

आलोच्य-ग्रंथ

ललितविस्तर	: बौद्ध-संस्कृत-ग्रन्थावली-१ सं० वैद्य, पी०एल०, मिथिला विद्यापीठ दरभङ्गा, बिहार, १९५८
ललितविस्तर	: शास्त्री, शान्तिभिक्षु उत्तर-प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, १९८४

सहायक-ग्रन्थ-सूची

अग्रवाल, डा० वासुदेवशरण	: पाणिनि कालीन भारत, वाराणसी
,, ,,	इतिहास-दर्शन, वाराणसी. १९७८
अमरसिंह	: अमरकोश, बनारस, १९५०
अवस्थी, डा० ब्रह्ममित्र	: अमनस्कयोग, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली
,, ,,	: दत्तात्रेय-योगशास्त्र, इन्दु प्रकाशन
,, ,,	: पातंजल योगशास्त्र एक अध्ययन, दिल्ली १९७८
अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता	: दरभङ्गा, १९५८
अंगनेलाल	: बौद्ध संस्कृत साहित्य में भारतीय जीवन लखनऊ, १९६८
आनन्दवर्धन	: ध्वन्यालोक (दीधितिः संस्कृतहिन्दी-टीकोपेतः) चौखम्बा, बनारस, १९५३
उद्योतकर	: न्यायवार्तिक, कलकत्ता, १९४४
उपाध्याय, बलदेव	: बौद्ध-दर्शन मीमांसा, वाराणसी, १९५४
,, ,,	: भारतीय दर्शन, चौखम्बा, दिल्ली, १९८४
उपाध्याय रामजी	: प्राचीन भारतीय संस्कृति की सांस्कृतिक भूमिका इलाहाबाद, १९७४
कठोपनिषद्	: (१०८ उपनिषदें), बरेली, १९६७

कपिल : सांख्यसूत्र
कालिदास-ग्रन्थावली : सं० डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी १९७६
काणे, पाण्डुरंग वामन : धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-१ (हिन्दी) लखनऊ, १९८०
काश्यप, भिक्षुजगदीश : मिलिन्दप्रश्न (हिन्दी) श्रावस्ती, १९७२
केदारभट्ट : वृत्तरत्नाकर (सं० विद्यानाथ शास्त्री) चौखम्बा, वाराणसी, १९८०
केशवमिश्र : तर्कभाषा (सं० डा० श्रीनिवास शास्त्री) मेरठ, १९७५
गांधी, शारदा : भारतीय दर्शन में प्रामाण्यवाद, मेरठ, १९७५
गौतम : न्यायसूत्र
चतुर्वेदी, ब्रजमोहन : महिमभट्ट, १९६८
" " : सांख्यकारिका, नई दिल्ली, १९८५
जगन्नाथ पंडितराज : रसगंगाधर, चौखम्बा, वाराणसी, १९५५
जे स्पेयर : ललितविस्तर (इंगलिश ट्रान्सलेशन) एस० बी० बी० लन्दन, १८७५
जोशी लालमणि एवं गाँधी, शारदा : धम्मपद (पंजाबी संस्करण) पटियाला, १९६९
जैन, कैलाशचन्द्र : प्राचीन भारतीय एवं सामाजिक संस्थाएँ भोपाल, १९७६
तिवारी, महेश : निदानकथा, चौखम्बा, दिल्ली, १९७०
" " : पालिपाठसंगहो भाग-२, नालन्दा, १९८०
दण्डी : काव्यादर्श (सं० रामचन्द्र मिश्र) चौखम्बा, वाराणसी, १९५८
दिनकर, रामधारीसिंह : संस्कृति के चार अध्याय, बिहार, १९७७
दीघनिकाय : नालन्दा, बिहार
धनञ्जय : दशरूपक (सं० डा० श्रीनिवास शास्त्री) मेरठ, १९६९

धम्मानन्द : अभिधम्मत्थसङ्गहो, संभूनाथ, वाराणसी, १९६४
नरेन्द्रदेव : बौद्ध-धर्म-दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना, १९७१
पतञ्जलि : योगसूत्र व्यासभाष्य (सं० ब्रह्मलीन मुनि)
पाठक : जगन्नाथ मिलिन्दप्रश्न (संस्कृतच्छाया) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
पिङ्गलनाग : छन्दःशास्त्रम् परिमल पब्लिकेशन्स, शक्तिनगर, दिल्ली, १९८१
प्रशस्तपाद : प्रशस्तपादभाष्य (सं० डा० श्रीनिवास शास्त्री) गाजियाबाद, १९८४
भरत : नाट्यशास्त्र (सं० केदारनाथ) निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४३
भगवत, एन०के० : महावंस, बम्बई, १९५९
भगवद्गीता : गीता प्रेस गोरखपुर, सं० २०२४
भारवि : किरातार्जुनीयम्
मम्मट : काव्यप्रकाश (सं० डा० श्रीनिवास शास्त्री) वि०सं० २०१७
महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक चौखम्बा, वाराणसी, सं० १९७८
मनु : मनुस्मृति
मिश्र जयशंकर : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहार, १९७४
लूनिया, बी०एन० : प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा, १९६६
वामन : काव्यालंकारसूत्र (सं० आचार्य विश्वेश्वर) दिल्ली, १९५४
वाल्मीकि : रामायण, गीताप्रेस गोरखपुर, भाग-१, २, सं० २०३३
विश्वनाथ : साहित्य दर्पण (सं० डा० सत्यव्रत सिंह) वाराणसी, १९७०
व्यास भोलाशंकर : संस्कृत कविदर्शन चौखम्बा काशी, १९५५

व्यास : महाभारत-अनुशासनपर्व

व्यास, शान्तिकुमार-नानुराम : रामायणकालीन संस्कृति, दिल्ली, १९७१

शर्मा, रामगोपाल : भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का इतिहास, जयपुर, १९७८

शर्मा, डा० श्याम : संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक, जयपुर, १९७४

शास्त्री, देवेन्द्रमुनि : जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण, उदयपुर (राज०), १९७५

शास्त्री, श्रीनिवास : वाचस्पति मिश्र द्वारा बौद्ध-दर्शन का विवेचन, कुरुक्षेत्र, १९६८

" " : वेद-प्रामाण्य-मीमांसा तथा ऋषिदयानन्द, कुरुक्षेत्र, १९८१

शास्त्री, हरिदत्त : महाकवि अश्वघोष और उसका काव्य, साहित्य निकेतन, कानपुर, १९६३

शान्तिदेव : बोधिचर्यावतार, दरभङ्गा, १९५८

शौद्धोदनि : अलंकारशेखर

सदानन्द : वेदान्तसार (सं० सन्तनारायण श्रीवास्तव) इलाहाबाद, १९६८

सांकृत्यायन, राहुल : बुद्धचर्या, महाबोधिसभा संभूनाथ, बनारस, १९५२

" : बौद्ध-धर्म-दर्शन, इलाहाबाद, १९७७

सूरि, हरिभद्र : ललितविस्तर (बम्बई वि०वि० पुस्तकालय में प्राप्त है) अहमदाबाद, १९५०

क्षेमेन्द्र : अवदानकल्पलता खण्ड १-२, (सं० पी०एल० वैद्य) मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा, १९५९

Altekar (Dr.) V.S. : Position and Status of Women in Indian Civilizations, Motilal Banarasidass, 19:6.

Beal, Samual : The Romantic Legend of Śākya Buddha from the Chinese Sanskrit, London, 1875.

Beal, Samual (Editor Max Muller) : Sacred Books of the East, Series Vol. XIX, Oxford, 1883.

Bays, Gwendolyn : The Voice of the Buddha the Beauty of Compassion, Vol. I, II. Dharma Publishing, California, 1983.

Bharatiya, Mahesh Chander ; Causation in Indian Philosophy, Ghaziabad, 1973.

Bapat, P.V. : 2500 Years of Buddhism Mehta Art Press, Delhi, 1971.

Chaitanya, Krishna-machari ; A New History of Sanskrit Literature, Asia Publishing House Bombay, 1962.

Das Gupta Surinder Nath : A History of Indian Philosophy Vol. II, Cambridge, 1968.

Dr. S.K. : A History of Sanskrit Poetics, Calcutta, 1960.

Das Gupta and Dr. S.K, : A History of Sanskrit Literature, University of Calcutta, 1962.

Foucaux, Ph. E. : Le Lalita Vistara L, Histoire du Bouddha Cākya-Mouni Depuis Sa Naissance Jusque A Sa Predication Traduit du Sanskrit en Francais. Annales du Musīc Guimet Translation Ist. Vol. Paris, 1884.
IInd Vol. Paris 1892. (Vol. 19) Notes, Varie, Index)

Faucaux, Ph. E. : Le Bouddhisme on Tibet Par En, Dr. Schlagintweit Traduit in Francais, par L De Milloue. (Annals du Musīc Guimet T III. In-4, Paris 1881)

Geiger, wilhchn : Pāli Literature and Language. Munshi Ram Manoharlal, Delhi, 1968.

Govern, William Montgomery : **An Introduction to Mahāyāna Buddhism Varanasi, 1968.**

Guruge Ananda (Editor) : **Buddhism's Contribution to the World Culture and Civilization,** Maha Bodhi Vihar New Delhi, 1977.

Joshi, L.M. (Editor) : Buddhism, Punjabi University, Patiyala, 1969.

Keith, A.B. : Buddhist Philosophy, Chowkhamba, Varanasi, 1963.

Keith, A.B. : Classical Sanskrit Literature, 1927.

Kane, P.V. : History of Sanskrit Poetics, Delhi, 1971.

Lefmann, S. : Lalita Vistara
(Chapter I—5 German Translation) Burlin, 1875.

Lifmann, S. : Lalita Vistara
Halle, Vol. I, 1902
Vol. II, 1908.

Mitra, Rajendra Lal : Lalita Vistara's
English Translation (only 15 Chapters) Bibliotheca Indica, 1881–1886.

Mitra Rajendra Lal : Lalita Vistara
Bibliotheca Indica, Calcutta, 1977.

Majumdar, R.C. : The Age of Imperial Unity (History and Culture of the Indian People) Bharatiya V. Bhawan Bombay 1960.

Majumdar, R.C. : Ancient India Motilal Banarasidass. Delhi, 1971.

Macdonell, A.A. : A History of Sanskrit Literature, Motilal Banarasidass, Delhi, 1965.

Narain, A.K. : Studies in Pāli and Buddhism, B.R. Publishing Corporation, Delhi, 1979.

Poppe, Nicholos : The Twelve Deeds of Buddha. (A Mongolian Version of the Lalita Vistara, Mongolian Text, Notes and English Translation) Asiatische Forschungen Band 23. Weisbaden, 1967.

Pande, G.C. : The Origins of Buddhism, Motilal Banarasidass. Delhi. 1974.

Pandey, Kanti Chander : Comparative Aesthetics Varanasi, 1959.

Raja, C. Kunhan : Survey of Sanskrit Literature, Bharatiya Vidya Bhavan Bombay, 1962.

Raghavan, V. : The Number of Rasas, the Adyar Library, Adyar. 1940.

Ratthapāla : Rasavāhinī (Dr. Shrimati Sharda Gandhi) Parimal Publications, Shakti Nagar, Delhi-7. 1987.

Shastri, D.N. : Critique of Indian Realism. Agra, 1964.

Stcherbatsky, Theodore : The Soul Theory of the Buddhists, Varanasi, 1970.

Stcherbatsky : Tht Central Conception of Buddhism and the Meaning of the Word 'Dharma'. Motilal Banarasidass, Delhi, 1974.

Stcherbatsky : Conception of Buddhist Nirvāṇa, Varanasi.

Sahassa Vatthuppakaraṇam : (Editor Dr. Shrimati Sharda Gandhi, University of Delhi, Department of Sanskrit), Ghaziabad, 1987.

Sarvapalli Radha Krishnan and Charles A Moore : Indian Philosophy. Princeten University Press, 1957.

Sinha, Jadunath : Indian Philosophy Vol. I, Calcutta, 1956.

Weber, Albrecht : The History of Indian Literature, Chowkhamba, Varansi, 1961.

Weller, Friedrich : Zum Lalita Vistara Leipzig, 1915.

Winternitz, Maurice : History of Indian Literature, Vol. II (Buddhism and Jainism) Motilal-Banarasidass, Delhi, 1972.

Apte, Vaman Shiv Ram : The Students Sanskrit English Dictionary, Motilal Banarasidass, Delhi, 1973.

Edgerton : Buddhist Hybrid Sanskrit Grammer and Dictionary Vol. 1-2. Motilal Banarasidass, Delhi, 1972.

Davids, Rhys, T.W. : Pāli English Dictionary the Pāli Text Society, London, 1921.

Pāṇinī : Aṣṭādhyāyī

Proceedings of all India Oriental Confirence : 28th Session, Karnatak Univeısity Dharvar, 1976, Published by BORI Poona, 1978.

Bharatiya Mahesh, : Meerut University Sanskrit Research Jourual, Meerut, 1976, 1978, 1984, 1985, 1986.

Malala Sekhar, G.P. : Dictionary of Pāli Proper Names Vol, I, II, Pāli Text Society London, 1974.

'शोध प्रभा' (A Research Jaurnal) : श्री लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली, १९८१, १९८२-१९८४।

'संस्कृत-विमर्श : राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, २-ए, रामकिशोर मार्ग, सिविललाइन्स दिल्ली-५४, १९८५

सरस्वती दयानन्द : सत्यार्थ-प्रकाश, अजमेर, १९६६।

सरस, श्री चन्दसुराना (प्रधान सम्पादक) : आचार्य प्रवर श्री आनन्द ऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ, पूना, १९७५

William, M., Monier, : Sanskrit-English Dictionary, Oxford, 1899.

Dr. Shrimati Sharda Gandhi : Zum Lalita Vistara (Dissertation) Leipzig, 1915.